UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182767
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—43—30-1-71—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H801.9 S94S Accession No. H226A

Author शुक्ल, गिरिजादत्त शिशिर

Title समीक्षक पवर श्रीराघवेन्द्र

This book should be returned on or before the date last marked below.

शुक्ल 1955

समीक्षक-प्रवर

श्रीरामचंद्र शुक्ल



प्रकाशक—
रामनारायणलाल, प्रयाग

मूल्य ५)
प्रथम संस्करण—अक्टूबर, ५५

मुद्रक—
भागव प्रेस, प्रयाग।

वि ष य सू ची

अध्याय	शीर्षक		
	प्रा र म्भि क		
१	—शुक्ल जी का साहित्यिक व्यक्तित्व	....	१
	र च ना त्म क पार्श्व		
२	—काव्य-रचना—१	....	१५
३	— ” ” —२	....	२५
४	—योरप में निबन्ध का जन्म और विकास	....	३४
५	—हिन्दी में निबन्ध और प्रबन्ध	....	४२
६	—शुक्ल जी की निबन्ध-कल्पना	....	५१
७	—चिन्तामणि के रचनात्मक निबन्ध	....	५८
	वि वे च ना त्म क पार्श्व		
८	—शुक्ल जी के विवेचनात्मक पार्श्व की पृष्ठभूमि—१	....	७१
९	— ” ” ” ” —२	....	८२
१०	— ” ” ” ” —३	....	९१
११	—शुक्ल जी के विचारात्मक निबन्ध	....	९६
१२	—शुक्ल जी—सामालोचक के रूप में	....	१०४
१३	—शुक्ल जी सामाजिक साहित्य-समीक्षक के रूप में	....	११०

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
१४—	शुक्ल जी विविध समीक्षकों की दृष्टि में	११७
१५—	शुक्ल जी की समीक्षा का मूल सिद्धान्त—भावयोग	१२६
१६—	शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—१ परोक्ष स ६ का सगुण स्वरूप (क)	१३६
१७—	" " (ख)	१४८
१८—	शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—२	१५८
	रागात्मिका वृत्ति	
१६—	शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—३	
	प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी आग्रह (क)	१६४
२०—	प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी आग्रह (ख)	१७१
२१—	शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—४	१८१
	लोकधर्म	
२२—	शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—५ रस-मत (क)	१६२
२३—	" (ख)	२०४
२४—	" (ग)	२१५
२५—	शुक्ल जी का वाद-विवेचन—१	२२५
	अभिव्यंजनावाद	
२६—	शुक्ल जी का वाद-विवेचन—२	२३७
	छायावाद और रहस्यवाद	

अध्याय	शीर्षक		पृष्ठ
२७—शुक्ल जी का वाद-विवेचन—३		....	२५४
	कल्पनावाद आदि		
२८—शुक्ल जी का वाद-विवेचन—४		....	६३२
	यथार्थवाद		
२९—शुक्ल जी का वाद-विवेचन—५		....	२७१
	प्रगतिवाद		
३०—शुक्ल जी का वाद-विवेचन—६		....	२८३
	भारतीय विविधवाद		
३१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—१		....	२९१
	प्रयोजन और काल-विभाजन		
३२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—२		....	३०५
	विवरण-व्यवस्थापन		
३३—हिन्दी साहित्य का इतिहास—३		....	३१७
	अध्ययन-शैली, संदेश आदि		
३४—शुक्ल जी की व्यावहारिक समीक्षा—		....	३२३
	{ सूर, जायसी और तुलसी की मान्यताएँ		
३५—शुक्ल जी की व्यावहारिक समीक्षा—२		....	३३६

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
	निष्कर्षों का औचित्य	
३६	शुक्ल जी की व्यावहारिक समीक्षा—३	३५३
	कलात्मक आलोचना के उपकरण	
३७	शुक्ल जी की शैली	३६०
३८	शुक्ल जी के समीक्षा-साहित्य का संदेश	३६६

लेखक के दो शब्द

समीक्षक-प्रवर श्रीरामचन्द्र शुक्ल की कृतियों का जितना ही अनासक्त अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा, उतना ही हिन्दी-साहित्य-जगत् का कल्याण होगा, इसी विश्वास से प्रेरित होकर मैं अपना यह नम्र प्रयत्न हिन्दी के विद्वानों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूँ। मैंने शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व की व्याख्या करने की चेष्टा की है और प्रसंगवश हिन्दी के वर्त्तमान कालीन श्रेष्ठ समालोचकों के मतों से भिन्न मत के प्रतिपादन का साहस भी किया है। मेरी सदैव यह धारणा रही है कि आत्मनिष्ठापूर्वक पारस्परिक मतभेद की अनिवार्यता को स्वीकार करके भी हम उदारता, सुजनता और करुणा से रिक्त न हों, तभी साहित्य-सेवा के क्षेत्र में हम प्रगतिशील हो सकेंगे। यह संभव है कि जितनी अनासक्ति की मैं कल्पना करता हूँ, उतनी मेरे विवेचन के भीतर न आ सकी हो; यदि ऐसा है तो यह परिस्थिति और किसी के लिए नहीं, स्वयं मेरे लिए अत्यन्त अधिक निराशा, ग्लानि और वेदना का कारण होगी। मेरी इस असफलता की अवस्था में मेरी त्रुटियों को सँभाल कर, मेरे प्रमाद की ओर से आँखें मूँदकर, मेरे प्रति अनुचित भ्रान्ति से विचलित न होकर, आशा है, मेरे साहित्यबन्धु न केवल मुझे उबार लेंगे, वरन अपनी सच्ची महत्ता को भी अक्षुण्ण बनाये रखेंगे।

'गुप्त जी की काव्य-धारा' के अनन्तर अनेक वर्षों की लम्बी अवधि को पार कर मैं यह आलोचनात्मक प्रबन्ध हिन्दी साहित्य-प्रेमियों को भेंट कर रहा हूँ; अन्य साहित्यिक प्रयासों ने, जिन्हें मैं अपने जीवन का अधिक महत्वपूर्ण कार्य मानता रहा हूँ, मुझे अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचना-कार्य मेरे हृदय का प्रधान अनुराग नहीं है; फिर भी मैं यह आश्वासन दे सकता हूँ कि भविष्य में इस क्षेत्र में भी इतना दीर्घकालीन व्यवधान न उपस्थित होने पावेगा। 'प्रेमचन्द' जी के सम्बन्ध में एक आलोचनात्मक प्रबन्ध यथा-सम्भव शीघ्र ही पाठकों की सेवा में उपस्थित होगा।

इस ग्रन्थ के लिखे जाने और प्रकाशित होने का समस्त श्रेय रामनारायण लाल प्रकाशन संस्था के साहित्य-विभाग के अध्यक्ष श्रीप्रह्लाददास एम० ए० को है। उनका सहयोग प्राप्त होने से ही मैं यह कार्य सम्पन्न कर सका हूँ।

उनके सहृदय, मुद्रण-विभाग के अध्यक्ष श्री नरोत्तम एम० ए० ने इस पुस्तक के मुद्रण-सम्बन्धी कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए जो उत्साह प्रगट किया, उसकी भी सराहना आवश्यक है। इन दोनों ही सज्जनों के प्रति आभार प्रगट करना मेरा कर्त्तव्य है।

इस ग्रंथ की रचना-कालीन अवधि में मेरे आत्मज श्री विजयकुमार शुक्ल बी० ए० ने समय-समय पर जो सत्परामर्श दिये, उनका भी मैंने उपयोग किया है। उन्हें धन्यवाद न देकर इस क्षेत्र में प्रगति करने के लिए आशीर्वाद देना ही मेरे लिए अधिक उचित और उपयुक्त होगा।

दारागंज, प्रयाग
विजयदशमी
२६-१०-५५.

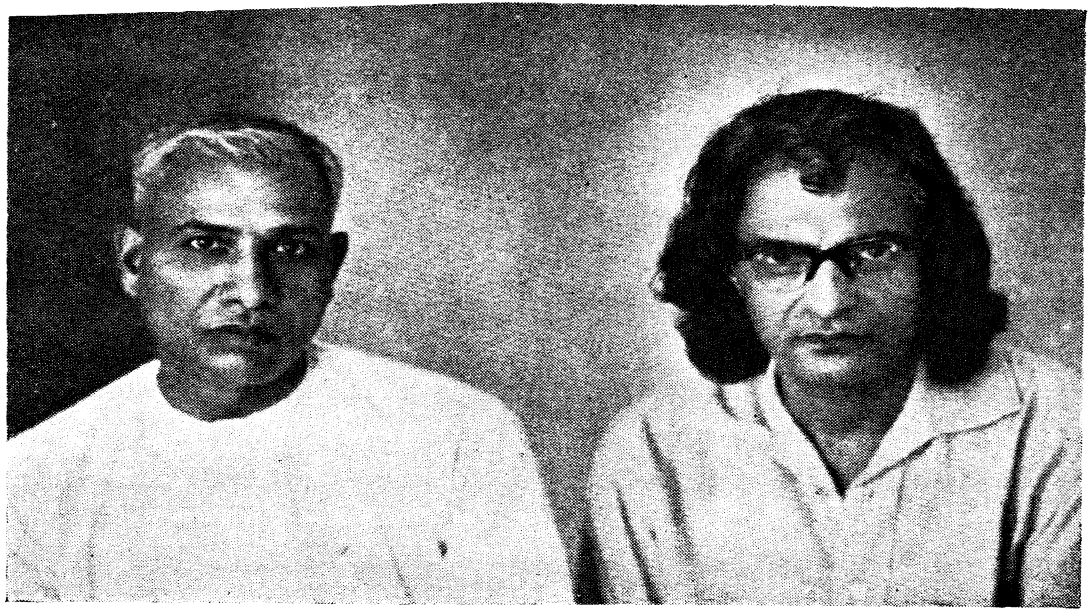
—गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

उनके पितृव्य, मुद्रण-विभाग के अध्यक्ष श्री नरोत्तम एम० ए० ने इस पुस्तक के मुद्रण-सम्बन्धी कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए जो उत्साह प्रगट किया, उसकी भी सराहना आवश्यक है। इन दोनों ही सज्जनों के प्रति आभार प्रगट करना मेरा कर्त्तव्य है।

इस ग्रंथ की रचना-कालीन अवधि में मेरे आत्मज श्री विजयकुमार शुक्ल बी० ए० ने समय-समय पर जो सत्परामर्श दिये, उनका भी मैंने उपयोग किया है। उन्हें धन्यवाद न देकर इस क्षेत्र में प्रगति करने के लिए आशीर्वाद देना ही मेरे लिए अधिक उचित और उपयुक्त होगा।

दारागंज, प्रयाग
विजयदशमी
२६-१०-५५.

—गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'



श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

श्री सुमित्रानन्दन पंत

श्री सुमित्रानन्दन पंत को

अध्याय १

शुक्ल जी का साहित्यिक व्यक्तित्व

समालोचक-सम्राट् स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा करने का अवसर कभी मुझे प्राप्त होगा, इसकी मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। किन्तु संसार में सभी बातें सम्भव हैं, मानों इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए मेरे सामने यह सुनहला संयोग भी प्रस्तुत हो रहा है। समय-देव को प्रणाम कर के आज मैं इस कार्य की पूर्ति के लिए लेखनी-संचालन कर रहा हूं।

शुक्ल जी से मेरा परिचय

शुक्ल जी के प्रथम दर्शन मुझे जौनपुर के हिंदी-प्रेमियों द्वारा आयोजित एक कवि-सम्मेलन में हुए थे, जिसके सभापति स्वर्गीय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' थे। शुक्ल जी के कविता-पाठ के अवसर पर 'हरिऔध' जी ने उनका जो परिचय दिया था, उसमें उन्हें प्रथम श्रेणी का निबन्धकार और समालोचक तो बताया ही था, प्रथम श्रेणी का कवि भी घोषित किया था। जहां तक मुझे स्मरण है, शुक्ल जी की कविता हरिऔध जी की प्रशंसा के अनुरूप ही थी। मुझे याद है, कवि-सम्मेलन के समाप्त होने पर शुक्ल जी ने मुझसे एक प्रश्न किया था—'क्या आप भी छायावादी कवि हैं?' मैंने स्पष्ट उत्तर दिया था—'नहीं'। उन्होंने यह प्रश्न क्यों किया और मेरे उत्तर का उन पर क्या प्रभाव पड़ा, यह मैं उस समय समझ नहीं पाया।

कई वर्षों के बाद एक मित्र के साथ काशी में शुक्ल जी से मिलने का संयोग प्राप्त हुआ। जौनपुर के कवि-सम्मेलनवाला क्षणिक परिचय तब तक अपनी शक्ति को खो चुका था, शुक्ल जी ने मेरे सम्बन्ध में जिज्ञासा की। मेरे मित्र ने मेरा परिचय दिया। मैंने आशा की कि मैं हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक के परिचितों की श्रेणी में आ गया; मुझे यह विश्वास हो गया कि इस बार न सही, भविष्य में मिलने पर शुक्ल जी मुझे पहचान लिया करेंगे।

किन्तु इस सम्बन्ध में मुझे निराश ही होना था। कई वर्षों के बाद जब मैं उनसे फिर मिला तो फिर वही समस्या उपस्थित हुई। संयोग से उस

समय कोई अन्य सज्जन मेरे साथ न थे और मुझे स्वयं ही अपने सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी देनी पड़ी थी। इस बार किसी प्रकार की आशा अथवा विश्वास को मैंने हृदय में स्थान नहीं दिया। मैंने शुक्ल जी की अध्ययन-शीलता और विचार-मग्नता की बात सुनी थी। इस कारण इस घटना से भी शुक्ल जी के प्रति मेरी सहानुभूति ही बढ़ी।

फिर कई वर्षों के बाद एक बार हिन्दू विश्वविद्यालय में उनके दर्शन हुए। मैं स्वर्गीय हरिऔध जी के साथ था। स्वयं अपना परिचय न देकर तथा हरिऔध जी को परिचय कराने की परिस्थिति में न डाल कर मैं इस प्रश्न के साथ शुक्ल जी की ओर बढ़ा...'आपने मुझे पहचाना या नहीं?' शुक्ल जी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु उनका मौन रह जाना तथा अन्य बातें आरम्भ कर देना मेरे लिए सौ उत्तरों के बराबर हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे मुझे प्रसन्नता हुई थी।

इसके अनन्तर एक बार सन् १९३८ में मैं अपने समालोचना-विषयक पत्र 'प्रेमपत्र' पर सम्मति प्राप्त करने के उद्देश्य से मिला। मुझे थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करने के लिए कह कर वे अपने लिखने के स्थान में चले गये और बीस-पच्चीस मिनटों के भीतर लिखकर सम्मति के साथ लौटे। इस समय लगभग दस मिनट तक मेरी उनकी कुछ बातचीत भी हुई थी, जिसमें तत्कालीन समालोचना की प्रवृत्तियों की भी कुछ चर्चा चली थी। खेद है, मेरी और उनकी यह भेंट अन्तिम हो गयी।

जन्म और शिक्षा

शुक्ल जी का जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में पं० चन्द्रबली शुक्ल के यहां सं० १९४१ में आश्विन की पूर्णिमा, तदनुसार सन् १८८४ ई० में ४ अक्टूबर को हुआ। सं० १९४५ में हमीरपुर जिले की राठ तहसील के हिन्दी स्कूल में शिक्षा के उद्देश्य से उनका नाम लिखाया गया। उनके पिता पं० चन्द्रबली शुक्ल वहां सुपरवाइज़र कानूनगो के पद पर थे, इसी सिलसिले से उन्होंने वहां चार वर्ष तक पढ़ा। सं० १९४९ में पिता की बदली सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर को हो गयी और उसके परिणामस्वरूप, वहां के लंदन मिशन स्कूल में वे भरती किये गये। सं० १९५८ में इसी स्कूल से वे स्कूल फाइनल की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। आगे की शिक्षा के लिए वे प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में भरती हुए, किन्तु तत्कालीन पाठ्यक्रम में गणित विषय की अनिवार्यता के कारण, वे चल न सके; बात यह थी कि अन्य समस्त विषयों में उत्तमोत्तम होने पर भी वे उक्त विषय में दुर्बल थे और उससे बहुत घबड़ाते थे। उन दिनों एल० एल० बी० के साथ ही साथ

साधारण वकालत की एक और परीक्षा होती थी, जिसमें उत्तीर्ण होनेवाले 'प्लीडर' की उपाधि प्राप्त करते थे। शुक्ल जी बी०ए० न होने के कारण एल० एल० बी० तो कर नहीं सकते थे, लाचार होकर उन्होंने प्लीडरी की परीक्षा दी, किन्तु उसमें वे सफल नहीं हो सके।

संक्षिप्त जीवन-वृत्त

इस प्रकार पढ़ना छूट जाने पर शुक्ल जी नौकरी की ओर झुके। मिर्जापुर के तत्कालीन कलेक्टर मिस्टर विंढम की अनुकूलता से उन्हें कलेक्टरी में एक साधारण नौकरी मिल गयी, साथ ही नायब तहसीलदारी के पद पर उनका नामांकन भी सम्पन्न हो गया। इस पद पर पहुँचकर, अपनी अपूर्व प्रतिभा और योग्यता के कारण, अवकाश-ग्रहण करने का समय उपस्थित होने पर वे प्रथम श्रेणी के डिप्टी कलेक्टर तो हो ही सकते थे। किन्तु आत्म-सम्मान का एक अत्यन्त साधारण प्रश्न उपस्थित होने पर,—उन्हें रविवार को भी दफ्तर में काम करने के लिए आने का आदेश दिया गया था—उन्होंने मिस्टर विंढम की नाराजी की कोई परवाह न कर के त्यागपत्र दे दिया।

अनेक वर्षों तक अव्यवस्थित रहने के बाद सं० १९६५ में शुक्ल जी ने मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टरी की एक नौकरी स्वीकार कर ली। हिंदी साहित्य-रसिकों को यह जान कर कौतूहल होगा कि हिन्दी साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में अनुपम प्रकाश देनेवाला व्यक्ति अनेक वर्षों तक स्कूल के छोटे लड़कों को 'ड्राइंग' की कला सिखलाया करता था।

शुक्ल जी के परम सहायक मित्रों में पं० केदारनाथ पाठक का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इन्हीं के उद्योग से वे विद्यार्थी-जीवन में उर्दू के विद्यार्थी होते हुए भी हिंदी की ओर झुके। इन्हीं के प्रयत्न से मिर्जापुर के संकीर्ण वातावरण से मुक्त होकर, 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादन के सिलसिले में वे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में पधारे। पाठक जी शुक्ल जी के लिए कितने उपयोगी थे, इसका अनुमान निम्नलिखित पंक्तियों से किया जा सकता है, जो शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की भूमिका में लिखी हैं :—

"आधुनिक काल के प्रारम्भिक प्रकरण लिखते समय जिस कठिनता का सामना करना पड़ा, उसमें मेरे बड़े पुराने मित्र पं० केदारनाथ पाठक ही काम आये। पर न आज तक मैंने उन्हें किसी बात के लिए धन्यवाद दिया है, न अब देने की हिम्मत कर सकता हूँ। धन्यवाद को वे आज कल की एक बदमाशी समझते हैं।"

काशी में शुक्ल जी को उपयुक्त कार्यक्षेत्र मिला। शब्दसागर का सम्पादन करने के अतिरिक्त यहीं उन्होंने 'तुलसी-ग्रंथावली', 'जायसी-ग्रन्थावली',

'हिंदी साहित्य का इतिहास' आदि ग्रंथों का निर्माण किया। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का सम्पादन भी उन्होंने कुछ समय तक किया। कोश का कार्य पूर्ण हो जाने के अनन्तर हिन्दू विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उन्हें अपने हिन्दी-विभाग के लिए बुला लिया। वहां बाबू श्यामसुन्दर दास अध्यक्ष-पद पर थे। वे सं० १९९४ में पृथक् हो गये और रिक्त स्थान की पूर्त्ति शुक्ल जी ने की। बड़े परिताप की बात है कि इस पद पर केवल तीन वर्ष तक रह कर छप्पन वर्ष की स्वल्प आयु में दमे के रोग से आक्रान्त होकर, वे चल बसे; सं० १९९७ की माघ सुदी षष्ठी, तदनुसार २ फरवरी, १९४१ रविवार, की वह कालनिशा थी, जिसमें हिन्दी-साहित्य के इस सजग प्रहरी के हृदय की धड़कन सदा के लिए बन्द हो गयी। जिसने इस समाचार को सुना वहीं कलेजा थाम कर रह गया। आज शुक्ल जी के निधन को लगभग तेरह वर्ष हो रहे हैं, किन्तु उनके अभाव से जो स्थान रिक्त हो गया है वह ज्यों का त्यों रिक्त ही पड़ा है; उसकी पूर्ति निकट भविष्य में हो सकेगी, ऐसी आशा भी नहीं है।

साधारण रूपरेखा

पुस्तकों में शुक्ल जी के जो फोटो प्रकाशित हुए हैं उनमें वे कालर और नेकटाई पहने हुए दिखायी पड़ते हैं। साँवला रंग, भव्य भाल, आँखों पर चश्मे, मूछें लम्बाई में कटी-छँटी किन्तु चौड़ाई में आवश्यकता से अधिक ऊपर के ओठ को घेर लेने वाली; कोट पैंट आदि विदेशी वेषभूषा—यही पं० रामचन्द्र शुक्ल का बाह्य दर्शन है। उनके जीवन काल के अन्तिम बीस वर्षों के भीतर देश में कितने ही आन्दोलन आये और गये, गाँधी टोपी, जवाहर जैकेट, खद्दर का कुर्ता भी फैला, किन्तु शुक्ल जी के वस्त्र-विन्यास पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं आ पाया। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें विदेशी पोशाक के पक्ष में कोई विशेष आग्रह था; नहीं, ऐसी कोई बात नहीं थी। इसका रहस्य केवल यह था कि यह संस्कार उन्होंने अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में पाया था और अधिक कालीन हो जाने के कारण किसी प्रबल आघात के अभाव में अन्त तक बना रह गया था।*

सच बात यह है कि शुक्ल जी की बाहरी रूपरेखा के आधार पर उनके व्यक्तित्व का ठीक ठीक अनुमान कर सकना सम्भव नहीं है। यह कहा जा चुका है कि मिर्जापुर के कलेक्टर मिस्टर विंढम ने उनका नामांकन नायब तहसीलदारी के पद के लिए कर दिया था; अन्ततोगत्वा वह रुक क्यों गया?

* यह लिखे जाने के बाद एक चित्र धोती और कुत्ते की वेषभूषा के साथ भी देखने में आया। ले०।

वास्तव में शुक्ल जी अपने उस अल्प वय में देश की समस्याओं के सम्बन्ध में अपने निजी विचार रखने लगे थे और 'What has India to do'? 'भारत को क्या करना है?' शीर्षक एक लेख 'इंडियन रिव्यू' नामक मासिक पत्र में छपा कर उन्होंने मिस्टर विंढम को ऐसा चौंकाया कि वे इन्हें 'क्रान्तिकारी' समझ बैठे। 'क्रान्तिकारी' को नायब तहसीलदारी कैसे मिल सकती थी? अस्तु यहां इस प्रसंग की चर्चा करने का उद्देश्य यह है कि शुक्ल जी के जीवन में वास्तविक महत्व की बात उनके आन्तरिक व्यक्तित्व की तैयारी का है, न कि बाहरी आडम्बर के त्याग और ग्रहण का। भारत ही के नहीं, संसार के आधुनिक कालीन राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक आन्दोलनों की यथा-आवश्यक जानकारी रखने पर भी उन्होंने अपने आप को प्रत्येक प्रकार के संगठन, सभा और संघ से अलग रखा। ऐसा करने से जहां एक ओर आन्तरिक विकास-गति को तीव्रता प्राप्त हुई, वहां दूसरी ओर बाह्य रूपरेखा प्रायः जहां की तहां पड़ी रह गयी; उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव ही उन्हें नहीं हुआ।

शुक्ल जी का बाहरी रहन-सहन, मुखमुद्रा, बातचीत के साधारण प्रवाह आदि से उनके आन्तरिक मर्म को थाह लेने का प्रयत्न करनेवाले प्रायः धोखा खा जाते थे। उनमें से कितने ही उन्हें दार्शनिक मात्र मान कर संतोष कर लिया करते थे। किन्तु जिन्होंने उनके साहित्य में परिचय प्राप्त किया है, वे जानते हैं कि शुक्ल जी दार्शनिकता से सम्पन्न उच्च कोटि के एक साहित्यकार थे। उनसे मिलनेवालों और मिलने के लिए लालायित रहनेवालों की संख्या बहुत बड़ी थी, किन्तु उनके व्यक्तित्व की दुर्लभ विशेषताओं को समझने और उनसे पूरा लाभ उठा लेने की क्षमता रखनेवाले विरले ही होते थे।

शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के सर्वोत्तम इतिहास के लेखक थे। उसमें स्थान पा जाना प्रतिष्ठित लेखक होने का मानों एक प्रमाणपत्र प्राप्त करना था। इस दृष्टि से भी प्रायः लोग उनसे मिला करते थे। किन्तु शुक्ल जी तो व्यक्तियों का मूल्यांकन उनकी कृतियों के माध्यम से करने के अभ्यासी थे। इतिहास में यदि मिलनेवालों ही की प्रशंसा होती तो उसकी इतनी धूम ही क्यों मचती? उचित से अधिक प्रभावित करने तथा लाभ उठा लेने की आशा से मिलनेवाले किसी किसी निराश सज्जन से मैंने सुना है, 'अजी, शुक्ल जी से मिलने से कोई विशेष लाभ नहीं होता।'

बादाम का छिलका बड़ा कड़ा होता है, किन्तु यदि उसे तोड़ने का कोई परिश्रम कर ले तो उसका गूदा कितना पोषक और स्वास्थ्यवर्द्धक होता है! शुक्ल जी का व्यक्तित्व इसी प्रकार का था। उसने गंभीरता का एक

प्रायः दुर्भेद्य आवरण ओढ़ रखा था; पारिवारिक परिस्थितियों ने तो इसके स्वरूप-निर्माण में योगदान किया ही था, साथ ही अन्य अनेक उपादानों द्वारा भी उसके अवयवों का संगठन हुआ था, जिनमें विशेष महत्वपूर्ण था जीवन के प्रति उनका त्यागमय, संतोषमय, अनासक्तिमय दृष्टिकोण, जिसके कारण उनके सामने यह आवश्यकता ही नहीं प्रस्तुत होती थी कि वे अधिकाधिक लोगों के सम्पर्क में आने के लिए व्यग्र अथवा उत्कंठित रहें। सूक्ष्म मनोविज्ञानवेत्ता होने के कारण वे वर्त्तमान युग की आदान-प्रदान की प्रवृत्तियों को अच्छी तरह पहचानते थे और सदैव उनसे बचकर रहते थे। ऐसी अवस्था में बहुत बड़ी प्रतीक्षा, बहुत बड़ी साधना, बहुत बड़ी पात्रता ही किसी को उनके व्यक्तित्व के अत्यन्त समीप पहुँचाकर उसके प्रकृत स्वरूप की झाँकी दिला सकती थी—वह प्रकृत स्वरूप जिसमें साहित्य के माध्यम से मानव-जीवन को ऊँचा उठाने वाली सरस, रचनात्मक तथा प्रेम और सेवा-भावनामयी उमंग सर्वोपरि विद्यमान थी।

साहित्यिक व्यक्तित्व

शुक्ल जी का साहित्यिक व्यक्तित्व अनेक विशेषताओं से मंडित था, जिनमें सर्वप्रधान विशेषता यह थी कि वे साहित्य को परम सत्य के योग के लिए, साक्षात्कार के लिए एक उत्तम साधन के रूप में ग्रहण करते थे। वे काव्य का अत्यन्त उच्च उद्देश्य स्वीकार करते थे और इसी कारण उसकी रचना तथा व्याख्या और परीक्षा को भी बहुत पवित्र कार्य मानते थे। यह साधना का मार्ग था, जिसे उन्होंने, अपने किशोर वय में, जब वे बाहर के लोगों के द्वारा ही नहीं, घर के लोगों द्वारा भी विपथगामी समझे जा रहे थे, अपनाया। भावयोग के उच्च स्तर को पहुँचने वाले काव्यरचना-सम्बन्धी आदर्श को सामने रखकर कार्य करने में युवक शुक्ल जी को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। गोस्वामी तुलसीदास ने काव्यरचना का आदर्श स्थिर करते हुए कहा है :

"भगत हेतु विधि भवन विहाई।
सुमिरत शारद आवत धाई।
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।
रामचरित सर बिनु अन्हवाये
सो श्रम जाइ न कोटि उपाये।
× × × ×
इहाँ न विषय कथा रस नाना।"

तुलसीदास जी के इस आदर्श को अपने जीवन में ढाल कर वास्तव में शुक्ल जी एक बहुत बड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उनकी सफलता यहीं तक सीमित होती तो भी कम न थी; क्योंकि उक्त आदर्श के सेवन से उन्हें जिस आत्मसंतोष की प्राप्ति हुई उसके अतिरिक्त एक बड़ी बात यह हुई कि वर्त्तमान युग के कवियों को उच्च उद्देश्यों से प्रभावित होकर ही काव्यरचना में प्रविष्ट होने के लिए प्रेरणा भी मिली। किन्तु इससे भी अधिक कठोर परीक्षा तो वह थी जिसका सम्बन्ध काव्य की व्याख्या और परीक्षा के लिए आवश्यक तैयारी से था।

इस सम्बन्ध में तुलसीदास जी की निम्नलिखित पंक्तियों से उन्हें प्रकाश मिला :

"निज कबित्त केहि लाग न नीका।
सरस होउ अथवा अति फीका।
जे पर भणिति सुनतह रखाहीं।
ते नरवर थोरे जग माहीं।
जग बहु नर सर सरि सम भाई।
जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई।
सज्जन सकृत सिंधु सम कोई।
देखि पूर विधु बाढ़इ जोई।"

यहां तुलसीदास जी का स्पष्ट कथन है कि अपनी कविता को तो सभी स्नेहार्द्र दृष्टि से देखते हैं; वास्तव में महत्व उन व्यक्तियों का है जो औरों की कविता सुन कर प्रसन्न होते हैं। तुलसीदास जी प्रथम श्रेणी के व्यक्ति को 'नर' मात्र तथा द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति को 'सज्जन' बता रहे हैं, प्रथम श्रेणी के व्यक्ति को केवल 'सर' 'सरि' तथा द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति को 'सिन्धु' का पद दे रहे हैं। शुक्ल जी 'नरत्व' मात्र के अभिलाषी न रह कर 'नरवरत्व' और 'सज्जनत्व' के प्रयासी भी हुए, 'सर' 'सरि' की सीमा से सन्तुष्ट न रह कर 'सिन्धु' की असीमता के आकांक्षी भी बने। इस प्रकार उन्होंने अपने कंधों पर बेहद भार बढ़ा लिया।

'पर भणित' सुन कर प्रसन्न होने का अभ्यास एवं साधन यदि दस-बीस व्यक्तियों की मंडली के भीतर किया जाता तो कोई हर्ज नहीं था; उर्दू के मशायरों जैसी जमात में 'पर भणित' पर जिस प्रकार हर्षोद्गार प्रगट किये जाते हैं, उस प्रकार उल्लास की अभिव्यक्ति ही तक परिमित रहना यदि शुक्ल जी का लक्ष्य होता तो भी शुक्ल जी के सिर पर कोई बोझा न आता। किन्तु उन्होंने तो हिन्दी साहित्य के आरम्भ-

साहित्यिक व्यक्तित्व की दो प्रवृत्तियाँ—रचनात्मक और विवेचनात्मक

काल से लेकर वर्त्तमान काल तक के रचनाकारों के 'भणित' को सुन कर हर्षित होने का बीड़ा उठा लिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी ने यह कार्य अपने अन्तःकरण की प्रेरणा ही से किया। इस प्रकार रामचरित-मानस के सतत सम्पर्क के कारण (१) रचनाकार; (२) विवेचनाकार—शुक्ल जी के ये दो स्वरूप मिर्जापुर में उनके युवाकाल में उद्घाटित हुए। इन दोनों रूपों में से किसी एक का सर्वथा ह्रास अथवा लोप उनके जीवन के अन्त तक नहीं हुआ। फिर भी यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि शुक्ल जी में रचना और विवेचना अथवा समीक्षा की प्रवृत्तियों का घट-बढ़ निरन्तर जारी रहा।

आगे बढ़ने के पहले एक अन्य महत्वपूर्ण बात की ओर मैं पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। मैंने अभी कहा है कि शुक्ल जी ने 'पर भणित' को सुन कर हर्षित होने का क्षेत्र, अपनी अन्तरात्मा के आदेश से ही, बहुत अधिक विस्तृत कर दिया। अन्तरात्मा के इस आग्रह का रहस्य क्या था? वास्तव में लोकसंग्रह की भावना शुक्ल जी की प्रकृति और अन्त-र्वृत्ति ही में निहित थी, जिसे रामचरितमानस के अध्ययन ने—वह अध्ययन प्रारम्भ में कितना ही कच्चा क्यों न रहा हो—पुष्ट किया। समाज की सेवा ही के लिए भगवान के अवतार ग्रहण करने की कथा से परिचित होने पर यदि शुक्ल जी के युवाकालीन हृदय में ये प्रश्न उठे हों तो क्या आश्चर्य? —मैं समाज की सेवा किस प्रकार कर सकता हूँ? समाज के किस क्षेत्र की कमी का मेरे उद्योग, मेरे त्यागमय परिश्रम के द्वारा निराकरण हो सकता है? नायब तहसीलदारी को समीप आती देख कर उसे वे ठोकर मार चुके थे और स्वभावतः उनका कल्पनाशील मस्तिष्क, सरकारी नौकरी की सम्भा-वनाओं के समाप्त हो जाने पर, उक्त प्रश्नों के उत्तर की खोज में लग कर भावी जीवन की रूपरेखा निश्चित करने के लिए अधीर हो रहा था। वास्तव में इस परिस्थिति की यथार्थता के सम्बन्ध में आश्चर्य और द्विविधा में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

शुक्ल जी के पिता पं० चन्द्रबली शुक्ल पर शुक्ल जी की विमाता का प्रभाव बहुत अधिक था। विमाता में उदारता की कमी थी, इस कारण शुक्ल जी को अपने संक्षिप्त अध्ययन-काल में भी स्वावलम्बी होना पड़ा। पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के 'आनन्दकादंबिनी' नामक मासिक पत्र में कुछ समय तक वे इसी उद्देश्य से कार्य कर चुके थे। संयोग से 'आनंद-कादम्बिनी' ही वह पत्र है जिसने हिन्दी में समालोचना का सूत्रपात किया। उनके गंभीर व्यक्तित्व ने, उचित अवसर उपस्थित होने पर, शीघ्र ही इसी

हिन्दी समालोचना को एक दृढ़ आधार पर स्थापित करने का कार्य हाथ में ले लेने तथा इसी रूप में अपनी प्रकृति-दत्त शक्तियों का सर्वोत्तम उपयोग समाज को प्रदान करके उसकी सेवा की दुर्दमनीय कामना-पूर्त्ति होने में अपने विकास का दर्शन किया। शुक्ल जी जिस तत्परता, आत्मनिर्भरता और अनासक्ति-भावना के साथ साहित्य के विवादग्रस्त विषयों के सम्बन्ध में उपयुक्त समय पर अपने वक्तव्य लेकर उपस्थित होते रहते थे, उससे यह भावना दृढ़ होती थी कि हिन्दी साहित्य के अंधकार-मग्न स्थलों में प्रकाश पहुँचाने का शायद उन्होंने संकल्प कर लिया है। जो हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत अधिक गहराई तक धँस कर विचार और मनन करने के अनंतर वे एक निश्चित विचारधारा पर अटल हो गये थे और उसी का जीवन की अन्तिम श्वास तक प्रचार करते रहे। शुक्ल जी ने समालोचनात्मक ग्रन्थ-रचना-सम्बन्धी कामों को एक बार नागरीप्रचारिणी सभा का 'फरमायशी काम' बताया था; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे काम उनके मनोनुकूल नहीं थे। मनोनुकूल ही नहीं, ये काम जीवनोद्देश्य के इतने पूर्तिकारक थे कि यदि इनको सम्पन्न करने के लिए उन्हें 'फरमाइश' न मिलती तो वे अपने हृदय में एक ऐसे अभाव और अशान्ति का अनुभव करते जिसका समाधान रचनाओं के द्वारा कदापि सम्भव नहीं था।

हिन्दी साहित्य के प्रेमी इस बात से अच्छी तरह अवगत हैं कि हिंदी साहित्य-जगत में शुक्ल जी की कीर्ति का प्रसार बहुत विलम्ब से हुआ। इसका प्रधान कारण यही है कि रचना और विवेचना—दोनों ही के लिए उन्होंने जो उक्त आदर्श निश्चित किये उनके अनुसार आचरण करना बड़ा कठिन था तथा उन्हें हृदयंगम करने के लिए कठोर साधना की आवश्यकता थी, जिसने एक ओर तो उनके हृदय को एकान्तसेवी, अधिकाधिक प्रकृति-प्रेमी तथा सूक्ष्म सद्भाव-विभव-सम्पन्न बनाया, दूसरी ओर स्वीकृत कार्य को सफलतापूर्वक सम्पादित करने की लक्ष्यसिद्धि के लिए अखंड अध्ययन की गहरी समाधि में निमग्न कर दिया। इसी साधना से उन्हें कविता के सच्चे स्वरूप की झलक मिली तथा यह भी दिखाई पड़ा कि नवजात हिन्दी समालोचना के किन दिशाओं में अग्रसर होने की आशंका है और किन दिशाओं में प्रगतिशील होने से जनकल्याण की अधिक सम्भावना है। मिर्जापुर में ड्राइंग मास्टर के साधारण पद पर रह कर वे इसी असाधारण तैयारी में लगे रहे।

मैं शुक्ल जी की रचनात्मक और विवेचनात्मक प्रवृत्तियों की ह्रास-वृद्धि की चर्चा कर रहा था। जब तक उनका निवास मिर्जापुर में रहा वे

'फरमाइशी' कामों से बचे रहे और अधिकांश में उनकी प्रवृत्ति रचनात्मक रही। उस अवधि के भीतर उन्होंने कविताएं लिखीं, कहानी लिखी, नाटक-रचना का भी प्रयोग किया, निबन्ध लिखे, अंगरेजी में स्वतन्त्र लेख लिखे तथा अंगरेजी से हिन्दी में अनुवाद भी किये। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने-वाली हिन्दी की तीन मौलिक कहानियों में से, कहानी संख्या दो, शुक्ल जी द्वारा इसी समय लिखी गयी थीं। इस कहानी का नाम था—'ग्यारह वर्ष का समय,। उनकी 'मनोहर छटा' नामक एक कविता, जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, मिर्जापुर में लिखी गयी, जब उनकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। उन्होंने लेख भी लिखे, जिनमें से 'साहित्य' नामक लेख हमारा ध्यान इसलिए आकर्षित करता है कि रचना की विशेष प्रवृत्ति होने पर भी उनमें इस अल्प वय में भी विवेचना का सर्वथा अभाव नहीं था। अनुवादों में विशेष उल्लेख-योग्य हैं—कल्पना का आनन्द तथा मेगास्थनीज़ का भारत-वर्षीय वर्णन। ये क्रमशः जोज़ेफ़ ऐडीसन कृत 'Pleasures of imagination' और मैगास्थनीज़ कृत 'टा इंडिका' के रूपान्तर हैं। ये अनुवाद भी शुक्ल जी के विचारों को विकसित और संगठित बनाने में सहायक हो रहे थे।

हिन्दी शब्दसागर के सम्पादन के सिलसिले में काशी आने पर शुक्ल जी के लेखक-जीवन का दूसरा अध्याय खुला। विवेचनात्मक प्रवृत्ति ने विशेष बल संग्रह किया; वह क्रमशः रचनात्मक प्रवृत्ति की समानता को प्राप्त हो गयी। इस कार्यावधि में उन्होंने एक ओर तो 'बुद्धचरित' और 'हृदय का मधुर भार' नामक काव्यों की रचना की, दूसरी ओर 'तुलसी-ग्रन्थावली', 'जायसी-ग्रन्थावली तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आदि ग्रंथों का सम्पादन एवं निर्माण किया, जिनमें उनकी उच्चकोटि की आलोचनात्मक प्रतिभा दिखायी पड़ी।

शुक्ल जी की आलोचनात्मक प्रवृत्ति रचनात्मक प्रवृत्ति की समानता को पहुँच कर भी शान्त नहीं हुई, वह निरंतर विशेषता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करती रही और क्रमशः उसे सफलता भी प्राप्त हुई। रचनात्मक प्रवृत्ति के पराजय को ही शुक्ल जी के जीवन का तीसरा अध्याय समझना चाहिए। कविता-रचना की प्रवृत्ति शिथिल हुई, कहानी का लोप हुआ, नाटक की याद भुला दी गयी। परिस्थितियों ने उनके सामने रचना के स्थान में आलोचना ही के अधिक अवसर उपस्थित किये। क्रमशः एक ऐसे रचना-प्रयत्न का विकास हुआ, जिसमें रचना और आलोचना दोनों का सामंजस्य हो गया। इस प्रयत्न का सम्बन्ध निबन्ध-लेखन से था। निबन्ध लिखने की

ओर शुक्लजी की प्रवृत्ति आरम्भकाल से रही और आलोचन-प्रवृत्ति से समझौता कर के केवल वही जीवित रह कर उन को रचनाकार भी बनाये रही। हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक हो जाने के अनन्तर व्याख्या और आलोचना की और भी अधिक आवश्यकता हुई; फलतः वहां वे रचनाकार के नाम पर निबन्धकार मात्र रह कर पूर्णरूपेण आलोचक हो गये।

शुक्ल जी की रचनात्मक प्रवृत्ति के दब जाने से साहित्य की क्षति नहीं हुई, यह नहीं कहा जा सकता। हिन्दी में इतने सुलझे हुए विचारोंवाला रचनाकार यदि एक सुन्दर महाकाव्य हमें दे सकता तो हमारे साहित्य की कितनी श्रीवृद्धि होती। ऐसे प्रौढ़ लेखक की लेखनी से प्रसूत एक सुव्यवस्थित नाटक अथवा उपन्यास पाकर हिन्दी की कितनी शक्ति बढ़ी होती। अस्तु, कल्पित और अनिश्चित के लिए चिंतित न होकर हमें उस अनमोल सम्पत्ति की ओर देखना चाहिए जो शुक्ल जी हमें दे गये हैं। लाभ से लोभ बढ़ता है, केवल इसी दृष्टि से मैंने उक्त पंक्तियां लिखी हैं, अन्यथा आलोचना-साहित्य के रूप में हमें उनसे जो कुछ मिला है, वह अभूतपूर्व है और उसके आधार पर शुक्ल जी तो अमर हो ही गये हैं, स्वयं हिन्दी साहित्य मरने-मरने की दयनीय स्थिति को पहुँच कर जी उठा है और आत्मविश्वास से उद्दीप्त होकर प्रगति के पथ पर चलने लगा है।

शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही अंगों की एक विवेचना यहां क्रमशः प्रस्तुत की जायगी।

रचनात्मक पार्श्व

अध्याय २

काव्य-रचना—१

शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के रचनात्मक और विवेचनात्मक पार्श्वों की मैंने चर्चा की है। रचनात्मक अंग का विकास उनके विलक्षण, सहज प्रकृति-प्रेम के अंक में अग्रसर हुआ। उनका प्रारम्भिक जीवन हमीरपुर जिले के 'राठ' नामक स्थान में तथा मिर्जापुर में व्यतीत हुआ। यहां उनके पिता पं० चन्द्रबली शुक्ल कानूनगो के पद पर अनेक वर्षों तक कार्य करते रहे, यह कहा जा चुका है। मिर्जापुर के विचित्र प्राकृतिक सौन्दर्य का शुक्ल जी के बालक हृदय पर कितना प्रभाव पड़ा, इसका वर्णन श्रीकेशवचन्द्र शुक्ल *ने इस प्रकार किया है :—

रचनात्मक प्रेरणाएँ

"मिरजापुर प्रकृति की अनुपम क्रीड़ास्थली है। विन्ध्य के चरणों के प्रति जाह्नवी को कैसा अद्भुत अनुराग है! वैसे तो राठ रहते हुए बुन्देलखंड की पहाड़ियों का भी प्रभाव पं० रामचन्द्र शुक्ल के हृदय पर पड़ा था, किन्तु जितनी गहरी सुखानुभूति उनकी उत्कृष्ट कल्पना को मिर्जापुर की सघन, वन्य वृक्षों से लदी पर्वत-मालाओं, ऊँची-नीची पर्वतस्थलियों के बीच क्रीड़ा करते हुए टेढ़े-मेढ़े नालों, सुदूर तक फैले हुए हरे-भरे लहलहाते कछारों, बड़ी-बड़ी चट्टानों के मध्य से हरहराते हुए निर्झरों, रंग-बिरंगे शिलाखंडों पर बहती हुई नदी की निर्मल धाराओं तथा फूली-फली अमराइयों के समीप बसी हुई ग्राम्यबस्तियों के साहचर्य से प्राप्त हुई, उतनी बुन्देलखंड के रूखे-सूखे भू-खंड के द्वारा कदापि सम्भव न थी।"

शुक्ल जी के स्वाभाविक प्रकृति-प्रेम को अधिकाधिक उद्दीप्त करनेवाली परिस्थितियां भी प्रस्तुत हो गयीं। श्री केशवचन्द्र शुक्ल ही के शब्दों में इनका परिचय प्राप्त कीजिए :—

"रमई पट्टी† के जिस छोर पर इनके पिता ने अपना निवास-स्थान बनाया, उस ओर कुल ४/५ मकान पहले से बने हुए थे। उनमें पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद तथा बा० बलभद्र सिंह डिप्टी कलेक्टर के नाम उल्लेखनीय हैं। बा० बलभद्र सिंह आगरे के क्षत्रिय थे। पुरानी संस्कृति के वे अनुमोदक मात्र ही नहीं, उसके अनन्य उपासक भी थे। उनके यहां सदा महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत, पुराण आदि का पाठ

*शुक्ल जी के सुयोग्य पुत्र †मिर्जापुर का एक तत्कालीन नवनिर्मित छोटा मुहल्ला

होता था। ३०/४० सुननेवाले व्यक्ति एकत्रित रहते थे। पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद के घर में तो संस्कृत का निवास ही था। नित्य बहुत से विद्यार्थी माघ, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की कृतियों का अध्ययन करने के लिए उनके यहां आया करते थे। पंडित जी प्रायः सन्ध्या समय अपने विद्यार्थियों को लेकर पर्वतों की ओर निकल जाते थे, जो वहां से दो-तीन मील पर हैं। अथवा किसी निर्जन स्थान में जाकर किसी सरोवर अथवा नदी-नाले के किनारे स्वच्छन्द समय व्यतीत करते तथा मग्न होकर अत्यन्त सुमधुर स्वर से कालिदास, भवभूति आदि के श्लोक पढ़ते। कुछ बड़ने पर प० रामचन्द्र शुक्ल भी विद्यार्थियों में मिलकर प्रकृति के इस भावुक पुजारी के साथ घूमने निकलने लगे।"

इस वातावरण में शुक्ल जी की मानसिक प्रवृत्तियां क्रमशः सम्पूर्ण विश्व के कण-कण के प्रति उस अनुराग-भावना की ओर अग्रसर होने लगीं, जो जीवन-पर्यन्त उनके व्यक्तित्व की एक विशेषता रही, जिसने उनके दृष्टिकोण को विस्तार दिया तथा उन्हें निश्चित साहित्यिक सिद्धान्तों पर आरूढ़ होने और रहने की दृढ़ता प्रदान की। भिन्न दिखायी पड़ती हुई सृष्टि को अभिन्न रूप में प्रस्तुत करनेवाली इसी स्निग्ध धारणा ने उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण को ऐसा स्वरूप प्रदान किया, जिसने रूढ़ियों को सैद्धान्तिक तत्त्वों से पृथक् कर के देखने और सर्वत्र सहानुभूति वितरित करने में समर्थ बनाया। इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण ने स्वदेशप्रेम की प्रवृत्ति भी उत्पन्न की, जिसका एक रूप यह हुआ कि वे पाजामे के स्थान में धोती पहनने और छिप छिप कर हिन्दी पढ़ने की ओर आकर्षित हुए। मनोरञ्जक बात यह थी कि उनके पिता पं० चन्द्रबली शुक्ल की विचारधारा भिन्न थी। "उनके अधिकतर मित्र मुसलमान थे। वे मुसल्मानी ढंग की डाढ़ी रखते थे। घर और बाहर सर्वत्र पाजामा पहनते थे। ढीली धोती से उन्हें सख्त नफरत थी। घर में भी उर्दू बोलते थे। उन्हें ब्राह्मणों से कुछ घृणा थी। वे इन्हें 'बम्हन' कहते थे × × × मुसल्मानियत का इतना कायल व्यक्ति यदि हिन्दी को 'गँवारू बोली' समझे तो आश्चर्य नहीं।"* पिता-पुत्र के विचारों में इस विभिन्नता के कारण घर में जिस प्रकार का अप्रिय वातावरण तैयार हो गया उसका एक सुन्दर चित्र श्रीकेशवचन्द्र शुक्ल ने अंकित किया है; उसे मैं यहां प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

"पं० रामचन्द्र शुक्ल को बा० बलभद्र सिंह तथा पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद के यहां का वातावरण अपने पिता के सान्निध्य से कहीं अधिक प्रिय प्रतीत होने लगा। वहां उनके सहचर रामानन्द और परमानन्द तथा जैजैलाल बराबर मिलते। इन लोगों में

* श्री शिवनाथ

किसी की अवस्था १४-१५ वर्ष के ऊपर न थी। परमानन्द, रमानन्द की विलक्षण जोड़ी थी। दोनों बड़े हँसमुख और विनोदप्रिय थे। चन्दन लगाते और धोती पहनकर नंगे सिर दिखायी देते थे। जैजैलाल भी कायस्थ होकर धोती पहने रहते। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चन्दन तो नहीं लगाया, किन्तु पायजामा छोड़कर धोती पहनने लगे। स्कूल कोट-पतलून पहनकर जाने लगे। कभी घूमती-फिरती यह बाल-मण्डली पक्के पोखरे तक निकल जाती, जो रमईपट्टी से थोड़ी दूर बाहर है, और वहां भगत जी को 'राधेश्याम-राधेश्याम' कहकर चिढ़ा आती थी। इस प्रकार की जीवनचर्या पं० रामचन्द्र शुक्ल को जितनी प्रिय प्रतीत हुई, उनके पिता को उतनी ही अप्रिय। इनके धोती पहनने पर नाराज होकर वे कहा करते—"हरामजादा उन बेहूदों के साथ वशिष्ठ बना घूमता है।"

इस प्रसंग में पाठक को यह भी जान लेना चाहिए कि शुक्ल जी की माता का देहान्त हो गया था तथा वे, विमाता से प्रभावित पिता की देख-रेख में, जीवन व्यतीत कर रहे थे। इस प्रकार आरम्भ ही से शुक्ल जी का जीवन संघर्षमय हो गया था। संतोष की बात यह है कि यह परिस्थिति, जिसमें उनका प्रकृति-प्रेम आवारगी का, देश-प्रेम-सूचक वेषभूषा आदि की ओर झुकाव बेहूदगी का तथा स्वतंत्रविचार-धारा बुद्धिहीनता का पर्यायवाची समझा जा रहा था, कालान्तर में परिवर्त्तित हुई; पिता ने पुत्र की योग्यता और भावी महत्ता का आभास पाया तथा, पारस्परिक वैमनस्य के परिणाम-स्वरूप, शुक्ल जी का विद्यार्थी-जीवन जिस आर्थिक संकट से संत्रस्त था उसके निवारण के लिए उन्होंने उन्हें ३००) दिये और आँसुओं की धारा में हृदय के द्वेष-भाव को प्रवाहित कर दिया!

'भारतेन्दु' और 'प्रेमघन' का प्रभाव

अपने बाल्यकालीन जीवन में शुक्ल जी ने मातृभाषा हिन्दी और उसके सेवकों के प्रति जिस आकर्षण का अनुभव किया उसका स्वयं ही वर्णन करके अपना मुक्त हृदय हमारे सामने रखा है। उनका कहना है :—

"बहुत दिनों तक तो 'सत्यहरिश्चन्द्र' नामक नाटक के नायक हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बालबुद्धि कोई भेद न कर पायी थी। 'हरिश्चन्द्र' शब्द से दोनों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना एक अद्भुत माधुर्य का संचार करती थी। मिर्जापुर आने पर धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि कवि हरिश्चन्द्र तो काशी के रहनेवाले थे और कुछ वर्ष पहले तक वर्त्तमान थे। कुछ दिनों में किसी से सुना कि हरिश्चन्द्र के एक मित्र यहीं रहते हैं और हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि हैं, जिनका शुभ नाम है उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'।"

× × × × ×

"भारतेन्दु-मंडल के किसी जीते-जागते अवशेष के प्रति मेरी कितनी उत्कण्ठा थी, इसका अब तक स्मरण है। मैं नगर से बाहर रहता था, अवस्था थी बारह या तेरह वर्ष की। एक दिन बालकों की एक मण्डली जोड़ी गयी। जो चौधरी साहब के मकान से परिचित थे वे अगुआ हुए। मील-डेढ़ मील का सफर तय हुआ। पत्थर के एक बड़े मकान के सामने हम लोग जा खड़े हुए। नीचे का बरामदा खाली था। ऊपर का बरामदा सघन लताओं के जाल से आवृत था। बीच बीच में खम्भे और खुली जगह दिखायी पड़ती थी। उसी ओर देखने के लिए मुझसे कहा गया। कोई दिखायी न पड़ा। कुछ देर पीछे एक लड़के ने उँगली से ऊपर की ओर इशारा किया। लता-प्रतान के बीच एक मूर्ति खड़ी दिखायी पड़ी। दोनों कंधों पर बाल बिखरे हुए थे। एक हाथ खम्भे पर था। देखते ही देखते वह मूर्त्ति दृष्टि से ओझल हो गयी। बस यही उनकी पहली झाँकी थी।"

भारतेन्दु के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखकर शुक्ल जी ने अपने विचारों को प्रगट किया है; उसकी चर्चा निबन्धों के सिलसिले में यथास्थान की जायगी। यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और और पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' दोनों ही की कविता ने किसी न किसी रूप में उन्हें प्रभावित किया। यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत कवियों के संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन एवं प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों ही रूपों के घनिष्ट सम्पर्क तथा पर्यवेक्षण ने उन्हें मोहित कर लिया था, अतएव उस दिशा में उक्त दोनों कवियों का प्रभाव उन्हें कुछ दे सकने की क्षमता नहीं रखता था। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कवियों के काव्य में प्रकृति का जैसा प्रकृत चित्रण मिलता है वैसी कोई हृदयग्राहिणी विभूति न पाकर भी उक्त दोनों कवियों के काव्य में कम से कम एक विशेषता उन्होंने देखी और वह थी भारतीय समाज की पीड़ा को व्यक्त करने की आतुरता। विश्वमात्र के प्रति उनके वृद्धिशील प्रेम ने भारतीय समाज की शोचनीय परिस्थिति के प्रति भी उनके हृदय में क्लेश उत्पन्न किया और उन्होंने ऐसे विषयों को भी अपनी रचना के लिए निर्वाचित किया जिनके लिए उन्हें प्रधान रूप से प्रेरणा उक्त दोनों कवियों से मिली। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन अवलोकनीय है :—

"भारतेन्दु जी ने हिन्दी काव्य को केवल नये नये विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। वे केवल नए प्रकृति के कवि थे, बाह्य प्रकृति की अनंतरूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता।"

* * * *

"भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आयी हुई कविताओं में देशदशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही; बहुत सी स्वतंत्र कविताएं भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव-गाथा का गर्व, कहीं वर्त्तमान अधोगति की क्षोभभरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी चिंता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है।"

भारतेन्दु जी की निम्नलिखित पंक्तियों में उस पीड़ा और मार्मिक व्यंजना के दर्शन कीजिए जिसकी ओर शुक्ल जी संकेत कर रहे हैं :—

"हाय वहै भारत भुव भारी। सब ही विधि सों भई दुखारी।
हाय पंचनद! हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चितौर निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी।
तुममें जल नहिं जमुना गंगा। बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा।
बोरहु किन झट मथुरा कासी। धोवहु यह कलंक की रासी।"

'प्रेमघन' जी की निम्नलिखित पंक्तियां भी देखिए, जिनमें भारत से प्रस्थान करने के लिए तैयार दुर्गादेवी कहती हैं :—

"आजु लौं रही अनेक भाँति धीर धारि के।
पै न भाव मोहिं बैठनो सु मौन मारि कै।
जाति हौं चली वहीं सरस्वती गयी जहाँ।"

शुक्ल जी के देशानुरागी हृदय का इन व्यथागर्भित पंक्तियों से प्रभावित होना स्वाभाविक और उचित ही था। उन्होंने लिखा है :—

"चित्तौर', 'पानीपत' इन नामों में हिन्दू हृदय के लिए कितने भावों की व्यंजना भरी पड़ी है! उसके लिए ये नाम ही काव्य हैं।"

इस प्रकार शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माणपरक अंग विविध प्रभावों को ग्रहण कर प्रस्फुटित हो चला।

शुक्ल जी ने अपने लेखक-जीवन का आरम्भ रचनाओं से किया, जो सर्वथा स्वाभाविक था। उन्होंने कहानी लिखीं, नाटक लिखने का प्रयत्न किया, निबन्ध भी लिखे जिनमें रचनात्मक प्रवृत्ति के दर्शन हुए। उनकी कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' हिन्दी साहित्य की द्वितीय मौलिक कहानी है; उनकी कविताएँ प्रकृति को जिस रूप में उपस्थित करती हैं, वह एक नवीन दिशा की ओर इंगित करता है; उनका कोई नाटक प्रकाशित नहीं हो सका, क्योंकि एक नाटक किसी मित्र के द्वारा नष्ट हो गया और दूसरा पूरा न हो पाया। रहे उनके निबन्ध, सो वे तो उनकी लेखन-कला के शृंगार तथा

रचनाएँ

हिन्दी की अनमोल सम्पत्ति हैं। कहानी लिखने में वे अधिक अग्रसर न हो सके, यद्यपि कथा-साहित्य के प्रति उनकी रुचि निरन्तर बनी रही और आगे चल कर उन्होंने श्री राखाल दास बैनर्जी कृत 'शशांक' नामक उपन्यास का अनुवाद भी किया। काव्य-रचना से उन्होंने अपना सम्बन्ध बनाये रखा और निबन्धों का लेखन-कार्य तो उन्हें जीवन के अन्त तक परम प्रिय बना रहा। निबन्ध के सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे, यहां काव्य-रचना ही के विषय में कुछ कथन किया जायगा।

शुक्ल जी की काव्य-रचना के दो विभाग किये जा सकते हैं—(१) स्फुट काव्य; (२) प्रबन्ध काव्य। उनके लेखन-कार्य का श्रीगणेश स्फुट कविताओं ही से हुआ, अतएव पहले उसी का उल्लेख होना चाहिए।

स्फुट-काव्य

शुक्ल जी की स्फुट कविताएं अनेक श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं। प्रथम श्रेणी उन कविताओं की है जिन पर संस्कृत के प्राचीन कवियों का प्रभाव स्पष्ट है। द्वितीय श्रेणी की कविताएं वे हैं जिनमें अपने समाज की दुर्दशा से व्यथित होकर रचनाकार शुक्ल जी ने अपने हार्दिक भावों की मार्मिक व्यंजना की है। कविताओं की तीसरी श्रेणी वह है जिसमें उन्होंने कोई सामान्य सामाजिक हित की बात सीधे-सादे ढंग से कही है; इसमें एक ओर तो संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण के लिए क्षेत्र-विस्तार नहीं किया गया है, दूसरी ओर मार्मिक व्यंजना की भी कमी है।

प्रथम श्रेणी की कविताएं भी दो उपश्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं। एक वह है जिसमें प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण पाया जाता है; दूसरी वह है जिसमें उसका आग्रह मात्र व्यक्त किया गया है; एक में कवि पूर्णतया रचनाकार है, दूसरी में वह समीक्षक का रूप धारण कर लेता है।

निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण देखिए :—

"गया उसी देवल के पास से है ग्रामपथ
　　श्वेत धारियों में नई घास को विभक्त कर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे
　　गोरज से धूम ले जो खड़े हैं किनारे पर।
उन्हें कई गायें पैर अगले चढ़ाये हुए
　　कंठ को उठाये चुपचाप ही रही हैं चर।
जा रही हैं घाट-ओर ग्राम वनिताएं कई
　　लौटती हैं कई एक घट औ कलश भर।"

"कर से कराल निज काननों को काट कर
शैलों को सपाट कर सृष्टि को संहार ले।
नाना रूप-रङ्ग धरे जीवन-उमंग भरे
जीव जहाँ तक बने मारते तू मार ले।
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर
प्रेत सा अकेला पाँव अपने पसार ले।
विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता हो
होगी किन्तु अलम् न मानव! विचार ले।
प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँख नहीं—
जिन्हें वे ही भीतर रहस्य समझाते हैं।
झूठे झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे—
करके पाषंड-कला अपनी दिखाते हैं।
अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति—
छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु, श्वास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन नित्य
देख अपनी ही तन्त्री तार वे बजाते हैं।"

इन पंक्तियों में हमें शुक्ल जी की एक नवीन वृद्धिशील प्रवृत्ति से परिचय प्राप्त होता है; वे प्रकृति के प्रेमी मात्र नहीं रह गये हैं, वरन एक पग और आगे बढ़कर उसके प्रचारक हो गये हैं; उसे जिस रूप में वे देखते हैं उसकी यथार्थता का उन्हें इतना दृढ़ विश्वास हो गया है कि इस सम्बन्ध में केवल कवि बने रहने में उन्हें संतोष नहीं है; अब वे उसकी विशिष्टता सिद्ध करने के लिए आलोचक का बाना भी धारण करने के लिए तैयार हो गये हैं।

'आमंत्रण' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में वे आलोचक के रूप में ही अन्य कवियों को भी वही धर्म ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करते हैं, जिसे उन्होंने स्वयं अपनाया है :—

"निधि खोल किसानों के धूलि सने
श्रम का फटा भूमि बिछाती जहां।
चुन के कुछ चोंच चला करके
चिड़ियां निज भाग बढ़ाती जहां।
कगरों पर कास की फैली हुई
धवली अवली लहराती जहां।

कविता वह हाथ उठाये हुए
चलिए कविवृन्द बुलाती वहां।"

प्रकृति को शुक्ल जी किस रूप देखते हैं और उसके उस रूप को ही सर्वोपरि मानने के लिए उनके तर्क कितने प्रबल हैं, इसकी चर्चा अन्यत्र की जायगी; यहां इतना ही कथन पर्याप्त है कि वे मानव-जीवन के उस रूप के कभी हिमायती नहीं हुए जिसमें मनुष्य अन्य जीवों, जन्तुओं तथा समष्टिगत सौन्दर्य्य की सृष्टि करनेवाले जड़ पदार्थों के साहचर्य का सर्वथा लोप करके अपनी ही ऐकान्तिक सार्वभौम सत्ता स्थापित कर ले। साथ ही वे इस भाव के भी सदैव समर्थक रहे कि अपनी विकृत भावनाओं के चश्मे को आँखों पर चढ़ा कर भी प्रकृति का प्रकृत स्वरूप नहीं देखा जा सकता। स्वयं प्रकृति ही अपने मनोरम और भयानक, कोमल और उग्र रूप में कितनी सौन्दर्यमयी है, कितनी शक्तिशालिनी है, इसे निरपेक्ष दृष्टि से देखना सत्य के अधिक निकट पहुँचना है—शुक्ल जी के इस आग्रह के सम्बन्ध में भी आगे विवेचना की जायगी। किन्तु इतना तो यहां भी कह देना आवश्यक है कि वे खुले संसार को अविकृत रूप में, निर्मल रागात्मक भावपूर्वक देखना ही सच्चाई के साथ देखना समझते हैं और जहां उनकी यह धारणा उत्तरकालीन प्रौढ़ रचनाओं में अधिक बलवती होकर उनके सैद्धान्तिक समीक्षा-विषयक एक सिद्धान्त ही की जननी हो गयी है वहां पूर्वकालीन रचनाओं में, जिनमें उक्त पंक्तियों का भी समावेश किया जा सकता है, उक्त सिद्धान्त का शिशु-स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

सन् १९०४ की 'सरस्वती' में प्रकाशित, शुक्ल जी की अनेक कविताएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें फूलों, पक्षियों आदि को मानव जीवन के सम्पर्क में रख कर देखने की उन्होंने चेष्टा की है। यद्यपि अभी वे नवयुवक ही थे तथापि उक्त कविताओं की अपूर्व माधुरी चित्त को आकर्षित कर लेती है। लोकसंग्रह की भावना का उदय उनमें हो गया था और क्रमशः उनके उन काव्य-सिद्धान्तों के विकास के लिए उपयुक्त भूमि तैयार हो रही थी जिन्होंने आगे चलकर एक शक्तिशाली समालोचक के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया तथा जिनकी चर्चा उचित स्थान पर विस्तारपूर्वक की जायगी। यहाँ पाठक केवल इतना ही देखें कि निम्नलिखित पक्तियों में कोयल, पलाश, कदम्ब, कमल, भ्रमर, चमेली, समीर आदि को सम्बोधित करके शुक्ल जी ने कितनी सहृदयता के साथ उनसे यह भूमि त्याग देने का अनुरोध किया है जहाँ के निवासियों ने सौन्दर्य-बोध और रसानुभूति को सर्वथा भुला दिया है :—

"हे कोकिल तजि भूमि नाहिं क्यों अनत सिधारी ?
कोमल कूक सुनाव बैठि अजहूं तरु डारी।
मथुरा, दिल्ली अरु कनौज के विस्तृत खँडहर
करत प्रतिध्वनि आज दिवसहू निज कम्पित स्वर
जहँ गोरी, महमूद केर पदचिन्ह धूरि पर,
दिखरावत भरि नैन नीर इतिहास-विज्ञ नर।
और विगत अभिलाष सकल केवल इक कारन,
जन्मभूमि अनुराग बाँधि राख्यो तोहिं डारन।"

× × × ×

"हे हे अरुण पलाश ! छुटा बन काहि दिखावत ?
कोउ दृग नहिं अन्वेषमान अब तुव दिसि धावत।
करि सिर उच्च कदम्ब रह्यो तू व्यर्थ निहारी।
नहीं गोपिका कृष्ण कहीं तुव छाँह बिहारी।
रे, रे, निलज सरोज अजहुं विकसत लखि भानुहिं।
देश दुर्दशा जनित दुःख चित नेकु न आनहि।
ए हो मधुकर वृन्द मोहिं नहिं कछु आवत कहि।
कौन मधुरता-लोभ रह्यो बसि दीन देश माह।"

× × × ×

"एक एक चलि देहु नाहिं क्यों यह भुव तजि के ?
हम हतभागे लोग योग नहिं तुव संगति के।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से देशभक्तिपूर्ण कविताओं का जो स्रोत हिन्दी में प्रवाहित हुआ उसमें ऐसी ही रस-सिद्ध पंक्तियों ने लहरें उठायीं। उनकी तथा 'प्रेमघन' जी की अन्यत्र उद्धृत पंक्तियों से यदि इन पंक्तियों की तुलना की जायगी तो लक्षित होगा कि उनका कुछ न कुछ प्रभाव इन 'पद्यों' पर अवश्य ही विद्यमान है।

हमें अब केवल पेट भरने की चिन्ता है, इस पशु की स्थिति को पहुँच गये हैं, इन्हीं भावों को निम्नलिखित पंक्तियों में, वसन्त के आगमन से व्यथित शुक्ल जी विधाता को सम्बोधित करते हुए व्यक्त करते हैं :—

"विगत दिवस प्रतिबिम्ब हाय सम्मुख तुम लावत।
भारत-संतति केर विरह चौगुनो बढ़ावत।

अहो विधाता वाम दया इतनी चित लावहु।
देश काल ते ऋतु बसन्त को नाम मिटावहु।
नहिं यह सब दरकार हमें चहिए केवल अब।
उदर भरन हित अन्न और किन हरन होहि सब।
नहिं कछु चिन्ता हमैं चीन्ह गौरव रखिबे की;
नहीं कामना हमैं 'आपनो' यह कहिबे की।"

———

अध्याय ३

काव्य-रचना—२

काव्य-रचना के क्षेत्र में 'बुद्धचरित' शुक्ल जी का सबसे बड़ा प्रयास है। सर एडविन आरनोल्ड कृत 'लाइट आव् एशिया' (Light of Asia) नामक काव्य का यह स्वतंत्र रूपान्तर है। अनुवाद रचनात्मक प्रवृत्ति का ह्रास के रूप-निर्वाह के साथ साथ मौलिक रचना का स्वाद देनेवाली यह एक अपूर्व कृति है। स्वयं शुक्ल जी ने इसके सम्बन्ध में कहा है :—

"यद्यपि ढंग इसका ऐसा रखा गया है कि एक स्वतन्त्र काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो, पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है।"

आश्चर्य तो इस बात का है कि इस 'स्वतन्त्र काव्य' को शुक्ल जी ने सर्वथा स्वतन्त्र क्यों नहीं होने दिया, उसे किसी एक मूल पुस्तक के अधीन चलने को क्यों बाध्य किया ? हममें से कोई भी यह मानने के लिए तैयार न होगा कि महात्मा बुद्ध के सम्बन्ध में काव्य लिखने की योग्यता सर एड्विन आरनोल्ड में शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक थी। जो हो, एक बात स्पष्ट है और वह यह कि महात्मा बुद्ध के सम्बन्ध में भारतीयों की उदासीनता को वे अपराध से कम नहीं समझते थे और सम्भव है, एक विदेशी की एतद्विषयक तत्परता से इतने प्रभावित हुए हों कि उसका अनुवादक होकर उसे आदर देना उन्होंने स्वीकार कर लिया हो। यह सर्वथा सम्भव है कि इस उदार और सज्जनोचित धारणा से उन्हें प्रेरणा प्राप्त हुई हो।

किन्तु साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण, अधिक सुनिश्चित और सत्य के अधिक निकट एक अन्य संभावना हो सकती है और वह यह कि शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के रचनाकार-तत्व का क्रमशः ह्रास हो रहा था और उनकी निर्माणकारिणी प्रतिभा का स्थान पांडित्यप्रियता तथा समीक्षक-बुद्धि के द्वारा अधिकृत हो रहा था। जो लोग उन्हें उतना ही बड़ा रचनाकार मानते हैं जितना बड़ा समीक्षक, वे शुक्ल जी की इस प्रवृत्ति को आधार बनाकर इस प्रश्न पर पुनर्विचार कर सकते हैं। अस्तु।

शुक्ल जी ने लिखा है—

"राम कृष्ण की इसी लीला भूमि पर भगवान बुद्धदेव भी हुए हैं, जिनके प्रभाव

से एशिया खंड का सारा पूर्वार्द्ध भारत को इस गिरी दशा में भी प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखता चला जा रहा है। राम कृष्ण के चरित्र गान का मधुर स्वर भारत की सारी भाषाओं में गूंज रहा है, पर बौद्ध धर्म के साथ ही गौतम बुद्ध की स्थिति तक जनता के हृदय से दूर हो गयी है। ×××जिन बातों से हमारा गौरव था उन्हें भूलते-भूलते आज हमारी यह दशा हुई।"

बुद्धदेव के प्रति श्रद्धा

शुक्ल जी के हृदय में बुद्धदेव के प्रति कितनी श्रद्धा है, इसका परिचय उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से मिलता है, जो उन्होंने ग्रंथ के अंत में लिखी हैं :—

"चरित भयो यह पूर्ण कह्यो मैं जो कछु गाई।
सो यह साहस मात्र भक्तिवश जानौ भाई।
जानत थोरी बात ताहु पै कहन न जानत।
या तैं अपनी चूक आप ही मैं अनुमानत।
कहां तथागत चरित कहां लघुमति यह मेरी।
चाहौं या तें क्षमा दया मैं प्रभु की हेरी।"

शुक्ल जी को देश और समाज से कितना प्रेम था, उसकी आत्मविस्मृति से उनके हृदय को कितनी व्यथा थी, यह उक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो रहा है। 'बुद्धचरित' की रचना कर के उन्होंने न केवल हमारे सामने एक काव्य प्रस्तुत किया है, वरन अपने देश के नर-रत्नों का आदर और सम्मान करने की कला भी हमें सिखलायी है। रागात्मिका वृत्ति के सतत चिन्तन और अभ्यास से उनके हृदय का ऐसा संस्कार हो गया था कि किसी विषय अथवा वस्तु के प्रति वे अत्यन्त तटस्थ, वैज्ञानिक दृष्टिकोण रख सकते थे, जो वैज्ञानिक होने के कारण ही अतीव उदारता-सम्पन्न भी समझ पड़ता है।

ब्राह्मणों द्वारा पोषित वैदिक संस्कृति तथा बौद्ध संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों में मतभेद रहा है, जिसके कारण ब्राह्मणों और बौद्धों में शत-शत वर्ष-व्यापी कलह-दूषित वैमनस्य दोनों ही की शक्तियों को क्षीण कर के भारत को पतनोन्मुख बनाने में सहायक हुआ। अब वह कलह नहीं रह गया है, किन्तु कलह की स्मृति शेष है, जिसको मिटा देने की दिशा में शुक्ल जी का 'बुद्धचरित' एक सुन्दर प्रयास है। शुक्ल जी वर्णाश्रम-व्यवस्था के पृष्ठपोषक थे, जिसका अर्थ यह है कि पात्रत्व और साधकत्व के आधार पर वर्णों और आश्रमों की वैज्ञानिक नियोजना के वे पक्षपाती थे। बौद्ध विचारधारा में वर्णों का कोई विधान नहीं है; वहां एक मात्र निर्वाण मनुष्य मात्र का

लक्ष्य मान लिया गया है, जिससे अयोग्य और योग्य एक ही साधन द्वारा एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्रसर होते हैं। यह विभेद किसी समय चाहे जितना क्रियात्मक रहा हो, किन्तु वर्त्तमान समय में इसका केवल ऐतिहासिक मूल्य रह गया है। अतः बौद्ध संस्कृति को भारतीय संस्कृति का एक सम्मानित विभाग तथा बुद्धदेव को राम और कृष्ण ही की तरह वन्दनीय महापुरुष मानकर अभिन्न राष्ट्रीय जीवन के विकास में सहयोग करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है। शुक्ल जी की यही धारणा 'बुद्धचरित' काव्य के रूप में प्रवाहित हुई है। जो लोग उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण में संकीर्णता की झलक पाते हैं उन्हें इस ओर ध्यान देना चाहिए।

बुद्धदेव में जहां अनेक विशेषताएं थीं वहां एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उन्हें जो प्रकाश प्राप्त हुआ उसे उन्होंने, बिना किसी भेदभाव के, मनुष्यमात्र के लिए सुलभ किया। ज्ञान की दिव्य ज्योति का स्वयं उन्होंने तथा उनके शिष्यों ने और बाद को अनेक शताब्दियों तक उनके अनुयायियों ने प्रचार किया। धर्म के प्रसार के लिए संघबद्ध जीवन की उपयोगिता प्रमाणित हुई। लोकसंग्रह के प्रति विशेष रूप से आग्रहशील शुक्ल जी के लिए यह भी एक अनिवारणीय आकर्षण था, जिससे वे 'बुद्धचरित' की रचना के लिए उत्साहित हुए।

'बुद्धचरित'

'बुद्धचरित' में आठ सर्ग हैं। बुद्धदेव के आविर्भाव, महाभिनिष्क्रमण, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन, निर्वाण-प्राप्ति आदि से सम्बद्ध कथासूत्र को लेकर प्रकृति और मानव के अनेक सुन्दर चित्र उसमें अंकित किये गये हैं। काव्य ब्रजभाषा में लिखा गया है, जिसके प्रति शुक्ल जी का अनुराग आसक्ति की सीमा तक पहुँचा हुआ था। आरम्भ में एक लम्बी भूमिका देकर शुक्ल जी ने ब्रजभाषा के काव्यभाषा-रूप की समीक्षा करते हुए यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि उसे नवयुग के अनुरूप बनाने के लिए उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करने की बड़ी आवश्यकता है। इसका विशेष परिचय अन्यत्र दिया जायगा, जहां शुक्ल जी के भाषातत्त्व-विषयक प्रबन्धों की चर्चा होगी; यहां संक्षेप में इतना ही कथन यथेष्ट है।

पहले हम देख लें कि शुक्ल जी इस काव्य में अनुवादक के रूप में कितने सफल हुए हैं, उसके अनन्तर एक स्वतन्त्र काव्य के रूप में उसका परिचय दिया जायगा।

सर एड्विन आरनोल्ड ने बुद्धदेव के राजगृह *प्रवेश का वर्णन अपने काव्य के अनुवादक के रूप में काव्य में इस प्रकार किया है :—

"So entered they the city side by side
The herdsman and the prince what time the sun
Gilded slow Sona's distant stream and threw
Long shadows down the street and through the gate
Where the King's men kept watch but when these saw
Our Lord bearing the lamb, the Guards stood back
The market people drew their wains aside
In the bazar buyers and sellers stayed
The war of tongues to gaze on that mild face;
The smith with lifted hammer in his hand
Forgot to strike, the weaver left his web,
The scribe his scroll, the moneychanger lost
His count of cowries ; from the unwatched rice
Shiva's white Bull fed free ; the wasted milk
Ran over the Lota while the milkman watched
The passage of our Lord moving so meek,
With yet so beautiful a majesty."

अब शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत इन पंक्तियों का रूपान्तर देखिए :—

"पशु पालन संग प्रवेश कियो पुर—
में प्रभु देखत देखत जाय।
ढरि कंचन सी किरनैं रवि की जहं
सोन को नीर रहीं झलकाय।
सब बीथिन में पुर की परि कै पर—
छाईं रहीं अति दीरघ नाय।
पुर-द्वार के पार जहां प्रतिहार
खड़े बहु दीरघ दंड उठाय।

---

*स्वामी विवेकानन्द की शिष्या होकर भारत में बहन निवेदिता के रूप में प्रसिद्ध होनेवाली श्री मारगरेट नोबल नामक अमरीकन महिला ने 'राजगिर' सम्बन्धी अपने लेख में कहा है :—

"There can be few places in the world so old as Rajgir, about which so much is definitely known and so much safely to be inferred. It was in all probability about the year 590 B. C.—in a world in which Babylon, Phoenicia, Egypt and Sheba were of all facts most living and important—it was about the year 590 B. C. that there came along the road leading into the Valley yonder, one whose very form was radiant with feeling and thought that lifted him above the common world into that consciousness that makes history."

पशु लै प्रभु को तिन आवत देखि
दयो पथ सादर मौनहिं धारि।
सब हाट की बाट में बैठनहार
लई बगरी निज बस्तुन टारि।
झगरो निज रोकि कै गाहक औ
बनियाहु रहे मृदु रूप निहारि।
कर बीच हथौड़ो उठाय लुहार
गयो रहि नाहिं सक्यो घन मारि।
तनिबो तजि ताकि जुलाह रहे
बहु लेखक लेखनि हाथ उठाय।
गनिबो निज पैसन को चकराय
गयो सुधि खोय सराफ भुलाय।
नहिं अन्न की राशि पै काहु की आँखि
रहे सुख सों मिलि साँड़ चबाय।
मटकी पर धार चली पय की बहि
ग्वाल रहे प्रभु पै टक लाय।"

अंगरेज़ी की मूल पंक्तियों से हिन्दी की पंक्तियों की तुलना करने पर पाठक देखेंगे कि शुक्ल जी सर एड्विन आरनोल्ड के भावों को तो पूर्णतया व्यक्त कर ही सके हैं, साथ ही अपनी सुन्दर अभिव्यक्ति द्वारा, विशेष कर महावरेदार भाषा का प्रयोग कर के उन्होंने मूल को भी चमका दिया है। 'Cowries' के स्थान में 'पैसन', 'लोटा' के स्थान में 'मटकी', 'Watched' के स्थान में 'रहे टक लाय' आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

शुक्ल जी अनुवाद ही को सुन्दर बनाकर सन्तुष्ट नहीं हुए; उन्होंने अनुवाद को एक नवीन मूल के स्तर पर पहुँचाने के लिए उसके किनारों पर मनोहर गोटे भी लगा दिए हैं; उदाहरण के लिए उक्त प्रसंग में निम्नलिखित पंक्तियों की नियोजना देखिए :—

"पुर नारि जुरी बहु बूझति हैं—
"बलि हेतु लिये पशु को यह जात?
शुचि शान्ति भरी मृदुता मुख पै
अति कोमल मंजु मनोहर गात।
कहु जाति कहा इनकी? इन पाये
कहां अति सुन्दर नैन-लजात?

तन धारि अनंग किधौं मघवा
यह जात चलो गति मंद लखात।"

'बुद्धचरित' के भाषान्तर-स्वरूप के सम्बन्ध में इस संक्षिप्त कथन के अनन्तर हम थोड़ी देर के लिए इस बात को भुला दें कि वह अनुवाद है; वास्तव में तभी हम इस काव्य का पूरा स्वाद पा सकेंगे। साहित्य-प्रेमियों को यह ज्ञात है कि काव्य के भीतर संश्लिष्ट वर्णन और चित्रण के प्रति शुक्ल जी सदैव आग्रहशील रहे हैं; 'बुद्धचरित' में इस विशेषता के दर्शन हमें अगणित स्थलों पर होते हैं। उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियां यहां प्रस्तुत की जाती हैं :—

संश्लिष्ट वर्णन

"निखरी रैन चैत पूनों की अति निर्मल उजियारी।
चारु हासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी।
अमराइन में धँसि अभियन को दरसावति बिलगाई।
सींकन में गुछि झूलि रहीं जो मंद झकोरन पाई।"

× × ×

"कहत यों प्रभु शैल तट पथ धरे गे कछु दूरि।
खुरन के आघात सों तहँ उठति देखी धूरि।
झुंड भारी भेड़ छेरिन को रह्यो है आय।
ठमकि पाछे दूब पै कोउ देति मुखै चलाय।
जितै झलकत नीर, गूलर लसी लटकति डार।
लपकि ताकी ओर धावैं छाँड़ि पथ द्वै चार।
जिन्हैं बहकत लखि गड़ारियो उटत है चिल्लाय।
लकुट सों निज हाँकि पथ पै फेरि लावत जाय।
लखी प्रभु इक भेड़ आवति युगल बच्चन सङ्ग।
एक जिनमें ह्वै रह्यो है चोट सों अति पङ्ग।
छूटि पाछे जात रहि रहि चलत है लँगरात।
थके नान्हें पाँव सों है रक्त बहत चुचात।
ठमकि हेरति ताहि फिरि फिरि तासु जननि अधीर।
बढ़त आगे बनत है नहिं देखि शिशु की पीर।
देखि यह प्रभु लियो बढ़ि लँगरात पसुहिं उठाय।
लादि लीनो कन्ध पै निज करन सों सहराय।"

इन पंक्तियों में चाँदनी के प्रकाश में आम्रमंजरियों के गुच्छों का झूलना, कभी दूब पर मुँह चला देने वाली, कभी गूलर से लसी लटकती डार की

ओर लपकने वाली भेड़ों और बकरियों का बहकना, उन्हें इस प्रकार राह छोड़ते देखकर गड़रिये का चिल्ला उठना तथा अपनी लठिया से उन्हें राह पर लाना, मेमने का लँगड़ाना, उसकी माँ का अधीर होना तथा इस करुण दृश्य से प्रभावित होकर करुणानिधान बुद्धदेव का उसे अपने करकमलों से सहला कर कंधे पर लाद लेना—यह सब स्वाभाविक मार्मिकता के साथ कितना सजीव हो उठा है !

'बुद्धचरित' के प्रथम सर्ग में प्रकृति के नग्न सौन्दर्य के बीच श्रम-मग्न किसानों के जीवन का एक मनोहर चित्र अंकित हुआ है :—

"कहूँ नव किंशुक जाल सों लाल लखात घने बन खंड के छोर,
परैं जहँ खेत सुनात तहाँ श्रम लीन किसानन को कलरोर।
लिये खरिहानन में सुथरे पथ पार पयार के ढूह लखात।
मढ़े नव मंजुल मोरन सों सहकार न अंगन माहिं समात।
भरी छवि सों छलकाय रहे मृदु सौरभ लै बगरावत बात।
चरैं बहु ढोर कछारन में जहं गावत ग्वाल नचावत गात।
लदे कलियान औ फूलन सों कचनार रहे कहूँ डार नवाय।
भरो जहं नीर धरा रस भींजि कै दीनी है दूब की गोट चढ़ाय।
रह्यो कलगान विहंगन को अति मोद भरो चहुँ ओर सों आय।
कहूँ लघु जंतु अनेक, भगैं पुनि पास की झाड़िन को झहराय।
डोलत हैं बहु भृङ्ग पतङ्ग सरीसृप मंगल मोद मनाय।
भागत झाड़िन सों कढ़ि तीतर पास कहूं कछु आहट पाय।
बागन के फल पै कहुँ कीर हैं भागत चोंच चलाय चलाय।
धावत हैं धरिबे हित कीटन चाव घनी चित चाह चढ़ाय।
कूकि उठै कबहूँ कल कंठ सों कोकिल कानन मैं रस नाय।
गीध गिरैं छिति पै कछु देखत, चील रहीं नभ में मँड़राय।
श्यामल रेख धरे तन पै इत सों उत दौरि कै जाति गिलाय।
निर्मल ताल के तीर कहूँ बक बैठे हैं मीन पै ध्यान लगाय।
चित्रित मन्दिर पै चढ़ि मोर रह्यो निज चित्रित पंख दिखाय।
ब्याह के बाजन बाजन की धुनि दूर के गांव में देति सुनाय।"

'बुद्धचरित' के चौथे सर्ग में बुद्धदेव के महाभिनिष्क्रमण का वर्णन आया है। यशोधरा की सहेलियां दिन भर के आमोद-प्रमोद और हास-विलास के अनन्तर थककर सो गयी हैं; यशोधरा और वे यह नहीं जानतीं कि उनके जीवन में क्रान्ति कर देनेवाली कितनी महती घटना उसी रात को संघटित हो रही

प्रकृति निरीक्षण

है। नीचे की पंक्तियों में सोयी हुई सखियों के चित्रण के प्रसंग में शुक्ल जी का काव्यगत कोमल और मधुर पद-विन्यास, सुन्दर और सरस प्रवाह तथा अनुपम प्रकृति-निरीक्षण-कौशल देखने-योग्य है :—

"सोवतीं सँभार बिनु सोभा सरसाय गात
आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओपधर।
चीकने चिकुर कहूँ बँधे हैं कुसुमदाम
कारे सटकारे कहूँ लहरत लङ्क पर।
सोवैं थकि हास औ विलास सों पसारि पायं
जैसे कलकंठ रसगीत गाय दिन भर।
पंख बीच नाये सिर आपनो लखाति तौलौं
जौ लौं न प्रभात आय खोलन कहत स्वर।
सखियाँ द्वै आपस में जोरि गर गयीं सोय
गुहत गुहत गुच्छ मोगरे को महकत।
प्रेम पाश-रूप रह्यो बाँधि अंग अंगन जो
अंतस् सो अंतस् मिलावत न सरकत।
सोयबे के प्रथम पिरोवत रहीं है कोउ
कंठहार हेतु मोती मानिक औ मरकत।
सूत में पिरोये रहे अरुझि कलाई बीच
रङ्ग रङ्ग को प्रकाश तिनसों है झलकत।
ह्वै कै परी लाँबी कोऊ बीना लै कपोल तर
आँगुरी अरुझि रहीं अब ताईं तार पर।
वाही रूप जैसे जब कढ़ति सो तान रही
भूमि रस जाके झँपे लोचन बिशालबर।
लै कै परी कोऊ मृग शावक हिये तें लाय
सोय गयो टुंगत कुसुम पाय तासुकर।
कुतरो कुसुम लसै कामिनी के कर बीच
पाती लपटानी हरी हरिन अधर तर।"

इन पंक्तियों में भाषा की तरंगित प्रगति, सजीव शब्दों का प्रयोग, भावों की मार्मिकता प्रभावमयी है। चित्रों की योजना तो ऐसी है मानों ढाई हजार वर्षों पूर्व की घटना आज आँखों के सामने हो रही है।

शुक्ल जी का ब्रजभाषा-प्रेम आसक्ति की सीमा को पहुँचा हुआ था।

खड़ी बोली के समृद्धि-काल में रहकर भी तथा काल-प्रेरणा से खड़ी बोली में काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त होकर भी वे ब्रजभाषा को स्नेहार्द्र दृष्टि से देखते रहे। यही नहीं, उन्होंने ब्रजभाषा में संस्कृत शब्दों को तत्सम रूप में रखकर यह उद्योग भी किया कि नये युग के भावों को वहन करने की क्षमता धारण कर के वह नवीन आकर्षण-शक्ति से सम्पन्न हो जाय। उक्त पंक्तियों में पाठक देखेंगे कि अनेक शब्दों का संस्कृत रूप ही शुक्ल जी ने प्रयोग में लाना पसंद किया है। किन्तु उनकी इस शैली का प्रचार नहीं हो सका, क्योंकि स्वयं 'बुद्धचरित' ही का प्रचार एक संकीर्ण घेरे तक परिमित रह गया; उनका संदेश उचित ढंग से ब्रजभाषा-प्रेमी कवियों के पास पहुँच ही नहीं सका। उनकी एकान्तप्रियता भी उनके विचारों के प्रसार में बाधक थी। वे सभाओं-सम्मेलनों से दूर भागा करते थे और भाषण-व्याख्यान के अवसरों से भी लाभ नहीं उठाते थे।

ब्रजभाषा-प्रेम

आगे हम रचनात्मक निबंधकार के रूप में शुक्ल जी का अध्ययन करेंगे।

अध्याय ४

योरप में निबन्ध का जन्म और विकास

शुक्ल जी के निबन्धों का अध्ययन प्रारम्भ करने के पहले यह अच्छा होगा कि हम निबन्ध-लेखन-कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त कर लें।

संसार के प्रथम निबन्धकार माइकेल डी मांटेन का जन्म फ्रांस में पीरे ईक्म के यहां २८ फरवरी, १५३३ को हुआ था। अपने निबन्धों को उसने बोर्डो नामक नगर में सन् १५८० ई० में प्रकाशित किया। निबन्ध-संग्रह का द्वितीय संस्करण सन् १५८२ में, तृतीय संस्करण सन् १५८७ में और चतुर्थ संस्करण सन् १५८८ में प्रकाशित हुआ। अपनी नवीन शैली की कृति की अपूर्व सफलता देखकर प्रसन्न होने का अवसर उसे अधिक नहीं मिला; सन् १५९२ की १३ वीं सितम्बर को वह स्वर्गवासी हो गया।

निबन्ध-शैली का जन्म-दाता माइकेल मांटेन

मांटेन के उक्त निबन्धों का चार्ल्स काटन नामक सज्जन ने अंगरेजी में अनुवाद किया है तथा इस अनुवाद का सम्पादन विलियम केरिव् हैज़लिट द्वारा सम्पन्न हुआ है। हैज़लिट महोदय ने अपनी भूमिका में मांटेन की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

"[1]यह महान् फ्रांसीसी लेखक न केवल अपनी जन्मभूमि में, वरन समस्त देशों और समस्त साहित्यों में प्रामाणिक रूप में ग्रहण किये जाने के योग्य है। उसके निबन्ध प्रसिद्ध होने के साथ साथ उसकी ऐसी स्थायी रचनाएँ हैं जिनसे बेकन और शेक्सपियर जैसे विचारवान् लेखकों ने भी सहायता लेने में संकोच नहीं किया और जैसा कि हैलम ने कहा है, इस फ्रांसीसी लेखक का साहित्यिक महत्व बहुत अधिक मात्रा में

---

१ "This great French writer deserves to be regarded as a classic, not only in the land of his birth, but in all countries and in all literatures. His essays which are at once the most celebrated and the most permanent of his productions, form a magazine out of which such minds as those of Bacon and Shakespeare did not disdain to help themselves; and indeed, as Hallam observes, the Frenchman's literary importance largely results from the share which his mind had in influencing other minds, coeval and subsequent."

न यश की कोई कामना। * * * यदि लोकप्रियता प्राप्त करने की मुझे लालसा होती तो मैंने परकीय साधनों से भी सौन्दर्य-संग्रह करके अपने को अलंकृत किया होता। अपनी इस कृति में मैं अपने प्रकृत, सरल, साधारण रूप ही में, किसी कृत्रिम बनावट और सजावट के बिना, देखा जाना चाहता हूँ; क्योंकि मैंने तो अपना ही चित्र अंकित किया है। यदि मैं उन प्रकृत निवासियों के बीच में रहा होता, जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे प्रकृति के आदिकालीन नियमों की मधुर स्वतन्त्रता का रसास्वादन करते हुए जीवन-यापन करते हैं, तो, मैं विश्वास दिलाता हूँ कि, मैंने स्वेच्छापूर्वक अपना पूर्ण तथा समस्त आवरण-मुक्त चित्रण किया होता। इस प्रकार, पाठक, कोई कारण नहीं है कि तुम अपना अवकाश ऐसे हलके और व्यर्थ अहंतामय विषय के लिए व्यय करो।"

पाठक हैज़लिट महोदय द्वारा निबन्धों की प्रशंसा देख चुके हैं, वे उन्हें प्रामाणिक साहित्य के अन्तर्गत सम्मानित करना चाहते हैं और स्वयं निबन्धकार महाशय अपने पाठक को उन सारहीन रचनाओं के सम्बन्ध में समय नष्ट करने से मना कर रहे हैं। जो हो, योरप भर में निबन्धों की बेहद ख्याति हुई और इंग्लैण्ड के लेखकों ने भी इस रचना-शैली को अपनाया।

मांटेन के निबन्धों में अनियंत्रित आत्मश्लाघा-प्रवृत्ति के सम्बन्ध में अँगरेज निबन्धकार ऐडिसन ने लिखा है :—

[1]"ख्याति-प्राप्त निबन्धों का लेखक मांटेन शायद उन सभी अहंवादी व्यक्तियों में

---

with borrowed beauties; I desire therein to be viewed as I appeal in mine own genuine, simple and ordinary manner, without study and artifice; for it is myself I paint. If I had lived among these nations which (they say) yet dwell under the sweet liberty of nature's primitive laws, I assure thee I would most willingly have painted myself quite fully and quite naked. Thus, reader, there's no reason thou shouldst employ thy leisure about so frivolous and vain a subject."

१. "Perhaps the most eminent egotist that ever appeared in the world was montaigne, the author of the celebrated essays. This lively old Gascon has woven all his bodily infimities into his works and after having spoken of the faults, virtues of any other man, immediately publishes to the world how it stands with himself in that particular. ** The title of an essay promises perhaps a discourse upon Virgil or julius caesar, but when you look into it, you are sure to meet with more upon Monsieur Montaigane than of either of them."

प्रधान था जो संसार में कभी भी उत्पन्न हुए। इस सजीव आत्मश्लाघी ने अपने व्यक्तित्व की समस्त दुर्बलताओं को अपनी रचनाओं में गूँथ दिया है। किसी के भी गुणों और दोषों की चर्चा करने के अनन्तर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार वह तुरन्त ही यह प्रकाशित करेगा कि स्वयं उससे वह किस प्रकार सम्बन्धित है। × × × निबन्ध का शीर्षक देखकर आप तो यह आशा करते हैं कि उसमें वर्जिल अथवा जूलियस-सीज़र पर कोई व्याख्यान मिलेगा, किन्तु जब आप उसके भीतर देखते हैं तो आप को जितनी सामग्री मांटेन महाशय के सम्बन्ध में मिलती है उतनी न वर्जिल के सम्बन्ध में और न जूलियस सीज़र के सम्बन्ध में।'[1]

जो हो, मांटेन ने निबन्ध (Essay) में आत्मचरित-तत्त्व के समावेश की अनिवार्यता का जो निर्देश किया उसे सम-सामयिक सभी लेखकों ने स्वीकार किया। योरप भर में उसकी शैली का धूमधाम के साथ प्रचार हुआ।

अंगरेजी निबन्ध

अंगरेजी गद्य-साहित्य में निबन्ध लिखने की कला का बहुत सुन्दर विकास हुआ; फ्रांसिस बेकन, स्टील, ऐडीसन, गोल्डस्मिथ, हैज़लिट, सैमुएल जानसन, स्टीवेंसन, कार्लाइल, रस्किन, मेकाले आदि निबन्धकारों ने साहित्यिक अभिव्यक्ति के इस साधन को खूब माँजा और सँवारा। आत्मोद्गारमयी कहानियों और गूढ़ गंभीर लेखों के मध्य में स्थित होकर उनके निबन्धों ने पाठकों के सामने ज्ञान-प्राप्ति का एक सुन्दर और सरल माध्यम प्रस्तुत कर दिया। निस्सन्देह कभी-कभी वैयक्तिक चित्रण की अधिकता हुई और निबन्ध आत्मश्लाघा का भी द्वार खोलने लगा। ऐसी अवस्था में असंयत आत्म-प्रशंसा को आलोचना का भय होने लगा। इस कारण कोई-कोई लेखक अपना असली नाम छिपाकर निबन्ध लिखते तथा उसमें अनियन्त्रित वैयक्तिक चित्रण को प्रधानता देते थे। ऐसे लेखकों में लैम्ब और गार्डिनर का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने क्रमशः अपने 'इलिया' और 'ऐल्फा आव् द् प्लाऊ' ('Elia' and 'Alpha of the plough') नामक निबन्ध में उक्त प्रवृत्ति का परिचय दिया।

लैम्ब और गार्डिनर ने निबन्ध के जिस सम्भव दुरुपयोग से हमें परिचित कराया है उसके सम्बन्ध में सावधान रहकर ही हमें निबन्ध लेखन की ओर पैर बढ़ाना चाहिए। सन्तोष की बात है कि अभी हिन्दी में ऐसा कोई लेखक नहीं हुआ है जिसमें यह दोष दिखायी पड़ा हो, किन्तु इसका एक कारण यह हो सकता है कि हमारे यहाँ निबन्ध लिखने की ओर अभी बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया गया है।

ऐडिसन ने मांटेन को अहंवादी कहा है, किन्तु विवश होकर उसे भी

अपने निबन्धों में आत्मचरिततत्त्व को रखना ही पड़ा है। अपने एक निबंध में वह कहता है—

[१] "मैंने प्रायः यह देखा है कि पाठक को पुस्तक के पढ़ने में तब तक मनोरंजन की प्राप्ति नहीं होती जब तक वह यह नहीं जान लेता कि उसका लेखक काला है या गोरा, मीठे स्वभाव का है अथवा चिड़चिड़ा है, विवाहित है अथवा कुमार है तथा अन्य विविध बातें जिनकी जानकारी से लेखक को समझना सुगम हो जाता है। इस कौतूहल की तृप्ति के लिए, जिसका पाठक में होना सर्वथा स्वाभाविक है, मैं आगे की रचनाओं के लिए दो निबन्ध प्राक्कथन के रूप में दे रहा हूँ। मैं उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी कुछ विवरण दूँगा जिनका इस कार्य्य में सहयोग है। इस कारण कि संग्रह, संकलन, संशोधन आदि-सम्बन्धी परिश्रम का दायित्व विशेष कर मुझ पर ही पड़ेगा, मुझे अपने ही इतिहास से कार्यारम्भ करके अपने प्रति औचित्य-निर्वाह करना चाहिए।"

पाश्चात्य निबंन्ध में एक ओर आत्मकथन, आत्मप्रशंसा, आत्मज्ञापन की यह प्रवृत्ति बढ़ी, दूसरी ओर अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में गुप्त अथवा प्रगट रूप से, उपहास के अस्त्र के द्वारा निंदनीय आक्रमण करने का चसका भी बढ़ा। जिस कवि में साधना नहीं है वह मनोविचारों से प्रभावित होकर और साधक कवि भी कभी कभी दुर्बलता के चपेट में पड़कर अपने हृदय के हलके उद्‌गारों को पद्य-पंक्तियों में व्यक्त करता रहा है। मानव-प्रकृति सर्वत्र एक सी है और सभी भाषाओं में इस प्रकार की रचनाओं का मिलना स्वाभाविक है। जिस भाषा में गद्य का विकास प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ रहता है, उसमें उक्त प्रकार के आक्रमणपरक लेख गद्य में भी लिखे जाने लगते हैं। लेख पद्य में हो या गद्य में, कला की सर्वाधिक उत्कृष्टता और सफलता उसमें तभी दृष्टिगोचर होती है जब आक्रमण का लक्ष्य किसी व्यापक उद्देश्य को लेकर चले और साथ ही विशेष उद्देश्य की पूर्ति भी गर्भित रूप से

१. "I have observed, that a reader seldom peruses a book with pleasure till he knows whether the writer of it be a black or a fair man, of a mild or choleric disposition, married or a bachelor, with other particulars of the like nature, that conduce very much to the right understanding of an author. To gratifiy this curiosity, which is so natural in a reader, I design this paper and my next as prefatary discourses to my following writings, and shall give some account in them of the several persons that are engaged in this work. As the chief trouble of compiling, digesting and correcting will fall to my share, I must do myself the justice to open the work with my own history."

हो जाय। अँगरेजी साहित्य में पद्यात्मक व्यङ्गबाण चलाने की कला में प्रसिद्ध कवि पोप बड़े ही प्रवीण थे। प्रख्यात निबन्धकार ऐडिसन के विरोधी हो जाने पर उन्होंने, अपनी दूषित मनस्तुष्टि के लिए, अपनी एक [1]रचना में एक पात्र‡ का चित्रण करने के अवसर पर अपनी उक्त प्रतिभा का उपयोग अथवा दुरुपयोग किया। संस्कृत और हिन्दी साहित्य में भी इस प्रकार के प्रयत्न खोजे जा सकते हैं, जिनमें लेखक ने अपने द्वेष और घृणा के भाव को व्यक्त करने के लिए लेखनी संचालित की है। यहाँ उदाहरण देने की मैं आवश्यकता नहीं समझता।

किन्तु इस भ्रम में न पड़ जाना चाहिए कि व्यङ्गात्मक निबन्ध (Satire) सदैव मन की कलुषित वृत्तियों ही को चरितार्थ करने के लिए काम में लाया जाता है। सच बात यह है कि यदि अविचारशील व्यक्ति के हाथ में पड़ कर तलवार अनिष्ट कर सकती है तो विचारशील व्यक्ति का अस्त्र बन कर वही अत्याचारों का संहार कर सकती है। ऐसे क्षेत्रों की कमी नहीं है जिन्हें अपना लक्ष्य बना कर व्यंगात्मक निबन्ध उच्च कोटि की सामाजिक सेवा का कार्य कर सकता है। अँगरेजी साहित्य में इसका सदुपयोग भी हुआ है। ऐडिसन कहता है:—

"यदि नगर में, राजदर्बार में अथवा देश में मुझे ऐसी कोई चीज़ मिलेगी जिससे सुसंस्कृति अथवा शिष्टता को धक्का लगने की संभावना पायी जायगी, तो अपनी सम्पूर्ण लेखन-शक्ति का प्रयोग करके मैं उस पर प्रहार करूँगा, जिससे वह औरों के लिए उदाहरण-स्वरूप हो जाय। साथ ही मैं प्रत्येक व्यक्ति से प्रार्थना करूँगा कि वह स्वयं को, अपने किसी मित्र को अथवा शत्रु को मेरे आक्रमण का लक्ष्य न कल्पित कर ले। क्योंकि मैं इस बात का आश्वासन देता हूँ कि मैं किसी ऐसे सदोष चरित्र का अंकन ही नहीं करूँगा जो कम से कम एक सहस्र व्यक्तियों पर सटीक न बैठता हो। साथ ही मैं ऐसा कोई निबन्ध ही नहीं प्रस्तुत करूँगा जो मानव के प्रति प्रेम की भावना से न लिखा गया हो, जिसके मूल में उपकार करने की प्रेरणा न विद्यमान हो।"

व्यंगात्मक निबन्ध का साधारणीकरण

सच बात यह है कि आजकल के जटिल समाज में व्यंगात्मक निबन्ध जिस प्रकार का प्रभावशाली कार्य कर सकता है उसकी ओर हिन्दी-लेखकों का ध्यान बहुत कम गया है और बहुत कम जा रहा है। यदि किसी ने व्यंगात्मक रचना की ओर ध्यान भी दिया तो प्रायः वह साहित्य की कोटि से नीचे उतर कर व्यक्तिगत घृणा और द्वेष को चरितार्थ करने लगता है। व्यंग का

१ Epistle to Arbuthnot ‡Atticus

स्तर इतना ऊचा उठाया जाना चाहिए कि उससे मनुष्य मात्र का मनोरंजन हो सके, स्वयं व्यंग का पात्र भी मनोविनोद में सम्मिलित हो तथा शान्त, अज्ञात और गुप्त रूप से उसके रचनात्मक प्रभाव को ग्रहण कर अपने को उन विशेषताओं से मुक्त कर ले जो व्यंग के आघात को उसकी ओर प्रधावित करती हैं। यदि केवल एक शब्द के द्वारा इस विचार को व्यक्त करना चाहें तो कह सकते हैं कि व्यंगात्मक निबन्ध का भी 'साधारणीकरण' होना चाहिए। इसकी ओर ध्यान आकर्षित करने के अभिप्राय से प्रयाग विश्वविद्यालय की उच्चश्रेणियों के हिन्दी विद्यार्थियों से एक बार अपने भाषण में मैंने कहा था कि उन्हें अपने नेताओं और साहित्यकारों के सम्बन्ध में व्यंगात्मक निबन्ध लिखने का अभ्यास करना चाहिए, उससे हिन्दी का निबन्ध-साहित्य समृद्ध होगा, साथ ही समाज का सुन्दर और मार्मिक चित्र उपलब्ध होने से हमारे देशवासियों का अनन्त कल्याण होगा। मैंने यह भी आग्रह किया था कि व्यंगात्मक रचना का उद्देश्य किसी को कष्ट देना नहीं, वरन आनन्द पहुँचाना है। किन्तु मेरी बात श्रोताओं को विस्मयजनक प्रतीत हुई; व्यंग के प्रहार का अर्थ क्लेश देनेवाला कार्य समझने के कारण वे व्यंगात्मक निबन्ध के उस स्वरूप तक न पहुँच सके जो साधारणीकरण की प्रक्रिया-द्वारा उसे प्राप्त होता है। यदि लेखक में अपने आलम्बन के प्रति घृणा, द्वेष आदि व्यक्तिगत दुर्भाव विद्यमान रहेंगे तो उसकी रचना का स्वाद तो उसी तक सीमित रह जायगा, सर्वसाधारण को उससे कोई रुचि नहीं रह जायगी, सहृदय मात्र को उससे सहानुभूति नहीं हो सकेगी, अर्थात् साधारणीकरण सम्भव नहीं होगा। अतएव यदि व्यंगात्मक निबन्ध को साहित्य की कोटि में ले आना है और उसे साहित्यिक मात्र के अस्वाद के लिए सुलभ करना है तो उसका साधारणीकरण अवश्य होना चाहिए; उससे रहित होकर निबन्धगत प्रहार कलह-मग्न कौओं के काँव-काँव के सिवा और कुछ न रह जायगा।

व्यंगात्मक निबन्ध के लिए लेखनी उठाते ही लेखक का द्वेष अथवा घृणामूलक भाव उसे आक्रान्त करता है। इस प्रथम प्रलोभन पर विजय प्राप्त करके लेखक को चाहिए कि वह अपने आलम्बन के केवल उन दोषों को दृष्टि के सामने रखे जिनकी शिकायत अधिकांश लोग करते हैं। एक बात और, लेखक को अपने आलंबन के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखनी चाहिए जो दोषों के चित्रण के साथ ही रचना में स्पष्ट रूप से झलकती चले। आलंबन के अवगुणों के वर्णन में तीखापन न होना चाहिए, साथ ही गुणों के

वर्णन में माधुर्य होना चाहिए। इतनी साधना करने पर ही लेखक व्यक्तिगत क्षुद्रताओं से परे होकर ऐसी व्यंगात्मक रचना कर सकेगा जो साहित्य की सम्पत्ति हो सकेगी।

ऐडिसन के निबन्धों में उच्चकोटि का साधारणीकरण पाया जाता है, जिससे उसकी प्रभावशीलता बहुत बढ़ गयी है। यह इस कारण संभव हुआ है कि वे, जैसा कि उनकी पूर्वोद्धृत पंक्तियों से स्पष्ट होगा, किसी एक व्यक्ति पर आक्रमण नहीं करते, वरन व्यक्तियों की एक बड़ी जमात पर आक्षेप करते हैं, दूसरे उनके आक्रमण के मूल में प्रेम रहता है जो सब प्रकार की स्थूलोक्तियों के लिए अनिवार्य नियंत्रण प्रस्तुत करता रहता है। इसी आदर्श को सामने रख कर हिन्दी में व्यंगात्मक निबन्ध का प्रचार और प्रसार होना चाहिए।

कहना नहीं होगा कि इस प्रकार के व्यङ्गात्मक निबन्ध लिखने की क्षमता शुक्ल जी में थी, किन्तु रचनात्मक प्रवृत्ति का ह्रास होते चलने के कारण वे इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सके। अन्य लेखकों द्वारा इस कला का विकास हिन्दी में हो रहा है।

———

अध्याय ५

हिन्दी में निबन्ध और प्रबन्ध

कहा जा चुका है कि विवेचनात्मक प्रवृत्ति के अधिकाधिक विकास के कारण क्रमशः शुक्ल जी की रचनात्मक प्रवृत्ति अवरुद्ध होने लगी; पांडित्य और बौद्धिकता के भार ने उसे आक्रान्त कर दिया। परिणामतः निबन्ध-लेखन के क्षेत्र में दोनों ही का समन्वय सम्पन्न हुआ। इस क्षेत्र में भी विशुद्ध भावात्मक निबन्ध ने उन्हें विशेष रूप से आकर्षित नहीं किया; यहाँ भी विचारात्मक निबन्ध का आक्रमण सफल हुआ। साहित्य-निर्माण के इस विभाग में उनकी प्रगति के मूल्यांकन की ओर अग्रसर होने के पहले हमें निबन्ध के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें समझ लेनी होंगी।

शुक्ल जी निबन्ध-लेखन के क्षेत्र में

स्वाधीनता के इस युग में बन्धन कोई नहीं चाहता। विद्यार्थी तो सदैव छुट्टी चाहते ही थे, अब अध्यापक भी लम्बी छुट्टी माँगने लगे हैं। लेकिन विद्यार्थी हो अथवा अध्यापक, यदि दोनों में से किसी एक को भी सदा सर्वदा के लिए काम से छुट्टी दे दी जाय तो यह छुट्टी अखरने लगेगी और बन्धन को नये सिरे से गले लगाने के लिए दौड़-धूप शुरू हो जायगी।

प्रबन्ध और निबन्ध के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के दृष्टिकोण

विद्यार्थी और अध्यापक की बात जाने दीजिए; 'निरंकुशाः कवयः' कहकर कवि की प्रशंसा की गयी है, किन्तु स्वतन्त्र कवि भी अपनी स्वतन्त्रता को कुछ समय के लिए नमस्कार कर के अपने प्रबन्ध की रचना में लगता हैं, अपने बन्धन का निर्माण करता है। किस कवि का 'प्रबन्ध' अथवा 'बन्धन' कितना उत्कृष्ट है, इसका निर्णय बुद्धिमान जन करते हैं और परीक्षा के अनन्तर विभिन्न मात्रा में सन्तोष का अनुभव कर के उसे बाल कवि घोषित करते हैं अथवा आदरपूर्वक कुशल कवि की उपाधि देते हैं। शायद बाल-कवियों को भयभीत करने के अभिप्राय से ही तुलसीदास जी ने कहा है—

"जेहि प्रबन्ध बुध नहि आदरहीं।
सो श्रम बादि बालकवि करहीं।"

बेचारे 'बन्धन' को लोगों ने बदनाम कर रखा है, इस कारण उसकी चर्चा करना ही व्यर्थ है, 'प्रबन्ध' की उम्र लगभग चार सौ वर्ष की हो गयी है, बूढ़ा होकर वह जर्जर हो गया है, इससे 'रामचरितमानस' की पंक्तियों में शयन करने के अतिरिक्त उसकी अन्य समस्त उपयोगिता घटती जा रही है। हाँ, निबन्ध में नये रक्त की लाली है, ताजी चमक-दमक है, अतएव उसकी ओर सभी का आकर्षित होना स्वाभाविक है। बूढ़े 'प्रबन्ध' ने यदा-कदा करवट भी ली है; भारतेन्दु के 'संगीतसार' में हम देखते हैं—"हमारे 'प्रबन्ध' के पढ़नेवालों को एक ही रागिनी का नाम बारम्बार कई रागों में देखकर आश्चर्य होगा।" 'प्रबन्ध' का भाग्य जगाने के अभिप्राय से अथवा अनुप्रास के लोभ से, पता नहीं क्यों, श्री गुलाबराय के ४१ निबन्धों के एक संग्रह का नाम 'प्रबन्धप्रभाकर' है। यदि यहां अनुप्रास के आकर्षण ही को प्रधान मान लें तो एक अन्य उदाहरण पंडित सकलनारायण शर्मा का लीजिए; उन्होंने तो स्पष्ट रूप से 'प्रबन्ध' को सोते से उठा कर खड़ा करना ही चाहा है, क्योंकि उनके संग्रह का नाम 'प्रबन्धरत्नाकर' है; स्मरण रहे कि अनुप्रास की हानि करके भी यह नाम रखा गया है; अनुप्रास की रक्षा अभीष्ट होती तो लेखक महोदय 'प्रबन्धरत्नाकर' न कह कर 'निबन्धरत्नाकर' कहना ही उचित समझते। वास्तव में यहाँ 'प्रबन्ध' का पक्षपात ही अभिप्रेत है। लेकिन इन छोटी छोटी कमजोर थूनियों के सहारे 'प्रबन्ध' का यह जराजीर्ण छप्पर वर्त्तमान आवश्यकताओं की घनघोर वर्षा के आघात सहन नहीं कर सकेगा। सच बात यह है कि तुलसीदास जी उसे जितना स्थान दे गये हैं, केवल उतना ही उसके पल्ले पड़ेगा, शेष पर धीरे धीरे निबन्ध का अधिकार हो जायगा।

एक विद्वान् ने 'सम्बद्ध विचार तथा विषयवाली व्यापक रचना' को प्रबन्ध माना है तथा निबन्ध को व्यक्तित्व-प्रधान, संक्षिप्त, स्वतन्त्र तथा शिथिलतापूर्ण रचना बतलाया है। इस मान्यता के अन्तर्गत भी 'प्रबन्ध' को उतना ही स्थान मिल सका है जितना गोस्वामी तुलसीदास की पंक्तियों ने उसे दे रखा है।

'प्रबन्ध' पर कृपा रखनेवाले कोई कोई ऐसे विद्वान् भी हैं जो दुरूहता'-मय तथा 'अध्ययन-प्रसूत' सिद्धान्तों, के प्रतिपादन से बोझिल निबन्धों को निबन्ध न कह कर 'प्रबन्ध' ही कहना चाहते हैं। यदि 'प्रबन्ध' को इतनी और जगह मिल जाती है तो रचना और विवेचना दोनों ही क्षेत्रों पर उसका अधिकार हो जाता है, उसके भाग्य जाग जाते हैं। विचारणीय केवल इतना ही शेष रह जाता है कि दुरूह एवं गूढ़ प्रतिपादन-विशिष्ट उक्त 'प्रबन्ध' का आकार कैसा होगा? उसमें विस्तारपूर्वक लिखित विवेचना ही सम्मिलित

होगी या वह भी जो परिमाण में निबन्ध ही की तरह छोटी है।

परिमाण का प्रश्न उठाना इसलिए आवश्यक है कि निबन्ध के प्रति बढ़ता हुआ अतिशय अनुराग कहिए अथवा बड़े भाई 'प्रबन्ध' पर उसकी विजय समझिए, अथवा उसका दुर्भाग्य कहिए, आज हम अपने 'निबन्ध' शब्द से भिश्ती, पीर, बबर्ची, खर सभी का काम ले लेना चाहते हैं। अनेक विद्वान् समीक्षात्मक निबन्ध के अन्तर्गत पंडित रामचन्द्र शुक्ल के 'साधारणीकरण' और 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद,' काव्य में 'लोकमंगल की साधनावस्था' आदि लेखों को तो रखते ही हैं, किन्तु हमारे अनेक आचार्य अपने शिष्यों को आशीर्वाद देते समय उनकी 'थीसिस' (Thesis) को भी 'निबन्ध' कह बैठते हैं। और यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 'थीसिस' किसी छोटे लेख का पर्यायवाची नहीं है। विचित्र बात तो यह है कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापकगण ने 'प्रबन्ध' के आरम्भ ही में लगे हुए अपने प्रिय 'प्र' उपसर्ग पर भी ध्यान नहीं दिया! बेचारे 'प्रबन्ध' के लिए अपनी ही बिरादरी के लोगों द्वारा यह कितना अपमानजनक व्यवहार है, इस पर सहृदय सज्जन विचार करें!

'प्रबन्ध' का अपमान कर के भी अगर हमारी कठिनाई हल हो जाती तो कोई चिन्ता की बात नहीं थी, किन्तु सच बात तो यह है कि हमारी समस्या हल होने के स्थान में कुछ अधिक उलझाव में पड़ जाती है। कारण यह है कि जब विचारात्मक निबन्ध के अन्तर्गत बता कर 'थीसिस' को भी हम निबन्ध मान लेते हैं तो भावात्मक निबन्ध के अन्तर्गत 'उपन्यास' को क्यों न ले सकेंगे? आखिर उपन्यास भी काव्यशास्त्र के नियमों का अनुसरण करता हुआ किसी स्थायीभाव के विकास की ओर ही तो अग्रसर होता है। तर्कसंगत प्रतीत होनेवाली यह बात बेचारे निबन्ध के बोझे को कितना अधिक बढ़ा देगी, इस ओर अधिकारी महानुभावों का ध्यान जाना चाहिए।

कम से कम एक बात तो स्पष्ट है और वह यह कि यदि हिन्दी के विद्वान् 'प्रबन्ध' का अधिकार हरण करना चाहते हैं तो वैसा करके भी वे 'निबन्ध' को तो एक सुनिश्चित, सुचिंतित, सुसंगठित स्वरूप दे दें; आज वह फुटबाल की तरह लोगों के पैरों की मार खाकर जिस तरह इधर से उधर मारा मारा फिर रहा है उससे तो हम उसे मुक्त करें। क्यों न दोनों के अधिकार क्षेत्र का बँटवारा कर दिया जाय? रचना और समीक्षा के विस्तृत और व्यापक प्रयत्नों पर प्रबन्ध की मुहर लगे तथा रचना और समीक्षा सम्बन्धी लघु कृतियाँ 'निबन्ध' के अन्तर्गत मानी जायँ। अधिक भार के कारण बेचारा

निबन्ध जो अभी लड़खड़ाता हुआ चल रहा है, कुछ सावकाश होकर प्रगति कर सकेगा।

यदि उक्त बँटवारा मान्य हो तो निबन्धों के संग्रह को 'प्रबन्धप्रभाकर' और 'प्रबन्धपारिजात' कहना बन्द कर दिया जाय। साथ ही इसके बदले में कुछ लोगों को 'थीसिस' शब्द के लिए 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग भी रोकना पड़ेगा। यदि ऐसा न किया गया तो गद्य साहित्य के अन्तर्गत 'प्रबंध' और निबंध की यह चढ़ा-ऊपरी पूरी अराजकता और धमाचौकड़ी के रूप में दिखायी पड़ने लगेगी।

ठीक-ठिकाने की जगह मिल जाने के अनन्तर 'निबन्ध' अपने लिए एक कुटी बना लेगा और उसमें अपनी सम्पूर्ण सम्पदा को क्रम से रख कर उसकी रक्षा कर सकेगा। अब हमें यह देखना चाहिए कि इस 'संपूर्ण संपदा' के भीतर किन किन वस्तुओं की गणना की जा सकती है।

किन्तु आगे बढ़ने के पहले हमें एक बात और अच्छी तरह समझ लेने की आवश्यकता है। क्या रचना और समीक्षा से संबन्धित जितनी लघुकाय कृतियाँ हैं वे सब की सब 'निबन्ध' के हवाले होंगी और उनकी सँभाल करने का उत्तरदायित्व उस पर होगा? अधिक स्पष्ट रूप में प्रश्न यह है कि क्या कहानी, गद्यकाव्य, संस्मरण, संपादकीय टिप्पणियां आदि भी 'निबन्ध' की सीमा के अन्तर्गत मानी जायँगी?

'निबन्ध' शब्द का प्रचलन

इस संबन्ध में किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले यदि हम यह जान लें कि 'निबन्ध' शब्द का हिन्दी में प्रचलन कब से हुआ तो इससे हमें विशेष सहायता मिलेगी। भारतेन्दु काल में हमारे साहित्य में 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग गद्य साहित्यिक रचना के उस स्वरूप को व्यक्त करने के लिए हुआ, जिसका प्रतिनिधि अँगरेजी शब्द (Essay) 'एसे' है। अंगरेजी साहित्य के समीक्षक 'एसे' शब्द के अन्तर्गत न कहानी को लेंगे, न संस्मरण को, न गद्यकाव्य को और न संपादकीय टिप्पणियों को, फिर भी इन सब के तत्वों से उसे विभूषित कर के उसका सौन्दर्यसाधन कर लेंगे। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक नहीं जान पड़ता कि हम अपने यहां 'निबन्ध' को इन सब के भार से बोझिल बनावें और इन्हें निबन्ध की शाखा-प्रशाखा के रूप में प्रदर्शित करें। क्यों न ऐसा निश्चय कर दिया जाय कि हम निबन्ध के सुकुमार कंधों पर उतना ही दायित्व डालेंगे जितना वह अनायास ही वहन कर सकता है? शेष सभी को प्रबन्ध के अन्तर्गत मान लेने में हमारी कोई क्षति नहीं है।

एक बात और। माता-पिता अपने नाबालिग बच्चों हा की देख-रेख के

लिए उत्तरदायी माने जा सकते हैं, बच्चों के बालिग हो जाने पर वे भी अपने कर्त्तव्य-पालन से छुट्टी पा जाते हैं। इसी प्रकार उपन्यास, कहानी आदि सब अब इतने सामर्थ्य के साथ अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं कि 'प्रबन्ध' को उन सब पर एक साधारण दृष्टि रखने के अतिरिक्त और कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हम देखेंगे कि जराजीर्ण 'प्रबन्ध' भी शक्तिशाली होकर अपने सुकुमार अनुज 'निबन्ध' को जीवन में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने का अवसर दे सकेगा।

निबन्ध के योग्य हिन्दी गद्यशैली का विकास

प्रतिकूल राजनैतिक परिस्थितियों के कारण हिन्दी गद्य का विकास बहुत विलम्ब से हुआ। पिछली ईसवी शताब्दी के तृतीय चरण में तो ऐसा संकट-काल उपस्थित हो गया था कि शिक्षा-विभाग में हिन्दी का अस्तित्व ही मिट जाने की आशंका होने लगी थी; उस निराशापूर्ण समय में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा उनके अनेक सहयोगियों ने बड़ी दूर-दर्शिता दिखायी और बहुत सी पुस्तकें लिखकर तथा लिखाकर हिन्दी का पाठ्यक्रम तैयार होना संभव बनाया। राजा साहेब ने 'इतिहास-तिमिर-नाशक', 'राजा भोज का सपना' 'मानव धर्मसार' आदि पुस्तकें लिखीं। यह करके भी वे भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में ठीक नेतृत्व नहीं दे सके। यह कार्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया। इसकी चर्चा करते हुए शुक्ल जी ने अपने इतिहास में लिखा है—

"राजा शिवप्रसाद 'आमफ़हम' और ख़ास पसन्द' भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिन्दी अपना रूप आप स्थिर कर चली। इस बात में धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने भी बहुत कुछ सहायता पहुँचायी। हिन्दी गद्य की भाषा किस दिशा की और स्वभावतः जाना चाहती है, इसकी सूचना तो काल अच्छी तरह दे रहा था।"

धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों की लोकप्रियता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि भारतेन्दु के समय में कम से कम पच्चीस पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं। भारतेन्दु द्वारा प्रवर्त्तित गद्य भाषा के आदर्श को इन सब ने अपना लिया और भाषा-स्वरूप-सम्बन्धी झंझट निबट जाने के अनंतर निबन्ध के विकास के लिए भी मार्ग खुला; भिन्न-भिन्न लोकोपयोगी विषयों पर निबन्ध लिखे जाने और प्रकाशित होने लगे। किन्तु निबन्ध के विकास की चर्चा करने के पहले शुक्ल जी के शब्दों में उन 'पर्नों' की नामावली सुन लेना अप्रासंगिक न होगा, जिनके भार के कारण हिन्दी भाषा इस योग्य नहीं हो पाती थी कि वह निबन्ध को अपने अंक में धारण कर सके :—

"जब हम भारतेन्दु की भाषा पर विचार करने बैठते हैं तब इस बात का समझना

कुछ सुगम हो जाता है कि उन्होंने हिन्दी गद्य का क्या संस्कार किया। उनकी भाषा में न तो लल्लूलाल जी का ब्रजभाषापन आने पाया, न मुन्शी सदासुख का पंडिताऊपन, न सदल मिश्र का पूरबीपन, न राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन और न राजा लक्ष्मणसिंह का खालिसपन और आगरापन। संस्कृत शब्दों के रहने पर भी भाषा का सुबोध बना रहना, फ़ारसी-अरबी के शब्द आने पर भी साथ-साथ उर्दूपन न आना हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता का प्रमाण था। उनका भाषा संस्कार शब्दों की काट-छाँट तक ही नहीं रहा। वाक्य-विन्यास में भी वे सफाई लाये। उनकी लिखावट में एक साथ न जुड़ सकनेवाले वाक्य एक में गुँथे हुए प्रायः नहीं पाये जाते। तात्पर्य के उपयुक्त संयोजक अव्ययों का व्यवहार जैसा उन्होने चलाया वैसा उनके पहले न था। विराम की परख भी उन्हें राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद से कहीं अच्छी थी।"

भारतेन्दु की निबन्धकला ने भारतीय सामाजिक जीवन के स्वर में स्वर मिलाया। हिन्दू पर्वों और त्योहारों पर उनके निबन्धों को पढ़कर तथा उनमें अपनी ही बात पाकर जनता ने उनका स्वागत किया। उनके ये निबन्ध 'कविवचन-सुधा', 'बाला-बोधिनी' तथा हरिश्चन्द्र मैगजीन में निकलते रहे। इन पत्रों का प्रकाशन उन्हींने किया था और हरिश्चन्द्र मैगजीन के आठ अंक निकालने के बाद उसे 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' के रूप में परिणत कर दिया था। हिन्दी का जो स्वरूप गद्य के लिए सर्वमान्य हुआ उसे सब से पहले प्रगट करने का श्रेय इसी पत्रिका को है। हरिश्चन्द्र मैगजीन का प्रकाशन सं० १९३० (सन् १८७३) में हुआ। भारतेन्दु ने इसी संवत् को आधुनिक हिन्दी का उत्थान काल माना है।

भारतेन्दु की निबन्धशैली का निर्धारण 'कश्मीर कुसुम', 'बादशाह-दर्पण', 'पाँचवें पैगंबर' आदि स्वतन्त्र निबंधों तथा नाटकों के बीच-बीच में आये हुए गद्य अवतरणों के आधार परकिया जाता है। नाटकों से सम्बन्धित अवतरणों में भावावेश स्वाभाविक है, जो साधारण विषय-विवेचन से लगाव रखनेवाली शैली से पृथक् चलती है

भारतेन्दु की निबन्धकला

एक बात स्पष्ट है और वह यह कि सोलहवीं शताब्दी में योरप में उत्थान पानेवाला निबन्ध-सम्बन्धी आदर्श तीन सौ वर्षों के बीत जाने पर भी भारतवर्ष में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में न पहुँच सका। निबन्ध के जन्मदाता मांटेन के आदर्श को यदि छिछला कहकर हम यहाँ उसका प्रचार न होना ही अच्छा समझें तो समझ सकते हैं, किन्तु उसका जो संशोधन और संस्करण इंग्लैण्ड में लार्डबेकन, ऐडिसन, स्टील, हैज़लिट, स्टीवेंसन आदि के द्वारा हुआ, क्या उसकी भी स्वीकृति हिन्दी साहित्य के अनुरूप नहीं है? मांटेन

के निबन्ध की बात तो दूर रही, अँगरेजी निबन्ध-साहित्य का परिचय सब से पहले पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'बेकन विचाररत्नावली' नामक अपनी पुस्तक से कराया।

इसमें सन्देह नहीं कि पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा पं० बदरीनारायण चौधरा 'प्रेमघन' ने क्रमशः 'हिन्दीप्रदीप', 'ब्राह्मण' तथा 'आनन्दकादम्बिनी' नामक अपने पत्रों में निबन्ध की प्रमुखता रखी और उससे निबन्ध साहित्य का प्रसार भी हुआ।

शुक्ल जी के पूर्ववर्त्ती निबन्धकार

निबंध में जिस वैयक्तिक तत्व का समावेश आवश्यक समझा जाता है उसकी कुछ झलक पं० बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में उनकी झुँझलाहट के रूप में यत्र-तत्र दिखायी पड़ती है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में निबन्ध के वास्तविक रूप का दर्शन सब से पहले भट्ट जी के निबंधों ही में मिला।

पं० बालकृष्ण भट्ट ने अपने एक निबंध में आँसू की अच्छी बहार दिखायी है और अंत में अपने आँसुओं के कष्टजनक स्वरूप का चित्रण इस प्रकार किया है :—

"हमारे लिए आँसू बड़ी बला है। नज़ले का ज़ोर है, दिन-रात आँखों से आँसू टपकता रहता है, ज्यों-ज्यों आँसू गिरता है त्यों-त्यों बीनाई कम होती जाती है। सैकड़ों तदबीरें कर चुके, आँसू का टपकना बन्द न हुआ। क्या जाने बङ्गाल की खाड़ी-वाला समुद्र हमारे ही कपार में आकर भर रहा है। आँख से तो आँसू चला ही करता है, आज हमने लेख में भी आँसू ही पर कलम चला दी, पढ़नेवाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।"

माइकेल मांटेन के निबंध-विषयक जिस नमूने की चर्चा मैं कर आया हूँ उसका एक स्वरूप हमें उक्त निबंध के प्रस्तुत स्थल में दिखायी पड़ता है। इन पंक्तियों में भट्ट जी के जीवन की एक आन्तरिक झलक हमें मिलती है। मांटेन निबन्धकार को आत्मज्ञापन की दिशा में जितनी दूर ले जाना चाहता है, यद्यपि भट्ट जी उतनी दूर नहीं चलते, तथापि यह कहा जा सकता है कि ईसा की सोलहवीं शती में फ्रांस की भूमि में उत्पन्न निबंध के जिस स्वरूप से योरप में हलचल मच गयी थी उसका एक हलका, हिन्दी संस्करण, हमें उन्नीसवीं शती में दिखायी पड़ा।

पं० प्रतापनारायण मिश्र का निम्नलिखित अवतरण भी देखने योग्य है :—

"हमारे श्रेष्ठ सहयोगी 'हिन्दी प्रदीप' सिद्ध कर चुके हैं कि 'लकार' बड़ी ललित

और रसीली होती है। हमारी समझ में उसी का साथ पाने से दीनदयाल, दिलासा, दिलदार, दालभात इत्यादि दस-पाँच शब्द कुछ पसंदीदा हो गये हैं, नहीं तो देवताओं में दुर्गा जी, ऋषियों में दुर्वासा, राजाओं में दुर्योधन महान् होने पर भी कैसे भयानक हैं। यह दद्दा ही का प्रभाव है। कनवजियों के हक में दामाद और दहेज, खरीदारों के हक में दुकानदार और दलाल, चिड़ियों के हक में दाम (जाल) और दाना आदि कैसे दुखदायी हैं। दमड़ी कैसी तुच्छ संज्ञा है, दाद कैसा बुरा रोग है, दरिद्र कैसी कुदशा है, दारू कैसी कड़ुआहट, बदबू, बदनामी और बदफैली की जननी है, दोगला कैसी खराब गाली है.....।"

उक्त अवतरण में थोड़ी सी वैयक्तिकता की झलक इस प्रसंग से आ गयी है कि मिश्र जी ने 'दद्दा' तथा कनवजियों के हक में दामाद और दहेज की चर्चा की है। हिंदुओं में अन्य बहुत से लोग भी हैं जिनके लिए दामाद और दहेज उतने ही दुखदायी हैं, किन्तु मिश्र जी कनौजिया थे, इसलिए स्वभावतः उनकी दृष्टि विशेष रूप से उन पर गयी।

परन्तु इस प्रकार के वैयक्तिक तत्त्व माइकेल मांटेन के निबंध-विषयक आदर्श का पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित नहीं करते। और, इस प्रकार की वैयक्तिकता भी हिन्दी के अधिकांश निबंधकारों में दिखायी नहीं पड़ती। यह समझ पड़ता है कि अनेक शताब्दियों के बीत जाने पर भी हिन्दी लेखकों का परिचय 'एसे'-सम्बन्धी नमूने से नहीं था और उन्होंने निबंध को रोचक बनाने के उद्देश्य से ही उसमें यत्र-तत्र सामान्य वैयक्तिकता का समावेश किया। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र एक एक पत्र के सम्पादक भी थे और अपने पाठकों को कुछ रुचिकर सामग्री देने का उनका उद्देश्य रहता था। कहानी का उस समय तक हिन्दी में प्रचलन नहीं हुआ था। अतएव, वैयक्तिक तत्त्व के यत्किंचित् प्रयोग से मनोरंजक सामग्री उपस्थित करने का प्रयत्न किया जाता था। इस प्रवृत्ति का क्रमशः ह्रास होता चला और द्विवेदीकालीन निबंधकारों में प्रायः इसका लोप दिखायी पड़ता है; 'प्रायः' शब्द का प्रयोग यहाँ इसलिए किया गया है कि ऐसे लेखक भी सामने आये जिन्होंने मांटेन के निबंध-विषयक नमूने से परिचय प्राप्त किया तथा उसे पूर्णांश में न स्वीकार करके उसका संशोधन किया और उसे अपने अनुकूल तथा अनुरूप बनाया। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का नाम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय विचारधारा के उपयुक्त निबंध के स्वरूप-निर्धारण तथा उसी के अनुरूप उच्च कोटि के निबंध-लेखन का कार्य वे ही उल्लेख-योग्य सफलता-

पूर्वक कर सके हैं। उन्होंने पाश्चात्य निबन्ध-शैली का भारतीय जीवन और परम्परा के साथ ऐसा सुन्दर समन्वय किया है कि उनके द्वारा प्रस्तुत आदर्श को सामने रख कर यदि हम निबंध-लेखन का कार्य अग्रसर करेंगे तो इसमें संदेह नहीं कि हमारा गद्य-साहित्य पुष्ट होगा, साथ ही हम संसार के गद्य-साहित्य को भी कुछ मौलिक देन दे सकेंगे।

अध्याय ६

शुक्ल जी की निबन्ध-कल्पना

शुक्ल जी के निबन्ध-सम्बन्धी विचार

प० रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसमें निबन्धकार के जीवन-गत दुर्बल अंग की अभिव्यक्ति की आशंका नहीं रह गयी है, वरन् उसके शक्तिपूर्ण व्यक्तित्व की ऐसी विशेषताओं की झलक पड़ने की सम्भावना बढ़ गयी है, जिनसे हमारे हृदय में अपूर्व आनन्द का संचार होता है। किन्तु शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत निबन्ध के स्वरूप को थोड़ा और अधिक समझ लेने की आवश्यकता है। उनका कथन इस प्रकार है :—

"आधुनिक लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृङ्खला रखी ही न जाय या जान बूझ कर जगह जगह से तोड़ दी जाय।"

आगे की पंक्तियों में उन्होंने व्यक्तिगत विशेषता का स्वरूप निर्दिष्ट किया है :—

"निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर उधर छूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।"

\+ \+ \+ \+

"निबन्ध-लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिये हुए।"

शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट निबन्ध का यह लक्षण सर्वथा उचित है, साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने उन कृतियों को भी निबन्ध के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं किया है, जिनमें केवल बुद्धि ही बुद्धि का चमत्कार है, हृदय का कोई प्रभाव नहीं है। उदाहरण के लिए, डा० धीरेन्द्र वर्मा के के 'कुछ विचार' में समाविष्ट लेखों की तरह ही सर्वथा अवैयक्तिक अपने लेखों को वे 'निबन्ध' संज्ञा ही प्रदान करते हैं। यहाँ तक कोई आपत्ति नहीं की जा सकती, किन्तु आगे चल कर जब वे 'निबन्ध' के लिए छोटे आकार का भी प्रतिबन्ध नहीं रखते तब कठिनाई अधिक होती है। अस्तु।

शुक्ल जी निबन्ध में बुद्धि और हृदय का समन्वय आवश्यक मानते हैं। निबन्धकार के व्यक्तित्व का वह दुर्बल अंश जो साहित्य के प्रयोजन की पूर्त्ति करने में असमर्थ रहता है, निबन्ध में स्पष्ट रूप से झलकाया जाय, ऐसा वे उचित नहीं समझते। वे निबन्धकार के साहित्यिक व्यक्तित्व ही को झलकने देने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि जिस तत्त्व-विशेष को हृदयंगम कराने के उद्देश्य से निबन्धकार निबन्ध-रचना की ओर अग्रसर होता है वह अपनी व्याख्या के निमित्त स्वभावतः उसकी प्रकृति की प्रवृत्तियों की अपेक्षा करता है। उन्होंने इस बात को, उदाहरण देकर, और भी स्पष्ट करने का उद्योग किया है :—

निबन्ध में बुद्धि और हृदय का समन्वय

"जो करुण प्रकृति के हैं उनका मन किसी बात को लेकर, अर्थ-सम्बन्ध-सूत्र पकड़े हुए, करुण स्थलों की ओर झुकता और गंभीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार कुछ बातों के सम्बन्ध में लोगों की बँधी हुई धारणाओं के विपरीत चलने में जिस लेखक को आनन्द मिलेगा वह उन बातों के ऐसे पक्षों पर वैचित्र्य के साथ विचरेगा जो उन धारणाओं को व्यर्थ या अपूर्ण सिद्ध करते दिखायी देंगे।"

शुक्ल जी के मत को पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि लेखक के साहित्यिक व्यक्तित्व से भिन्न, लेखक के जीवन से सम्बन्धित कुछ ऐसी बातें भी हो सकती हैं, जिनकी गिनती दुर्बलताओं में न की जायगी और फिर भी वे दुर्बलताओं के वर्णन की अपेक्षा कम रोचक न सिद्ध होंगी। उदाहरण के लिए ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है जो शुक्ल जी की अति गंभीरता के कारण उनकी प्रकृति में अतिशय रूक्षता की कल्पना करते हैं। यदि उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि वे एक बिल्ली के प्रति अत्यन्त अधिक सौहार्द का भाव रखते थे तो क्या उनका हृदय आनन्द और हर्ष से विकसित न हो जायगा? अपने 'करुणा' नामक निबंध में शुक्ल जी ने लिखा है :—

"हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रख कर एक घेरे में बन्द करते हैं और कभी कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं; बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यांव-म्यांव कर के माँगती है या चोरी से ले जाती है; कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और

वासुदेव जी कभी कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुखी चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि 'तुम हमसे क्यों दूर दूर भागे फिरते हो?"

निस्संदेह इन पक्तियों से शुक्ल जी की सहृदयता का अनुमान होता है, किन्तु यदि निबन्ध के भीतर किसी विशेष गौरे अथवा कबूतर के प्रति उनके प्रेम की झलक मिले तो क्या साहित्य की दृष्टि से वह उपेक्षणीय वस्तु होगी? लेखक जितना ही प्रसिद्ध होगा उतनी ही अधिक उत्सुकतापूर्ण जिज्ञासा उसके आहार-व्यवहार आदि से सम्बन्धित ब्योरों को जानने के लिए पाठकों में होगी। उनकी इस भूख को मिटाना भी निबन्धकार का कर्त्तव्य होना चाहिए। हाँ, यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि जहाँ भूख नहीं है वहाँ भी भूख समझ लेने की गलती वह कभी न करे, साथ ही मनुष्य की कर्मशक्ति को क्षीण करने वाले व्यसनों को भी वह गौरवान्वित न बनावे।

इस प्रकार मेरी समझ में अच्छा होता यदि शुक्ल जी ने अपने स्थान से थोड़ा आगे बढ़ कर माइकेल मांटेन के अनुयायियों को आमंत्रित किया होता, जिससे एक मध्य स्थिति में दोनों ही की विचारधाराओं का समन्वय उस स्थल पर हो गया होता, जहाँ आकर ऐडिसन और स्टील आदि निबन्धकारों ने निबन्ध-लेखन-कला का अनुपम विकास किया है।

एक बात और है। शुक्ल जी उस परम्परा के प्रतिनिधि थे जिसने आत्मज्ञापन-प्रवृत्ति को सदैव गर्हित माना है, वह कितनी ही निर्दोष और सरल कौतूहलनिवारिणी क्यों न हो। अपने को तथा अपनी समस्त विभूति को समष्टि के हित-चिन्तन में विलीन कर देना ही भारतीय चिन्तकों और रचनाकारों का आदर्श रहा है, ऐसी परिस्थिति में अपने निबन्धों में अपने साहित्यिक व्यक्तित्व की जो झलक शुक्ल जी ने दी है वह भी एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

निबन्ध के भीतर निबंधकार के साहित्यिक व्यक्तित्व को पहचानने के लिए शुक्ल जी ने हमें जो दृष्टि दी है, उससे पाठक का परिचय हो चुका है। संक्षेप में उनका कहना है कि एक ही विषय को लेकर भिन्न भिन्न निबंधकार अपनी करुण, विनोदी अथवा खंडन आदि प्रिय प्रकृति के वशीभूत होकर अपने अपने निबंध को भिन्न भिन्न दिशाओं में पल्लवित करेंगे। वास्तव में यह एक सामान्य तथ्य है और इसकी सहायता से साहित्यकार के व्यक्तित्व की एक अत्यन्त स्थूल झाँकी ही मिल सकती है। पाठक के मनोरंजन के लिए

इतना भी कम नहीं है; किन्तु यदि वह यह जान सके कि उसके प्रिय लेखक का साहित्यिक व्यक्तित्व किन कारणों से एक विशेष साँचे में ढल सका, उसके विकास में क्या सुविधाएँ प्राप्त हुईं और कैसी कठिनाइयों ने उसके मार्ग को अवरुद्ध किया, तो क्या यह उसकी साहित्यिक रुचि को उद्दीप्त करने में सहायक न होगा ? जो हो, हिंदी के अधिकांश निबन्धकारों के निबन्धों से उनकी प्रकृति के सम्बन्ध में एक स्थूल ज्ञान के सिवा अन्य कोई सामग्री प्राप्त करना कठिन है।

निबन्ध के दो भाग किये जा सकते हैं (१) विचारात्मक निबंध, (२) भावात्मक निबंध। विचारात्मक निबंधों में विचार की मात्रा अधिक होगी और भाव की कमी; इसी प्रकार भावात्मक निबंधों में भाव की मात्रा अधिक होगी और विचार की कम। विचारात्मक और भावात्मक की एक आत्यंतिक अवस्था, पराकाष्ठा भी हो सकती है, जहाँ पहुँचकर विचार भाव से सर्वथा रहित और भाव विचार से पूर्णतया शून्य हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप ही एक ओर रूखे विचाराक्रान्त निबंध की और दूसरी ओर उन्मत्त प्रलाप-शैली के निबंध की सृष्टि होती है। उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव में छः महीने के दिन और छः महीने की रातें होती हैं; यह परिस्थिति भूमंडल पर सर्वत्र प्राप्त नहीं है, किन्तु केवल इसी कारण कोई यह नहीं कहता कि उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव पृथ्वी के अंग ही नहीं हैं। अतएव, रूखे गद्यविधान को भी हमें निबंध के अंतर्गत ले लेना होगा, साथ ही यह शर्त भी रहेगी कि वह ऐसे असाधारण आकार का न हो कि उस पर प्रबंध अपना अधिकार स्थापित करने के लिए दौड़ पड़े। इसके अतिरिक्त यदि हम निबंध में हार्दिकता को एक नियम के रूप में स्वीकार करते हैं तो प्रत्येक नियम में अपवाद भी होता है, जो नियम का संहार नहीं करता, वरन् उसे सबलता और प्रामाणिकता ही प्रदान करता है। इस दृष्टि से निबंध की एक शैली में हार्दिकता का अभाव भी उसके नियमित स्वरूप का पोषण ही करेगा। सारांश यह कि रूखी से रूखी गद्यकृतियों को भी निबंध ही मानना होगा। शुक्ल जी के भी अनेक आलोचनात्मक लेखों में भावात्मकता का अभाव है, यह होने पर भी उन्हें निबंध ही मानना पड़ेगा।

विचारात्मक और भावात्मक निबन्ध

भावात्मक निबंधों में व्यंगात्मक रचनाओं की ओर शुक्ल जी का ध्यान उतना नहीं जा सका है जितना उसे वास्तव में जाना चाहिए था। समाज में आलम्बनों की कमी नहीं है जिनका आधार लेकर वीर, करुण, वीभत्स

आदि विविध रसों का परिपाक किया जा सकता है। इसके द्वारा समाज का दोष-निवारण भी सम्भव है। किन्तु साहित्य का कल्याण व्यक्तिगत मनोमालिन्य से प्रेरित रचनाओं के द्वारा नहीं, वरन् स्वार्थ में ग्रस्त एक श्रेणी पर निरपेक्ष, निर्लिप्त प्रहार करनेवाले व्यंगात्मक निबंधों द्वारा ही सम्भव है। शुक्ल जी के निबंधों में यत्र-तत्र जो व्यंगात्मक छींटे मिलते हैं उनसे उनकी उच्च कोटि के व्यंगसाहित्यकार होने की योग्यता का परिचय मिलता है। खेद है, उनके व्यंगात्मक निबंधों से हम वंचित ही रह गये।

उक्त श्रेणी के व्यंगात्मक निबंध की गणना भावात्मक निबंधों ही में करनी होगी, क्योंकि इनमें किसी न किसी भाव का विकास करना ही अभीष्ट है। किन्तु शुक्ल जी ने जहाँ भावात्मक निबंध की व्याख्या की है वहाँ उसकी उपेक्षा कर दी है। उन्होंने भावात्मक निबंध की तीन शैलियों की चर्चा की है—(१) विक्षेप शैली; (२) धारा शैली; (३) तरंग शैली। इन तीनों शैलियों के सम्बन्ध में उनके विचार जान लेने की आवश्यकता है।

विक्षेप शैली के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने कहा है—"उद्भ्रान्त प्रेम* उस विक्षेप शैली पर लिखा गया था, जिसमें भावावेश द्योतित करने के लिए भाषा बीच-बीच में असंबद्ध अर्थात् उखड़ी हुई होती थी। कुछ दिनों तक तो उसी शैली पर प्रेमोद्गार के रूप में पत्रिकाओं में कुछ प्रबंध—यदि उन्हें प्रबंध कह सकें—निकले जिनमें भावुकता की झलक यहाँ से वहाँ तक रहती थी।"+ धारा और तरंग शैली के सम्बन्ध में उनका मत इस प्रकार है—"श्री चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' में प्रेम के अतिरिक्त और दूसरे भावों की भी प्रबल व्यंजना अलग अलग प्रबन्धों में की गयी, जिनमें कुछ दूर तक एक ढङ्ग पर चलती धारा के बीच बीच में भाव का प्रबल उत्थान दिखायी पड़ता था। इस प्रकार इन प्रबन्धों की भाषा तरंगवती धारा के रूप में चली थी, अर्थात् उसमें 'धारा' और 'तरंग' दोनों का योग था।"×

भावात्मक निबंध के अंतर्गत ही शुक्ल जी ने रहस्योन्मुख आध्यात्मिक शैली का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने "अतीत के नाना खंडों में जाकर रमानेवाली 'भावुकता-विशिष्ट शैली' की भी चर्चा की है और अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में पृष्ठ ५६० पर लिखा है—

---

* बंगभाषा का ग्रंथ, ले० श्री चंद्रशेखर मुखोपाध्याय

+ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५५६

× " " "

"बड़े हर्ष की बात है कि अतीत क्षेत्र में रमानेवाली अत्यन्त मार्मिक और चित्रमयी भावना लेकर महाराजकुमार डाक्टर श्री रघुवीर सिंह जी हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में आये। उनकी भावना मुगल सम्राटों के कुछ अवशिष्ट चिन्ह सामने पाकर प्रत्यभिज्ञा के रूप में मुगल साम्राज्य-काल के कभी मधुर, भव्य और जगमगाते दृश्यों के बीच, कभी पतन-काल के विषाद, नैराश्य और बेबसी की परिस्थितियों के बीच बड़ी तन्यमता के साथ रमी है। ताजमहल, दिल्ली का लाल किला, जहाँगीर और नूरजहाँ की कब्र इत्यादि पर उनके भावात्मक प्रबन्धों की शैली बहुत ही मार्मिक और अनूठी है।"

शुक्ल जी ने निबन्ध की एक और श्रेणी मानी है जिसे उन्होंने वर्णनात्मक कहा है। समाज की जीवनचर्या, ऋतुचर्या, पर्व-त्योहार आदि का कोरा वर्णन तो वर्णनात्मक श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है, किन्तु ज्यों ही वह भावतत्व अथवा विचारतत्व से मेल कर लेगा त्यों ही केवल वर्णनात्मक न रह कर या तो वर्णन-विशिष्ट भावात्मक हो जायगा या वर्णन-विशिष्ट विचारात्मक। अतः वर्णनात्मक श्रेणी को हम एक स्वतन्त्र श्रेणी के रूप में तभी ग्रहण कर सकते हैं जब उसमें वर्णन का तत्व भाव अथवा विचार के तत्व से अधिक हो। 'आत्मव्यंजक' और 'कथात्मक' दो अन्य श्रेणियाँ भी की जा सकती हैं जिन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त होने के लिए भी यह आवश्यक है कि उनमें क्रमशः आत्मव्यंजना और कथा का तत्व अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक मात्रा में विद्यमान हो।

वर्णनात्मक निबन्ध

अन्त में निबन्ध के आकार पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यह कहा जा चुका है कि भारतेन्दु काल के पहले हिन्दी साहित्य में 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता और जब ऐडिसन, स्टील आदि अंगरेजी के निबन्धकारों की सी रचना हिन्दी में होने लगी तभी प्रबन्ध से पृथक् अस्तित्व की सूचना देने के लिए 'निबन्ध' शब्द का प्रचलन हुआ। ऐसी अवस्था में बड़े आकार की रचना अथवा लेख को, उसमें वैयक्तिकता हो अथवा न हो, निबन्ध कहना उचित न होगा। किन्तु शुक्ल जी का इस सम्बन्ध में कोई विशेष निर्देश नहीं है। वे लघुकाय अथवा दीर्घकाय निबंध और प्रबन्ध में कोई अन्तर नहीं स्थापित करते।

निबन्ध का आकार और शुक्ल जी

शुक्ल जी के तीन लेखों का एक संग्रह 'त्रिवेणी' शीर्षक के साथ काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है। ये तीनों लेख क्रमशः जायसी, सूर और तुलसीदास की, संक्षिप्त की हुई, समीक्षाएं हैं। इनमें से जायसी-

सम्बन्धी आलोचना में ७१ पृष्ठ हैं, सूर-सम्बन्धी समीक्षा में ४२ पृष्ठ तथा तुलसीदास-सम्बन्धी समालोचना में ६५ पृष्ठ हैं। सन्तोष की बात है कि आवरणपृष्ठ पर त्रिवेणी का परिचय प्रबन्धों का संग्रह कह कर दिया गया है। विशेष उल्लेख-योग्य बात यह है कि शुक्ल जी ने उक्त समालोचनाओं के पूर्ण स्वरूप को भी कहीं 'विस्तृत निबन्ध' और कहीं आलोचनात्मक निबन्ध ही कहा है। संग्रहकर्ता अपनी भूमिका में कहते हैं :—

"शुक्ल जी ने जायसी ग्रंथावली, तुलसी ग्रंथावली और सूर के भ्रमर गीतसार का सम्पादन किया है।** शुक्ल जी ने इन काव्यों और इन कवियों की समालोचनाएँ की हैं।

रचना की दृष्टि से इन्हें प्रबन्ध कहना चाहिए, यद्यपि शुक्ल जी ने इन्हें निबन्ध माना है।** एक स्वतन्त्र व्यक्तिप्रधान रचना के बन्ध और एक व्यवस्थित विषय-प्रधान रचना के बन्ध में निबंध और प्रबन्ध का भेद मानना होगा।"

निबंध और प्रबन्ध के भेद को उदाहरण देकर और भी स्पष्ट करने के उद्देश्य से उक्त संग्रहकार महोदय ने कहा है :—

"काव्य में प्राकृतिक दृश्य' और 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका' शुक्ल जी की ये दो रचनाएँ एक सी नहीं हैं। एक तो निबन्ध ही रहेगी और दूसरी एक पूरी समालोचना-पुस्तक होगी। केवल उसे पुस्तक का रूप दे देना पड़ेगा। 'तुलसी ग्रंथावली' की प्रस्तावना ने पुस्तक का रूप धारण कर भी लिया है। 'भ्रमर गीतासार' की भूमिका संक्षिप्त है। इसमें औरों सा विस्तार नहीं है। किन्तु इसमें सूर पर एक व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है। अतः विषय-विवेचन के विचार से यह भी प्रबन्ध ही है।"

यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने निबन्ध और प्रबन्ध में कोई भेद नहीं किया है।

—: ० :—

अध्याय ७

'चिन्तामणि' के रचनात्मक निबन्ध

'चिंतामणि' के प्रथम भाग में शुक्ल जी के सत्रह निबंधों का संकलन किया गया है। इनके सम्बंध में अपने संक्षिप्त निवेदन में उन्होंने लिखा है—"इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। × × × बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।" इस संक्षिप्त कथन में उनकी निबंध विषयक समस्त मान्यताओं का समावेश हो गया है।

शुक्ल जी योरपीय निबन्ध-शैली के संशोधक

जो लोग यह जानना चाहते हैं कि उक्त निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान, उन्हें शुक्ल जी ने कोई सीधा उत्तर नहीं दिया है; 'निवेदन' की उपरि-लिखित पंक्तियों में एक संकेत देकर वे यह आशा करते हैं कि पाठक अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं प्राप्त कर लेगा। अपने बुद्धि-व्यायाम द्वारा वह चाहे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे, किन्तु उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ शुक्ल जी की विचार-धारा माइकेल मांटेन की विचार-धारा की प्रगति-दिशा से सर्वथा विपरीत दिशा में प्रवाहित हो रही है; माइकेल मांटेन के निबंध में आत्म-ज्ञापन-तत्त्व, हृदयतत्त्व प्रधान है* भले ही कहीं-कहीं वह बुद्धि का भी सहयोग प्राप्त कर ले, किन्तु शुक्ल जी के निबंध में प्रधानता बुद्धि-तत्त्व की है, हृदय-तत्त्व की नहीं, हृदय-तत्त्व सहायक मात्र है। इसके अतिरिक्त यह भी लक्षित करना चाहिए कि माइकेल मांटेन का हृदय-तत्त्व बहुत अधिक हलका है, उसमें वह सहृदयता नहीं है जिसमें रागात्मिका वृत्ति का समावेश माना जा सके; इसके विपरीत शुक्ल जी का जो कुछ भी हृदयतत्त्व निबंधों में समाविष्ट हुआ है यह समष्टिविरोधी वैयक्तिक इंद्रिय-सुख की ओर न ले

* Essay must contain autobiographical element in it; essay lacking it should not be considered an essay. Michael Montaigne.—(मूल फ्रांसीसी भाषा से अनुवादित)

जाकर शेष सम्पूर्ण विश्व के प्रति सौहार्द और एकाकार के भाव की ओर अग्रसर करनेवाला है। अन्य शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि यदि मांटेन के निबंध का हृदय-तत्त्व अथवा आत्मज्ञापन-तत्त्व चंद्रिका की तरह कोमल और सरस है तो शुक्ल जी के निबंध का हृदयतत्त्व सूर्य की किरणों की तरह कठोर है, जिनके कल्याणकारी प्रभाव से ही शस्य का परिपाक सम्पन्न होनेवाला है। आशय यह है कि शुक्ल जी ने योरपीय निबंध को एक महत्त्वपूर्ण संशोधन से सम्पन्न बनाकर स्वीकार किया है, जिसका साहित्य-संसार में आदर किया जाना चाहिए।

चिन्तामणि के प्रथम भाग के आन्तरिक पृष्ठ पर लिखा गया है—'विचारात्मक निबंधों का संग्रह'; क्या सारे के सारे सत्रह निबंध विचारात्मक निबंध ही हैं? इस प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' नहीं कहा जा सकता, कारण यह है कि अनेक निबंध ऐसे हैं जिनमें विचार-सन्तुलन, विचार-सङ्गठन और विचारोत्पादन की क्षमता के स्थान में किसी आलम्बन के सहयोग से भाव का विकास करने की प्रवृत्ति अधिक है, जिससे उन्हें भावात्मक निबंध कहना ही अधिक सार्थक होगा। किन्तु भावात्मक निबंधों की नींव में भी एक ऐसी विचारात्मकता विद्यमान है जो उसके स्वर को साधारण भावात्मक निबंधों के स्तर से ऊँचा उठा देती है; इस दृष्टि से यदि हम चाहें तो उक्त सभी निबंधों को विचारात्मक भी कह सकते हैं। यह सत्य होने पर भी हमें इन निबंधों को भावात्मक और विचारात्मक दो श्रेणियों में विभक्त कर के ही अध्ययन को सुविधा करनी होगी।

अपनी कविताओं में शुक्ल जी ने आलोचना-विषयक अपने आदर्शों के प्रचारार्थ पंक्तियाँ लिखी हैं, जिससे स्पष्टतः उनकी प्रवृत्ति अधिकाधिक मात्रा में आलोचना की ओर लक्षित होने लगती है। अपने रचनात्मक अथवा भावात्मक निबंधों को भी विचारात्मकता की नींव देकर उन्होंने अपने आलोचक-व्यक्तित्व के विकास ही का परिचय दिया है। अभी शुक्ल जी की रचनाओं ही का उल्लेख किया जा रहा है, अतएव जिन निबंधों में उनका आलोचक रूप अत्यन्त प्रखर हो उठा है तथा जिनको आदि से अंत तक विचारात्मकता ही ने आच्छादित कर लिया है उनकी चर्चा आगे के लिए स्थगित करके यहाँ मैं भावात्मक निबंधों ही का विवेचन प्रस्तुत करूँगा।

इन निबंधों पर एक दृष्टि डालते ही हम देखेंगे कि इनमें से कुछ में लेखक ने जहाँ-तहाँ अपने साहित्यिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित चर्चाएँ छेड़ी हैं, मूर्त्ति-विधान द्वारा अमूर्त्त विचारों और भावों को ग्राह्य बनाया है, दृष्टान्तों के प्रयोग द्वारा रोचकता उत्पन्न की है और कहीं कहीं रसात्मकता की धारा प्रवाहित

कर के पाठक को उसमें स्नान कराया है, साथ ही यह भी पायेंगे कि कुछ में इन सब विशेषताओं का अभाव है। जिन निबंधों में उक्त विशेषताएँ सर्वांश में नहीं हैं अथवा स्वल्पांश में हैं उन्हें विचारात्मक मानना चाहिए और जिनमें वे अधिकांश में विद्यमान हैं उन्हें भावात्मक समझना चाहिए।

निबंध में किसी न किसी रूप में आत्मकथात्मक तत्त्व होना चाहिए, इसे मानते हुए शुक्ल जी ने अल्पाधिक मात्रा में पाठकों को अपने साहित्यिक व्यक्तित्व की एक झाँकी प्राप्त करने का अवसर दिया है। साहित्यकार का साहित्यिक व्यक्तित्व उसके साधारण व्यक्तित्व से कुछ ऊपर की वस्तु होता है; निबन्ध तो यह भी अपेक्षा करता है कि साहित्यकार के साधारण व्यक्तित्व की भी कुछ झलक मिल जाय, किन्तु शुक्ल जी का निबन्धकार इतनी दूर तक चल कर जिज्ञासा का शमन करने के लिए तैयार नहीं हो सकता, इसके सम्बन्ध में संकेत दिया जा चुका है। अस्तु। जो कुछ सामग्री हमें उपलभ्य है उसी के आधार पर हमें देखना चाहिए कि उनका कैसा स्वरूप हमारे सामने खड़ा होता है।

भावात्मक निबन्धों में आत्मकथा-तत्व

शुक्ल जी ने अपने निबंधों में आत्मकथा-तत्त्व का समावेश तीन रूपों में किया है। एक रूप तो वह है जहाँ उन्होंने अपने जीवन के किसी प्रसंग का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है; दूसरा रूप वह है जिसमें उक्त वर्णन संकेत मात्र तक सीमित होकर रह गया है और तीसरा रूप वह है जिसमें वे वस्तु, विचार अथवा परिस्थिति-विशेष के पक्ष अथवा विपक्ष में कुछ कह कर अपनी मनोवृत्ति की एक झलक देते हैं।

निम्नलिखित अवतरण उक्त प्रथम रूप के उदाहरण-स्वरूप हैं :—

(१) "मैंने कई छिछोरों और लम्पटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लम्बे-चौड़े दास्तान हर दम सुनते-सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तान्तों का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढांचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने की संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाये जाते हैं।"

—[उत्साह, पृ० ९

(२) "खलियानों और रेलवे स्टेशनों पर जाने से भिन्न-भिन्न प्रकार की गंध का अनुभव होता है। पुराने कवियों ने तुरन्त की जोती हुई भूमि से उठी हुई सोंधी महँक का, हिरनों के द्वारा चरी हुई दूब की ताजी गमक का उल्लेख किया है। फ़रासीसी उपन्यासकार ज़ोला की गंधानुभूति बड़ी सूक्ष्म थी। उसने योरप के कई नगरों और

स्थानों की गंध की पहचान बताई। इसी प्रकार बहुत से शब्दों का अनुभव भी बहुत सूक्ष्म होता है। रात्रि में, विशेषतः वर्षा की रात्रि में, झींगुरों और झिल्लियों के झंकार-मिश्रित सीत्कार का बँधा तार सुन कर लड़कपन में मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।"

—[रसात्मक बोध के विविध रूप, पृ० २४४

(३) "मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्व-विभाग का कैम्प भी पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। बसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा, 'यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।"

—[लोभ और प्रीति, पृ० ७८

निम्नांकित अवतरणों में द्वितीय रूप के दृष्टांत मिलेंगे :—

(१) "हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं। एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेसी यात्री किसी बरतन का मोल-भाव कर रहे थे और कह रहे थे—इतना नहीं, इतना लो तो लें। इतने ही में सौभाग्यवश दूकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गये और उन्होंने चट कहा—'माया छोड़ो और इसे ले लो।' सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्यक्षेत्र! यहाँ न माया छोड़ी जायगी तो कहाँ छोड़ी जायगी।"

—[श्रद्धा-भक्ति, पृ० २८

(२) "थोड़े दिन हुए, किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिये होते हैं। तब से वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न में लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृतकार्य भी हुए हैं; पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी-खेल नहीं, भूलचूक से कुछ समझदारी की बातें मुँह से निकल ही जाती हैं।"

—[श्रद्धा-भक्ति, पृ० २८

उक्त अवतरणों में से प्रथम तीन में हम क्रमशः शुक्ल जी की सुसंकृत रुचि का, बालप्रकृति का और देशप्रेममयी भावना का स्पष्ट परिचय प्राप्त करते हैं। अन्य दो अवतरणों में उन्होंने अपने सम्बन्ध में कोई बात स्पष्ट

रूप से नहीं कही है, किन्तु उनका संकेत जिस ओर जाता है उससे यह समझ में आता है कि धूर्ततापूर्ण भाषा का सहारा लेकर ठगने की प्रवृत्ति उन्हें जितनी ही अरुचिकर थी उतनी ही अप्रिय यह धारणा है कि अपने व्यक्तित्व में गुणों को सम्पादित न कर के केवल उनके अनुकरण का सहारा लिया जाय।

इन समस्त अवतरणों की शैली से भिन्न अन्य कतिपय अवतरण, जो यहाँ दिये जा रहे हैं, अवलोकनीय हैं :—

(१) "संगीत के पेंच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावंत पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' कर के विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो संगीत नाद की मधुर गति-द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़ कर केवल स्वरग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद हो गया। श्रद्धालुओं के अन्तःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गयी कि एक खर-श्वान के गले से भी इस लम्बी कवायद को ठीक उतरते देख उनके मुंह से 'वाह वाह' 'ओ हो हो' निकलने लगा।"

—[श्रद्धा-भक्ति, पृ० २४

(२) "लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!"

—[लोभ और प्रीति, पृ० ८५

(३) "जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहां चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभपूर्ण मंजरियों से लादे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बता कर देशप्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि 'भाइयो, बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुख के तुम कभी साथी न हुए, उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझते नहीं बनता; उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उनके साथ न घसीटो।' हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं।

—[लोभ और प्रीति, पृ० ७६

इन अवतरणों में से प्रथम में यह बताया गया है कि संगीत का क्या

स्वरूप हो गया है और उसे वास्तव में क्या होना चाहिए; द्वितीय अवतरण में लोभियों की अनुकरणीय और निंदनीय प्रकृति की चर्चा की गयी है; तृतीय अवतरण में प्रेम के मिथ्या स्वरूप की निंदा और उसके सच्चे स्वरूप का एक परिचय दिया गया है। इनमें विषय-विशेष के पक्ष और विपक्ष में जो बातें शुक्ल जी ने कही हैं उन्हें एकत्र कर के हम कह सकते हैं कि वे मार्मिक संगीत के अनुरागी, लोभ की निम्न वृत्तियों की पहुँच से बहुत दूर तथा सच्चे देशप्रेमी थे।

मूर्त्तिविधान की प्रवृत्ति

रचनात्मक अथवा भावात्मक निबंध की एक विशेषता, जिसकी चर्चा की जा चुकी है, यह है कि उसमें अमूर्त्त भावों और विचारों को मूर्त्त स्वरूप प्रदान करने की प्रवृत्ति पायी जाती है; शुक्ल जी के निबंधों में इस मूर्त्ति-विधायनी प्रतिभा के दर्शन निम्नलिखित अवतरणों में कीजिए :—

(१) "क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है, इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तृप्ति का साधक होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के साथ। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है × × × क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है, जिसके बिना हमारी दया व्यर्थ जाती। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है, पर नाम दया ही का होता है।"

—[क्रोध, पृ० १३५

(२) "ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है। वह अपने धारणकर्त्ता स्वामी के सामने भी मुँह खोलकर नहीं आती। उसके रूप आदि का पूरा परिचय पाकर भी धारणकर्त्ता उसका हरम की बेगमों से अधिक परदा करता है। वह कभी प्रत्यक्ष रूप में समाज के सामने नहीं आती। उसका कोई बाहरी लक्षण धारणकर्त्ता पर नहीं दिखायी देता। क्रोध में आँखें लाल हों, भय में आकुलता हो, घृणा में नाक भौं सुकुड़े, करुणा में आँसू आयें, पर ईर्ष्या में शायद ही कभी असावधानी से ठंडी साँस निकल जाय तो निकल जाय। ईर्ष्या इतनी कुत्सित वृत्ति है कि सभा-समाज में, मित्र-मंडली में, परिवार में, एकान्त कोठरी में कहीं भी स्वीकार नहीं की जाती। लोग अपना क्रोध स्वीकार करते हैं, पर ईर्ष्या का नाम कभी मुँह पर नहीं लाते।"

—[ईर्ष्या, पृ० १२३

(३) "वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। × × × किसी ने आप को गाली दी। यदि आपने उसे मार दिया तो आपने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद आप को कहीं मिला। अब यदि आपने

उससे बिना फिर गाली सुने, मिलने के साथ ही उसे मार दिया तो यह आप का वैर निकालना हुआ।"

—[क्रोध, पृ० १३९

इन अवतरणों में क्रमशः क्रोध, दया, ईर्ष्या और वैर को मूर्त्त स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। प्रथम अवतरण में 'कूदता है', उत्तेजित करता है', 'वाहवाही को नहीं बँटाता' आदि क्रिया-शब्दों के प्रयोग द्वारा इस कार्य को सम्पन्न करने में सहायता ली गयी है। द्वितीय अवतरण में ईर्ष्या हमारे सामने एक लज्जावती रमणी के रूप में प्रस्तुत होती है। इसी प्रकार तृतीय अवतरण में वैर और क्रोध दोनों का एक आकार हमारे सामने खड़ा किया गया है।

निबंधों के भीतर जगह-जगह दृष्टान्तों और रसात्मक वाक्य-समूहों की नियोजना की गयी है, जिससे उनमें रचनात्मक तत्त्व का यथेष्ट मात्रा में समावेश किया गया है, दृष्टान्त तो प्रायः प्रत्येक निबंध में भरे पड़े हैं, जिनकी सहायता से न केवल रूक्षता-निवारण संभव हुआ है वरन सरसता-संचार भी हो सका है। कहीं कहीं रसात्मक वाक्य-समूहों ने तो आषाढ़ की नवागता घटाओं की तरह रस की वर्षा ही कर दी है। 'कविता क्या है' शीर्षक निबंध के अंतर्गत पृ० १४६, १४९, १५१, १५२, १५३, १५४, आदि पर ये स्थल पाये जा सकते हैं।

दृष्टान्त और रसात्मक वाक्य

शुक्ल जी की दृष्टि से चिन्तामणि के प्रथम भाग के भी सब निबन्ध विचारात्मक हो हैं; किन्तु मेरी समझ में उसके कुछ ही निबंध ऐसे हैं जो विशुद्ध विचारात्मक कहे जा सकें, जिनमें रचनात्मक तत्त्व की प्रचुरता का अभाव है। 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'मानस की धर्मभूमि' और 'तुलसी का भक्तिमार्ग' ऐसे ही निबंध हैं; शेष बारह निबन्धों को रचनात्मक निबंध कहना ही उपयुक्त होगा।

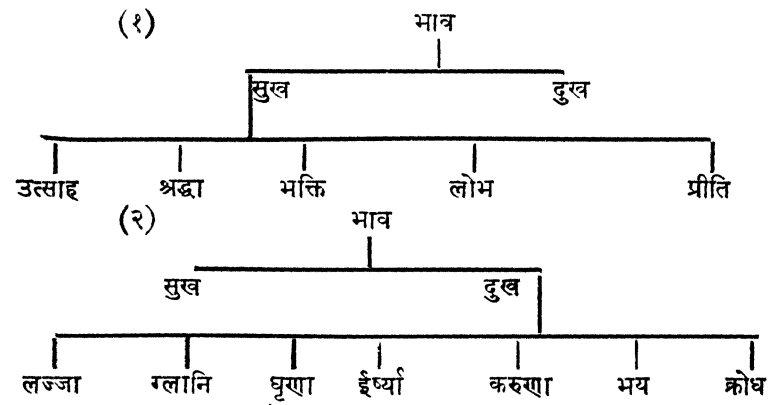
उक्त बारह निबंधों में से दस एक ही जाति के हैं—ये हैं भाव अथवा मनोविकार तथा उसकी वंशावली में आनेवाले विविध भावों से सम्बन्धित अन्य नौ निबंध, जिनके शीर्षक हैं 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा और ग्लानि', 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', और 'क्रोध'। इनके अतिरिक्त 'कविता क्या है ?' तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' शीर्षक दो निबंध ही शेष रह जाते हैं। जिन रचनात्मक तत्त्वों की चर्चा की जा चुकी है, उनकी अधिकता की दृष्टि से इन्हें लगभग उतनी ही मात्रा में रचनात्मक मानना उचित होगा

जितनी मात्रा में उक्त दस निबंधों को हम मान सकते हैं। यहाँ 'लगभग' शब्द का प्रयोग करने का एक विशेष कारण है—वह यह कि भावों से सम्बन्धित निबंध इस कारण भी विशेष रूप से रचनात्मक हो गया है कि उसका सम्बंध विचार से न होकर भाव से है।

भाव की रचनात्मकता

भाव की रचनात्मकता स्वयंसिद्ध है। उसका प्रतिस्पर्धी विचार चरण अथवा भ्रमण में इतना तल्लीन रहता है कि निर्माण के लिए रुकने की ओर उसका ध्यान ही नहीं रहता; इसके विपरीत 'भाव' का 'भवन' के साथ सदैव एकाकार रहता है, उसकी साकारता, मूर्त्तिमत्ता, रचनापरकता निर्विवाद है। भाव का उन्मेष करने के लिए जो आलम्बन और उद्दीपन विभाव हमारे सामने प्रस्तुत होता है, जब स्वयं वही साकार होता है तब भाव के उस मूर्त्त स्वरूप के सम्बंध में कहना ही क्या! जो कभी आँसुओं के रूप में, कभी अरुण नेत्रों के वेष में तथा कभी अन्य विविध आकृतियाँ धारण करके अपने आपको प्रकाश में लाता है!

भाव रूपी वृक्ष के तने में से फूटकर 'सुख' और दुख नाम की दो शाखाएँ विरोधी दिशा में फैलती हैं। इन दोनों शाखाओं में उपशाखाएँ निकलती हैं जो पल्लवों और दलों से विभूषित होकर वृक्ष को एक अनुपम शोभा प्रदान करती हैं। 'सुख और दुख' नामक शाखाओं की उपशाखाएँ निम्नलिखित वंशवृक्षों में देखिए :—



भाव किस प्रकार और किन परिस्थितियों में सुख का रूप धारण करके उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, लोभ, प्रीति आदि में तथा दुख का रूप धारण करके लज्जा, ग्लानि, घृणा, ईर्ष्या, करुणा और क्रोध में अपने आप को विभक्त करता है, इसे शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में अच्छी तरह समझाया है।

उन्होंने कहा है कि जैसे विभिन्न प्रकार के रासायनिक मिश्रण एक दूसरे ही से नहीं, अपने मूल संयोजक द्रव्यों से भी भिन्न रूप में उपस्थित होते हैं वैसे ही हमारी विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ आपस में तो भिन्न होती ही हैं, साथ ही वे सुख अथवा दुख की मूल अनुभूति से भी भेद-भाव ग्रहण कर लेती हैं। उदाहरण के लिए 'भय' और 'क्रोध' को ले लीजिए। भाव-सम्बन्धी द्वितीय वंशवृत्त को देखने से ज्ञात होगा कि इन दोनों भावों का उद्गम-स्थान इनकी मूल अनुभूति 'दुख' ही से है; किन्तु ये दोनों सहोदर परस्पर तो विपरीत हो ही गये हैं, इन्हें देख कर प्रगट रूप में यह भी नहीं जाना जा सकता कि इन दोनों ही का जनक दुख ही है। वास्तव में दुख की अधिकता उपस्थित होने पर जब भाव का आश्रय यह अनुभव करता है कि उचित प्रतीकार की, आलम्बन के निराकरण की शक्ति उसमें है तब तो उसमें क्रोध की भावना उत्पन्न होगी, किन्तु यदि आलम्बन अत्यन्त शक्तिशाली और क्रूर है और प्रतीकार असंभव है, तब आश्रय में भय का संचार होगा। क्रुद्ध होने की अवस्था में आश्रय ताल ठोंक कर अपने आलंबन को परास्त करने के लिए आगे बढ़ेगा, किन्तु भय की भावना से आक्रांत होकर वह सामने जाने के स्थान में पीछे भागेगा। यहीं पर अनुभावों की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि उनके अभाव में यह निर्णय करना कठिन हो जायगा कि आश्रय क्रोध से पीड़ित है अथवा भय से। और, अनुभाव की सक्रिय अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि आश्रय की भावना क्रमशः इच्छा और प्रयत्न की ओर अग्रसर हो। प्रयत्न दो रूप ग्रहण कर सकता है, एक तो वाणी के प्रसार का, द्वितीय कार्य अथवा वास्तविक व्यापार का। 'क्रोध' नामक मनोविकार के अनुभाव 'तोड़ना-फोड़ना, मारना-पीटना' आदि हो सकते हैं, किन्तु 'उक्ति' के रूप में प्रगट होने वाला 'क्रोध का अनुभाव' शुक्ल जी के मतानुसार, बड़ी दूर तक अपना फैलाव कर सकता है। 'मैं उसे धूल में मिला दूँगा', 'मैं उसे चटनी कर डालूँगा', 'मैं उसका घर खोद कर तालाब बना डालूँगा' आदि उक्तियों से, आश्रय के क्रोध से उत्पन्न होने वाले कुपरिणामों का एक चित्र हमारे सामने अंकित हो जाता है। इस चित्र की भयावहता स्वयं क्रोध के भयंकर स्वरूप को स्पष्ट कर देती है।

अनुभावों के परिवर्त्तन भाव से किस प्रकार एक भाव किसी अन्य भाव का स्वरूप धारण कर लेता है, यह 'क्रोध' और 'भय' के संबंध में देखा जा चुका है। प्रत्येक भाव के सीमान्तों के इस प्रकार के निर्धारण से भाव-विशेष का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट और सुबोध हो जाता है, यह प्रक्रिया भी जब विविध चित्र-विधान लेती हुई चलती है तब रचनात्मकता मूर्त्तिमत्ता के प्रयत्न की

ओर ही अग्रसर होती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित विवेचन देखिए :—

(१) "बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं।** कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अन्तर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जायगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं।" —[उत्साह, पृ० ३,७

(२) "किसी की सुन्दर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है; प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्त्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम करने वाले दो ही एक मिलेंगे, पर उस पर श्रद्धा रखनेवाले सैकड़ों, हज़ारों, लाखों या करोड़ों मिल सकते हैं। [श्रद्धा-भक्ति, पृ० १७,१८

इन निबंधों में शुक्ल जी की रचनाकार-प्रवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन हमें उपलब्ध होता है। काव्य के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा को खुल कर अपनी शक्ति दिखाने का अवसर नहीं मिला था; अनुवादक और समीक्षक के भार से बोझिल होकर बड़े संकीर्ण मार्ग से चलने के लिए उसे विवश होना पड़ा था। रचनात्मक निबंधों के लेखक के रूप में शुक्ल जी के सामने ऐसी कोई बाधा नहीं थी। किंतु यहाँ भी वे विराम नहीं ग्रहण कर सके; रचनात्मक निबंधों में भी समीक्षक और विवेचक की विशेषता उन्हें विचारात्मक निबंधों और आलोचनात्मक प्रबंधों की ओर संकेत करती चली। ज्यों-ज्यों वे इस ओर चले, उनकी रचना-प्रवृत्ति का ह्रास तथा समालोचना-प्रवृत्ति का विकास हो चला। हिंदी-साहित्य के प्रसार और संगठन-काल में उन्होंने किस प्रकार एक युग-प्रवर्त्तक का कार्य संपन्न किया, यह हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे।

समालोचना-प्रवृत्ति का विकास

विवेचनात्मक पार्श्व

अध्याय ८

विवेचनात्मक पार्श्व की पृष्ठभूमि—१

शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के रचनात्मक पार्श्व को हम देख चुके, उनके काव्य और रचनात्मक तत्त्वों से परिपूर्ण निबंधों की एक संक्षिप्त झाँकी हमें मिल गयी। काव्य के अन्तर्गत उनके मुक्तक, स्फुट तथा प्रबंध काव्य से परिचित होकर हमने देखा कि उनका रचनाकार का कौशल निबंध का माध्यम पाकर निखर उठा है। इन कृतियों के आधार पर हमें इस अनिवार्य निर्णय पर आना पड़ता है कि साहित्य के क्षेत्र में यदि शुक्ल जी ने केवल इतना ही कार्य किया होता तो भी हिन्दी-साहित्य-जगत् उन्हें भुला नहीं सकता था।

किन्तु सच पूछिए तो शुक्ल जी के साहित्यक व्यक्तित्व का रचनात्मक पार्श्व उसके विवेचनात्मक पार्श्व का वाहन मात्र होकर रह गया है। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, उनका काव्य उनके समीक्षात्मक सिद्धान्तों का दर्पण मात्र है और उनके रचनात्सक निबन्ध पर भी उनके समीक्षक-रूप की छाया पड़ गयी है। उनके 'कविता क्या है ?' नामक निबन्ध को मैंने रचनात्मक निबंध माना है; उसमें समाविष्ट रचनात्मक विशेषताओं की प्रचुरता के कारण मुझे इस मान्यता की ओर ढलना पड़ा है; और, इस निबन्ध में शुक्ल जीने अपने समीक्षा-सिद्धान्तों की चर्चा ही की है। अतएव, यह कहना अनुचित न होगा कि शुक्ल जी के अध्ययन के उचित स्थल पर वास्तव में हम अब पहुँच रहे हैं।

विवेचनात्मक पार्श्व

उक्त विवेचनात्मक पार्श्व के अन्तर्गत हमें शुक्ल जी के विचारात्मक निबंध मिलेंगे, जिनमें उन्होंने अपने सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी विचार प्रगट किये हैं। इन सिद्धान्तों का प्रयोग उन्होंने यथावसर 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में किया है। उन्होंने मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास तथा तुलसीदास पर समीक्षाएँ लिखी हैं; इनमें भी उक्त सिद्धान्तों ही का अनुसरण किया गया है। इसलिए शुक्ल जी के साहित्यिक कार्य के प्रमुख अंश के अध्ययन के लिए हमें विचारात्मक निबंधों के साथ-साथ इन सभी कृतियों पर दृष्टि डालनी होगी।

यदि हम संक्षेप में यह जानना चाहें कि शुक्ल जी के विवेचनात्मक पार्श्व की पृष्ठभूमि क्या है, तो कह सकते हैं कि पाश्चात्य विचारों की पराधीनता से मुक्त रह कर हिंदी साहित्य के लिए एक आत्म-निर्भर समीक्षा-पथ आविष्कृत करना ही उन्हें अभीष्ट है। पाश्चात्य विचारों की पराधीनता से मुक्त रहने का यह अर्थ नहीं है कि आँख मूँद कर उनका बहिष्कार किया जाय; नहीं, ऐसा अर्थ लगाना और सोचना शुक्ल जी के प्रति अन्याय करना होगा। वे इतना ही चाहते हैं कि साहित्य के क्षेत्र में हम स्वतंत्र चिन्तन के अभ्यासी बनें, विदेशी साहित्य की विचार-धाराओं से भी सहायता लेकर अपने साहित्य को पुष्ट करें, किन्तु विदेशी काच के प्रशंसक बनकर अपने यहाँ की मणि का तिरस्कार न करें। इसी विचार-धारा की पृष्ठभूमि में उनका समस्त कार्यक्रम व्यवस्थित किया गया है।

विवेचनात्मक पार्श्व की पृष्ठभूमि

शुक्ल जी के कार्य की पृष्ठभूमि उचित है अथवा नहीं?—यह प्रश्न स्वभावतः हमारे सामने खड़ा होता है। इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता इसलिए भी है कि हिन्दी के अनेक समीक्षक* उसके प्रशंसक नहीं हैं। हमें यह देखने की आवश्यकता है कि शुक्ल जी अपने पथ से च्युत हो गये अथवा उनकी आलोचना करनेवालों ही को भ्रम हो गया है। हमारी साहित्यिक गति-विधि के नेतागण हमें कैसा नेतृत्त्व दे रहे हैं, इस पर हमें मुक्त-मस्तिष्क होकर विचार करना चाहिए।

शुक्ल जी की काव्य-पंक्तियों और रचनात्मक निबंधों पर जो एक साधारण दृष्टिपात यहाँ किया गया है, उससे शुक्ल जी के व्यक्तित्त्व के सम्बन्ध में अनेक बातें पाठकों को हृदयंगम हुई होंगी। वे क्रमशः निम्नलिखित हैं—

❀ ❀ ❀

* (१) "इस प्रतिक्रिया के कारण इस देश में उन अत्यन्त उत्साहपरायण समालोचकों का आविर्भाव हुआ है जो सब समस्याओं का समाधान एक ही कसौटी पर कसकर करने लगे हैं, हमारे यहाँ ऐसा माना है, या हमारे यहाँ ऐसा नहीं माना है। 'हमारे यहाँ' उनका अमोघ ब्रह्मास्त्र है, जिससे किसी को भी धराशायी बनाया जा सकता है। 'पाश्चात्य विचार का प्रभाव' उनका ऐसा बहुधा विघोषित निन्दा वाक्य है कि जिस किसी विचार को परास्त करने के लिए यह एक वाक्यांश बहुत काफी समझा जा सकता है।"

—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

(२) "शुक्ल जी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नहीं उन्होंने इस साँचे के लिए, यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।"

—श्री नन्द दुलारे वाजपेयी

(१) शुक्ल जी देशभक्त थे। अपनी देशभक्ति के कारण ही वे स्वदेशीय साहित्य के भी अनुरागी थे।

(२) उनका स्वदेशीय साहित्यानुराग आसक्ति की सीमा को नहीं पहुँचा हुआ था। अपने साहित्य की मान्यताओं में यदि उन्हें कचाई दिखायी पड़ती तो वे उनका समर्थन करने के लिए कटिबद्ध न होते। रस-सिद्धान्त की अपूर्णता की ओर उन्होंने संकेत किया है।

(३) उन्होंने देखा कि साहित्य की अनेक समस्याओं के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य साहित्य-समीक्षकों के सिद्धान्त भ्रामक हैं और उनका अनुचित प्रभाव हिंदी के साहित्यकारों पर पड़ रहा है। उन्होंने अपना यह कर्त्तव्य समझा कि वे अपने साहित्य-बंधुओं को चेतावनी दें और अनुकरण-वृत्ति से विरत करें।

(४) रस-मत के साधारणीकरण सिद्धान्त से वे प्रभावित थे। देश काल के अनुरूप विकास से सम्पन्न करके वे रस-मत को ह। साहित्य में प्रधानता देना चाहते थे और रस-मत-सम्मत दृष्टि ही से वे सारे संसार के साहित्य की जाँच करने के पक्ष में थे।

(५) उनकी आलोचनाएँ व्यक्तिगत द्वेष से प्रभावित नहीं थीं। उनमें जो उग्र आक्रमण और तीखे व्यंग-प्रहार की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है उसका कारण केवल यह है कि भ्रामक पाश्चात्य विचारों के प्रभाव-प्रवाह में बहते जानेवाले सहित्य-सेवियों को वे एक धक्का देकर अपने देशी साहित्य के उत्कृष्ट, किंतु कालचक्र की निर्दयता के कारण उपेक्षित, सिद्धान्तों की ओर उन्मुख करना चाहते थे। सहस्रों वर्षों की दास-मनोवृत्ति से पीड़ित व्यक्तियों के उपचेतन स्तरों पर यदि उन्होंने आवश्यकता समझ कर कहीं शल्यचिकित्सा की, कहीं झकझोर देनेवाले आघात दिये तो उनकी इस सेवा के लिए हमें उनको धन्यवाद देना चाहिए, नहीं तो कम से कम उनके प्रति सौजन्य-भाव का निर्वाह तो करना ही चाहिए।

इन पाँच बातों पर यदि हम विचार करके देखेंगे तो शुक्ल जी की कृतियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक और तर्कसंगत दृष्टिकोण द्वारा उचित निर्णय पर पहुँच सकेंगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी समस्त समीक्षाओं की पृष्ठ-भूमि में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति का काव्यादर्श, उनका संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण, केवल अर्थग्रहण के स्थान में बिम्बग्रहण कराने की उनकी प्रवृत्ति, प्रकृति के कोमल और कठोर, मधुर और भयंकर दोनों ही में सौन्दर्य-दर्शन की शक्ति, सामाजिक कठिनाइयों और समस्याओं के प्रति उनकी सहानुभूति, विश्वमात्र के कल्याण की कामना—ये सभी बातें

विद्यमान थीं और इनमें से जिस किसी विशेषता की कमी उन्होंने तुलसीदास में भी देखी उसके अभाव की चर्चा किये बिना नहीं रह सके। प्रकृति-प्रेम में पिछड़े हुए फ़ारसी काव्य की उन्होंने निंदा की, साथ ही प्रकृति-प्रेम की प्रचुरता से सम्पन्न अंगरेजी काव्य की प्रशंसा; क्या इसका यह अर्थ लगाया जाय कि फ़ारसी काव्य के प्रति उनके हृदय में द्वेष था और अंगरेजी काव्य के प्रति ममता ?।

यदि शुक्ल जी ने भारतीय और पाश्चात्य काव्य के उद्गम-स्थलों को एक सरल विवेचना प्रस्तुत कर दी होती और एक तुलनात्मक अध्ययन-द्वारा यह स्पष्ट कर दिया होता कि किन कारणों से उनका यह मत है कि रस-सिद्धान्त के रूप में भारतीय साहित्य के पास अपेक्षाकृत एक उच्चतर काव्यादर्श का ढाँचा विद्यमान है, जिसे थोड़े ही प्रयत्न से वर्त्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुरूप भी बनाया जा सकता है, तो उनके संदेश को हृदयंगम करने में सभी सहृदय साहित्यानुरागियों को आसानी होती। उनके इस प्रयत्न के अभाव में इस दृष्टि से भी उन्हें समझने का प्रयत्न हमें करना चाहिए।

अफ़लातून के कला-सम्बन्धी विचार

योरप के एक छोटे से देश यूनान के मनीषियों द्वारा स्थापित परम्पराएँ लेकर ही पाश्चात्य साहित्य खड़ा हुआ। ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व होमर और हेसियड नाम के महाकवि यूनान में हुए। होमर ने 'इलियड' और 'ओडेसे' नामक दो महाकाव्यों की रचना की। हेसियड ने भी दो महाकाव्य लिखे जिनके नाम हैं—'वर्क्स ऐंड डेज़' (Works and days) और 'थियोगोनी' (Theogony) इन महाकवियों के काव्य में काव्यादर्श का कोई वैसा स्वरूप नहीं प्रस्तुत किया जा सका है जैसा वाल्मीकि के रामायण में देखा जाता है। जिस समाज का चित्रण इन महाकाव्यों में हुआ है वह स्वयं संस्कार-सम्पन्न नहीं था; अतएव उच्च मानदण्ड से युक्त काव्य की वह अपेक्षा ही नहीं कर सकता था। लगभग ४२९ ई० पू० में अफ़लातून (Plato) नामक मनीषी का जन्म हुआ। यूनानियों को आदर्श मनुष्य और योग्य नागरिक बनाने के उद्देश्य से उसने कई ग्रंथ लिखे। इनमें से (Republic) 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ में उसने कला और कलाकार के सम्बन्ध में भी कुछ विचार प्रगट किये। होमर के काव्य के सम्बन्ध में वह असन्तुष्ट ही रहा, क्योंकि उसने उसमें बहुत सी ऐसी बातें भी पायीं जो मनुष्य के उत्थान में सहायक नहीं हो सकती थीं, और उसे मनुष्य के विकास को अधिकाधिक संभव बनानेवाले तत्त्वों ही की खोज थी।

अफ़लातून ने कलात्मक कृति के बाह्यरूपविधान की अपेक्षा विषय

को महत्त्व दिया। उसने निर्दिष्ट किया कि मनुष्य का कल्याण करने की शक्ति सत्य ही में है और सत्य ही में सौन्दर्य भी है; अर्थात् अधिक से अधिक आकर्षण से सम्पन्न काव्य यदि असत्य का गान करता है तो न तो वह सुन्दर ही है और न मनुष्य का हित-सम्पादन उससे संभव है। उसने यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि कला सत्य पर ही आधारित है, सत्य के चित्रण से पृथक् उसका कोई कर्त्तव्य नहीं है, देश-काल की सीमाओं में मूल सत्य का अवतारण और अनुकरण ही उसने कला का धर्म बतलाया। इसी कारण उसने कहा कि यदि कला सत्पथावलम्बिनी होगी तो उससे प्रभावित समाज भी सत्पथावलम्बी बनेगा, इसके विपरीत यदि कला असत्पथ से संबन्ध जोड़ेगी, अर्थात् सदाचार और नीति के विरोध में खड़ी होगी तो समाज भी तदनुरूप ही ढलेगा। उसने स्पष्ट रूप से बताया कि काव्य अथवा किसी भी कलात्मक कृति में सत्य का जो स्वरूप प्रतिष्ठापित हो वह लोकमान्य सत्य की अवमानना न करे। अपनी इस विचारधारा के कारण अफ़लातून आदर्शवादी कहा गया।

अफ़लातून के इस आदर्शवाद ने कला और काव्य को निस्सन्देह अपने भार से आक्रान्त कर दिया, सदाचार और नीति का महत्व बढ़ गया, रचना दब सी गयी। स्वभावतः रचना में उन विशेषताओं की कमी होने लगी, जिनके कारण ही वह प्रभाव उत्पन्न करने में सफलता पा सकती थी। इस परिस्थिति का अन्त अरस्तू के द्वारा हुआ।

ईसा के ३८४ वर्ष पूर्व अफ़लातून के शिष्य अरस्तू का जन्म हुआ। उसने (Poetics) 'पोएटिक्स' नामक ग्रन्थ लिखकर नाट्यशास्त्र का निर्माण किया। नाट्यशास्त्र ही का सिद्धान्त उसने काव्य पर भी प्रचलित किया। उसने दुःखान्त नाटक की उपयोगिता इस आधार पर प्रमाणित की कि नायक के कष्टों को देखकर दर्शक के हृदय में भय और करुणा का संचार होगा तथा उसकी वृत्तियाँ सदाचार की ओर उन्मुख होंगी। उसने अश्लीलता के निवारण तथा जनसाधारण से ऊँचे स्तर के नायक की नियोजना को मान्यता दी। दुःखान्त नाटक का उक्त सिद्धान्त काव्य के संबन्ध में भी, ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी के पुनरुत्थान उक्त आन्दोलन के पूर्व तक, व्यवहार में आता रहा। पुनरुत्थान-आन्दोलन के परवर्त्ती साहित्यकारों ने अरस्तू के इस सिद्धान्त का परित्याग किया और काव्य को एक नये आधार पर स्थापित किया। पुनरुत्थान-आन्दोलन के समर्थक लेखकों ने यह प्रश्न किया कि यदि भय और करुणा को उत्पन्न करने की शक्ति ही की माँग काव्य से की जायगी तो जो लोग

अरस्तू के सिद्धान्त

उसके द्वारा आनंद और उल्लास को भी अभिव्यक्त करना चाहते हैं वे यह कार्य किस प्रकार संपन्न कर सकेंगे ? उदाहरण के लिए ऐडिसन ने अरस्तू के सिद्धान्त को न मान कर यह निर्धारित किया कि दुःखान्त नाटक की तरह महाकाव्य दुःखान्त न होना चाहिए। उसने मिल्टन के काव्य की आलोचना करते समय अरस्तू के सिद्धांतों का आधार कुछ ही दूर तक लिया है और जहाँ आवश्यक समझा है वहाँ स्वयं को उनसे स्वतंत्र रख कर विचार किया है। काव्य-गत न्यायस्थापना की कोई बात अरस्तू के मत से अनुमोदित नहीं, किन्तु इंग्लैण्ड के साहित्यकार ऐडिसन और बेकन की इस ओर पूर्ण प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। यह काव्यगत न्याय-स्थापना क्या है ?

काव्यगत न्याय स्थापना

हमारे जीवन में घटनाओं का प्रकृत प्रवाह प्रायः नायक को कष्टों में निमग्न रख कर ही प्रस्तुत करता है। अरस्तू का दुःखान्त नाटक-सम्बन्धी आदर्श काव्य में भी उसे उसी रूप में रख कर दर्शक के हृदय में पीड़ा उत्पन्न करना एवं उसी के द्वारा उसकी चरित्र-शुद्धि की उत्तेजना प्रस्तुत करना चाहता है। इसके विरोध में काव्यगत न्याय-स्थापना का सिद्धान्त घोषित करता है कि पीड़ित नायक को भी अन्त में पुरस्कार मिलना निश्चित है तथा असत् कम करने वाले को भी उचित दंड पाने से कोई रोक नहीं सकता। घटना के प्रस्तुत रूप में भी यह संभावना विद्यमान रहती है, हाँ केवल कवि-दृष्टि उसे देख सकती है। कवि-दृष्टि-सुलभ इस स्वरूप को यदि समस्त सहृदय जन के लिए अनुभवनीय बनाना है तो उसका इस रूप में संस्कार करना पड़ेगा कि सत् को पुरस्कार और असत् को दण्ड मिलने की प्रक्रिया कला के साधनों से समन्वित करके दिखायी जाय। बेकन और ऐडिसन ने काव्य-गत न्याय-स्थापना के इस सिद्धान्त को स्वीकृति देकर मौन भाव से प्रायः उस आदर्शवाद के पक्ष में अपने आप को पहुँचा दिया जो अफलातून के सिद्धान्त में देखा गया था। एक ओर यह परिस्थिति थी कि अरस्तू के सिद्धान्त से मुक्त होकर काव्य अपने पैरों पर खड़ा होने का उद्योग कर रहा था, दूसरी ओर गौसन जैसे लेखक उसकी निंदा करने में लगे थे। पुनरुत्थान-काल के श्रेष्ठ अँगरेज आलोचक सर फ़िलिप सिड्नी ने गौसन महोदय को मुँहतोड़ उत्तर देकर काव्य की उपयोगिता और महत्ता का प्रतिपादन किया। होमर की आलोचना कर के अफ़लातून ने काव्य की जन-हित-सम्पादिनी शक्ति के सम्बन्ध में जो एक शंका उत्पन्न कर दी थी उसका भी उन्होंने उन्मूलन किया। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध आलोचक ड्राइडेन ने, जो पुनरुत्थान-काल के उत्तरार्द्ध में कार्यारूढ़ हुए, अपनी स्थिति मध्य में रखी; उन्होंने प्राचीन

साहित्य-परम्परा का त्याग नहीं किया तो नवीन का भी तिरस्कार नहीं किया; उन्होंने अरस्तू के नाटक-सम्बन्धी नियमों को मानते हुए भी उनकी अनिवार्यता नहीं स्वीकार की। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा की पंद्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में, अफ़लातून के समय से लगभग २००० वर्षों बाद भी, पाश्चात्य जगत् में काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों में स्थिरता नहीं आयी थी।

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में गद्य में निबन्धों का प्रचलन हुआ, उपन्यास ने पाँव जमाया, आदर्शवाद और यथार्थवाद की धाराएँ टक्कर लेती रहीं, जिसमें प्रायः आदर्शवाद ही का अधिकार बना रह गया। अठारहीं शताब्दी के अंतिम चरण (१७८९) में फ्रांस की राज्यक्रान्ति हुई, जिसे 'स्वाधीनता, समानता और भ्रातृभाव' का नारा ऊँचा कर के, फ्रांस के मौलिक विचारक रूसो ने अपने जीवन-दान द्वारा अनुप्राणित किया। औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप १८ वीं शताब्दी में योरप के समाज में व्यापारियों का जो प्राधान्य हो गया था और पुनरुत्थान आन्दोलन का रचनात्मक वेग शिथिल होने से साहित्य में भी जो स्थिरता आ गयी थी, उसे उक्त राज्य-क्रान्ति से बड़ा धक्का लगा। सामाजिक रूढ़ियाँ टूटीं, साहित्य की रूढ़ियाँ टूटीं, विषय में परिवर्त्तन हुआ, मनुष्यों में साधारण मनुष्य और प्रकृति के सजीव रूप की ओर कवियों का ध्यान गया और इसके परिणाम-स्वरूप स्वच्छन्दतावाद का प्रवेश हुआ।

स्वच्छन्दतावाद

उन्नीसवीं शताब्दी के इस स्वच्छन्दतावादी काव्य को लक्ष्य करके प्रोफ़ेसर हरफर्ड ने सन् १९२० में प्रकाशित अपने एक लेख में कहा है :—

*"उन्नीसवीं शताब्दी का काव्य पूर्ववर्त्ती किसी भी समय के काव्य की अपेक्षा अधिक सार्थक, प्रकृति के हृदय में अधिक मूलीभूत और मानवता-तत्व से अधिक सम्पन्न है। योरपनिवासी मनुष्य की प्रधान मानसिक धाराओं को वह प्रतिबिम्बित करता है। ये धाराएँ विज्ञान की प्रगति और जनतन्त्रवाद का विकास हैं। पिछले साठ वर्षों के फ्रांसीसी काव्य के अध्ययन द्वारा यह बात अच्छी तरह प्रगट हो जाती है, क्योंकि फ्रांस योरप का साहित्यिक केन्द्र और उसकी भावना का मापदण्ड रहा है,

*"Poetry in the ninteenth century was more charged with meaning, more rooted in the stuff of humanity and the heart of nature than ever before. It reflected the main currents in the mentality of the European man—the advance of science and the growth of democracy.

योरप के मन की गति को जितनी भावप्रवणता के साथ यह देश प्रतिबिम्बित करता है उतनी भावप्रवणता के साथ अन्य कोई देश नहीं करता। अन्य किसी भी देश की अपेक्षा फ्रांस ही के मन ने शेष समस्तयोरप पर विचारों और लोकप्रियता प्रचलनों का प्रसार किया है।"

स्वच्छंदतावाद के विकास में कीट्स, शेली, वर्डसवर्थ जैसे कवियों का सहयोग प्राप्त होने से इंग्लैण्ड में काव्य प्रकृतभूमि पर आता दिखायी पड़ा। किंतु इस बीच विचार-जगत् में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने बड़ी उथल-पुथल मचा दी। साधारणतया पुनरुत्थान आंदोलन का पूववर्त्ती समय, मध्ययुग, अंधकार-युग कहा जाता है; किंतु जो नवीन जागृति आयी वह तो यह घोषित करती जान पड़ी कि पुनरुत्थान युग में भी मनुष्य अंधकार ही में रहा। ये नवीन प्रकाश वाले दो विचारक थे—(१) कार्लमार्क्स, (२) डारविन। कार्लमार्क्स ने रूसो के सिद्धांतों के आधार पर ही नींव खड़ी की, अर्थात् मनुष्य और मनुष्य की पारस्परिक समता को उसने स्वीकार किया; इतना ही नहीं जगत् मात्र की एकता को उसने इस आधार पर माना कि सम्पूर्ण विश्व ही जड़तत्व की एक विशाल राशि है। डारविन ने विकासवाद का प्रचार किया; उसने मनुष्य की क्रमिक उत्पत्ति बंदरों की किसी प्रगतिशील जाति से स्थापित की। अपने सिद्धांत की स्थापना के लिए उसने ऐसे प्रमाण दिये कि गिरजाघरों की प्रतिष्ठा बचाने के लिए व्यग्र पादड़ी बड़े संकट में पड़ गये, क्योंकि उनके अनुसार ईश्वर ने छः दिन परिश्रम करके, लगभग ६००० वर्षों पहले ही सृष्टि की रचना की थी! अस्तु।

यह नहीं कहा जा सकता कि कार्लमार्क्स और डारविन के मत में सत्य का कुछ अंश ही नहीं है, किन्तु यह कहना भी आपत्तिजनक नहीं जान पड़ता कि इन दोनों ने जड़वाद का प्रचार कर के जीवन के पलड़े को, एक ओर को, बहुत अधिक झुक जाने दिया। विज्ञान की उत्तरोत्तर प्राप्त होनेवाली सफलताओं की पृष्ठभूमि में यह प्रचार मनुष्य के अहंकार को बहुत अधिक बढ़ानेवाला सिद्ध हुआ। इस वातावरण में भोगवाद की प्रवृत्ति स्वभावतः उभड़ी

जड़वादी प्रवृत्ति

This is most clearly brought out by the study of French poetry during the last sixty years, for France is the literary focus of Europe and its sensitive thermometer, it does reflect more sensitively than any other country the movement of the mind of Europe, her own mind has more than that of any other country radiated ideas and fashions out over the rest of Europe."

और उसे और अधिक उभाड़ने के लिए काव्य और साहित्य के अन्य विविध माध्यम भी सहायक हुए। लोगों की रुचि यथार्थवाद की ओर बड़ी उग्रता के साथ बढ़ी और मनुष्य को पूर्ण रूप से पशु के स्तर पर उतार देने वाले अतियथार्थवाद में अपनी तृप्ति प्राप्त करने लगी। स्वच्छन्दतावाद में जो कुछ आदर्शवाद का तत्त्व था उसका बहिष्कार कर के अतियथार्थवादियों ने उसमें निहित कल्पनातत्त्व का अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए व्यवहार किया। मार्क्स की आर्थिक मान्यताओं को उन्होंने महत्त्व नहीं दिया, किन्तु उसके द्वारा प्रचारित द्वन्दात्मक भौतिकवाद को अपना लिया। इस मनोवृत्ति के परिणाम-स्वरूप प्रतीकवाद, कला के लिए कलावाद, अभिव्यंजनावाद, स्वप्नवाद तरह-तरह के साहित्यिक सिद्धान्त पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व रखते हुए भी, मानव-जीवन के विकासपरक तत्त्वों की अल्पाधिक उपेक्षा पर सहमत होकर, चले। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के वर्त्तमान समय तक यही परिस्थिति चल रही है।

प्रस्तुत शताब्दी के काव्य के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर हरफ़ोर्ड ने अपनी सम्मति प्रगट करते हुए कहा है—

*"बीसवीं शताब्दी का काव्य अभी इस स्थिति में नहीं है कि उसका यथार्थ स्वरूप-निर्णय किया जाय, फिर भी हम देखते हैं कि विरोधी विचार-धाराएँ एकत्र हो रही हैं। विज्ञान की निकटतर सहानुभूति उसे प्राप्त है, किन्तु यथार्थ के भीतर से एक नवीन आदर्शोन्मुखता उत्पन्न हो रही है; यह अपना आदर्श जीवन में, अस्तित्त्व के रचनात्मक विकास में, जीवन को चरितार्थ करने की उमंग में, कार्य करने की स्फूर्त्ति में, अनुभव की साहसिकता में, नित्य नवपरिवर्त्तनशील जीवन स्रोत में निमज्जन करने में प्राप्त करती है।"

निस्संदेह नवीन काव्य वैज्ञानिक चेतना को हृदयंगम करता हुआ ही चल सकता है, उसकी उपेक्षा कर के नहीं। किन्तु जहाँ विज्ञान मनुष्य के निर्माण का नहीं, संहार का साधन बन जाता है, वह सर्वशक्तिमत्ता का अहंकार उत्पन्न करता है, एक वर्ग का सहायक बन कर जहाँ वह अन्य वर्गों पर अत्याचार का मार्ग खोलता है वहाँ वह निषेधात्मक बन कर घृणा, द्वेष,

* "The Poetry of the twentieth century is not yet capable of definition, but we notice a drawing together of hostile currents of thought. It is in closer sympathy with science, but there is a new ideality born of and growing out of the real. It finds its ideal in life, in the creative evolution of being, in a passion for life being lived, the energy of doing, the adventure of experience, the plunge into the everchanging stream of life."

अशान्ति को प्रश्रय देता है और वहाँ काव्य उसका तिरस्कार कर के ही मानव जाति के प्रति अपनी सच्ची सेवा प्रदान कर सकेगा। यदि काव्य की उचित चेतावनी पर विश्व ध्यान न देगा तो महायुद्धों की ज्वाला में झुलसा जा कर अन्ततोगत्त्वा अपनी प्रकृत अवस्था को प्राप्त होगा। किन्तु वह काव्य कहाँ है जो निषिद्ध पथगामी विज्ञान को चेतावनी दे? मैं यह नहीं कहता कि वर्त्तमान शताब्दी में काव्य का कोई रूप ही नहीं है; किंतु मेरा कथन यह अवश्य है कि विश्व-प्रमाद के हृदय पर आघात करनेवाला, मनुष्य की प्रगति-व्यग्रता को व्यक्त करने वाला, मनुष्य-जीवन को कर्मण्यता और प्रवाह से संपन्न बनानेवाला काव्य उक्त वादों के भीतर से प्रगट नहीं हो सकता। इसका कारण भी समझ लेने की आवश्यकता है।

तालाब और हरिद्वार की गंगा दोनो ही में डुबकी लगानेवाले लोग सहज ही दोनों के अन्तर को समझ सकते हैं; एक में स्नान करने से किसी विशेष ताजगी और शक्ति की प्राप्ति नहीं होती; इसके विपरीत द्वितीय की प्रखर धारा में निमज्जन करने से कुछ काल के लिए समस्त शारीरिक और मानसिक अवसाद का अंत हो जाता है। इसी प्रकार इंद्रिय-सुख के स्तर पर, भोगवाद की संकुचित सीमाओं के भीतर ही यदि काव्य प्रवाहित होगा तो उसे हृदय के दाह को शीतलता में परिणत करने की शक्ति नहीं मिल सकती; मानव व्यक्तित्त्व को सच्ची शांति, सच्चा विश्राम उसी काव्य से प्राप्त हो सकता है जो एकाङ्गी विचार धाराओं पर आश्रित अल्प-प्राण 'वाद-विवाद' से मुक्त हो तथा किसी उच्च स्तर से उद्गम प्राप्त करने के कारण जिसमें अत्यंत अधीर चंचलता कलकल निनाद करती हुई आगे बढ़ रही हो। प्रोफेसर हरफोर्ड महाशय ने प्रस्तुत शताब्दी के प्रथम चरण में जिस आदर्शोन्मुखता की बात उक्त अवतरण में कही है वह, उत्तरोत्तर संहारक होते जाने वाले वर्त्तमान वैज्ञानिक अभियान के वातावरण में किस रूप में परिणत होगी और किस कोटि के काव्य को अनुप्राणित करने में समर्थ होगी, इसका अनुमान करना कठिन है। जो हो, यह तो स्पष्ट है कि योरप का काव्य अस्थिर अवस्था में है, जो कदापि दुर्गुण नहीं है; किंतु अस्थिर होकर भी वह अपनी पूर्ण समर्थता को संगठित नहीं कर पा रहा है, छिन्न-भिन्न होकर बिखर रहा है, जो वास्तव में एक शोचनीय दुर्बलता है।

आकाश-चुम्बी हिमालय की गोद से अवतीर्ण होने के कारण गंगा में गति की तीव्रता और निर्मलता दोनों है। यदि अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट प्रेरणाएँ लेकर ही योरप का काव्य उचित सीमा तक चलता अथवा उसने पुनरुत्थान-काल के संस्कारों ही से स्वयं को सुसंपन्न रखा होता तो उसमें तीक्ष्ण गति

के साथ-साथ निर्मलता भी विद्यमान रहती। किंतु उसने उतने ऊँचे चढ़ कर निर्मलता प्राप्त करने की परवा नहीं की। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि फिर उसमें गति की तीव्रता कहाँ से आयी ? इसका उत्तर सहृदय पाठक स्वयं दे लेंगे अथवा आगे के पृष्ठों को पढ़ने पर वह सहज ही उनके सामने प्रस्तुत हो जायगा।

अध्याय ६

विवेचनात्मक पार्श्व की पृष्ठभूमि—२

योरप के काव्य-समीक्षा-सिद्धांतों के चढ़ाव-उतार की एक संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी। हमने देखा कि अफ़लातून ने भी काव्य के प्रकृत स्वरूप की अपूर्ण कल्पना ही की थी। उसके बाद अरस्तू के समय से लेकर बीसवीं शताब्दी तक आदर्शवाद और यथार्थवाद के अनेक फेरे हुए और अब वहाँ काव्य यथार्थवाद के चंगुल में पड़ गया है। यथार्थवाद का भी कोई ऐसा स्वरूप नहीं सङ्गठित हो रहा है, जिसमें जीवन की समस्याओं में व्यस्त जनसाधारण को अंधकार-निवारक प्रकाश की किरणें फूटती दिखायी पड़ें। अब हमें एक सरसरी दृष्टि भारतीय समीक्षा-सिद्धांतों के विकास पर डालनी चाहिए। शुक्ल जी के सम्पूर्ण समालोचक-व्यक्तित्त्व को समझने के लिए, उनके व्यंग, उनके आक्रमण, सब का सच्चा स्वरूप हृदयंगम करने तथा इन सभी के प्रति सहानुभूति का भाव प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है।

इतिहास-वेत्ताओं का मत है कि वाल्मीकि महात्मा बुद्ध के आविर्भाव के पहले हुए।*बुद्धदेव के संबंध में यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि वे ईसा के छः शताब्दी पूर्व हुए। वाल्मीकि बुद्धदेव से कितने पूर्व हुए यह विवाद-ग्रस्त हो सकता है, किंतु यदि हम अंतर्साक्ष्य पर निर्भर रहें तो यह कह सकते हैं कि रामायण में वर्णाश्रम व्यवस्था का जो रूप मिलता है उसकी विकृति पर ही बौद्ध धर्म का उदय संभव है और यह विकृति सौ-पचास वर्षों में ही क्रियाशील नहीं हो सकती। यह स्मरण रखना चाहिए कि वाल्मीकि मुनि राम के समसामयिक थे और राम वर्णाश्रम-व्यवस्था के मर्यादा-रक्षक होने के कारण ही मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये। ऐसी अवस्था में इस आधार पर कि एक दूसरे से सर्वथा भिन्न दो महान् युगों के प्रवर्त्तकों के बीच में यदि सहस्रों वर्षों का नहीं तो सैकड़ों वर्षों का अंतर तो अवश्य ही होना चाहिए। वाल्मीकि का समय होमर से भी पहले मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखायी पड़ती।

आदि-काव्य

*The balance of the evidence in relation to Buddhism seems to favour the Pre-Budhistic origin of the genuine Ramayana.

—Arthur A. Macdonell ,in History of sanskrit literature.

जो हो होमर के समसामयिक तो वे अवश्य ही ठहरते हैं, यद्यपि मैं जो बात आगे कहने जा रहा हूँ उसे उनके होमर के परवर्त्ती होने से भी कोई क्षति नहीं प्राप्त होती।

भारतीय वाङ्मय में वाल्मीकि 'आदि कवि' कहे गये हैं। इसकी चर्चा करते हुए श्री आर्थर ए० मैक्डानल* ने अपने संस्कृत के इतिहास में कहा है—

"वास्तव में रामायण परवर्त्ती काव्य के अरुणोदय का प्रतिनिधित्व करता है। बहुत सम्भवतः यह उस कला का प्रत्यक्ष प्रसार और विकास प्रगट करता है जिसे वाल्मीकि की रचना के आवृत्तिकारों की परम्परा ने प्रस्तुत किया। महाकवियों ने उन्हें आदि कवि कह कर इस सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से मान्यता दी है।"

शान्त तपोवन में महर्षि वाल्मीकि विराजमान थे। सहसा एक दुर्घटना घटित हो गयी। एक व्याध ने मैथुन-रत क्रोञ्च-युग्म पर बाण चला दिया। आहत होकर क्रौञ्च धराशायी हो गया। यह अत्याचार देखकर तथा व्यथिता क्रौंची का चीत्कार श्रवण कर महर्षि बहुत विकल हुए; सहज ही उनकी वाणी से ये शब्द निकले—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।"†

जितना ही प्रखर व्याध का अज्ञान था, जितनी ही तीव्र क्रौंची की वेदना थी, उतने ही मार्मिक और कठोर महर्षि के ये शब्द थे। ये कहाँ से आये? उच्च कोटि की रागात्मिका वृत्ति से सम्पन्न महर्षि के उस अंतस्तल से ये शब्द निकले थे जिसमें मानव मात्र ही के लिए नहीं, समस्त मानवेतर सृष्टि के लिए अपरिमित दया, अनन्त करुणा, असीम स्नेह था। जहाँ तक क्रौंची की पीड़ा का प्रश्न था, उनकी सहानुभूति सर्वथा उचित थी, किन्तु वह इतनी सक्रिय क्यों हुई कि व्याध अभिशाप का पात्र हो गया? यह सोच कर महर्षि का विचलित हो जाना स्वाभाविक था। आँखों के सामने

* "The Ramayana in fact represents the dawn of the later artificial poetry (Kavya) which was in all probability the direct continuation and development of the art handed down by the rhapsodists who recited Valmiki's work. Such a relationship is distinctly recognised by the authors of the great classical epics (Maha Kavis) when they refer to him as the Adikavi or first poet."

† हे निषाद! तुम प्रतिष्ठा को न प्राप्त होओ, क्योंकि तुमने मैथुन में रत काममोहित क्रौञ्च को मार डाला है।

सहसा सम्पन्न अप्रिय लोक-व्यापार और तत्काल ही प्रभाव ग्रहण कर उनके द्वारा क्षोभ की अभिव्यक्ति—यह सम्पूर्ण प्रसंग उन्हें अपनी वैयक्तिक साधना में विघ्न उपस्थित करता जान पड़ा। वे बड़े असमंजस में पड़ गये।

महर्षि ने असमंजस के निवारण के लिए प्रकाश की खोज की; वह प्रकाश उन्हें शीघ्र ही मिला; ब्रह्मा पधारे और बोले, "हे मुनि! तुम संशय में क्यों पड़े हो? तुम्हारा शोक साधारण शोक नहीं है, वह तो असाधारण होकर श्लोकत्त्व को प्राप्त हो गया।" ब्रह्मा के इस कथन में ही, यदि हम ध्यान देकर देखें तो, काव्य के सच्चे स्वरूप का दर्शन मिल जायगा।

जो शोक व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठ कर, व्यक्ति की सामान्य स्वार्थ-भावना और संकीर्णता से मुक्त होकर सर्व-साधारण स्तर पर पहुँच गया, लोक-कल्याण और लोक-सेवा ही जिसका लक्षण है, वही शोक, वही क्रोध, वही क्षोभ सच्चा श्लोक है, सच्चा काव्य है। महर्षि का क्षोभ इसी कोटि का था; इसी कारण सहृदय-समाज को उससे रस की प्राप्ति हुई।

करुणा और क्रोध का समन्वित सिद्धान्त

यहाँ हमें काव्य-सम्बन्धी एक मूल्यवान तत्त्व की उपलब्धि होती है—प्रभावशाली आलम्बन के उपस्थित होने पर सहृदय आश्रय में किसी न किसी प्रकार की प्रतिक्रिया होगी ही; वाल्मीकि जैसे आश्रय ने तो केवल अभिशाप-वचन ही कहे और उनके व्यक्तित्त्व की यह उच्चता थी कि अपनी शापमयी वाणी द्वारा निषाद को दंडित करने के औचित्य में भी उनको संदेह हो गया किन्तु ऐसे भी सहृदय आश्रय की कल्पना की जा सकती है जो तत्काल ही निषाद को शस्त्र-द्वारा दण्ड देता। सामने अत्याचार देख कर यदि कोई व्यक्ति अत्याचारी और अत्याचार के पात्र के बीच में प्रस्तुत अन्यायपूर्ण व्यवहार का प्रतीकार करने के लिए निर्विशेष, निर्लिप्त भाव से, अग्रसर होता है तो निस्संदेह यह भी श्लोकत्त्व की मर्यादा के भीतर मान्य होगा।

संसार में सबल और निर्बल सदैव रहे हैं और सदैव रहेंगे; निर्बल सबल के खाद्य बनेंगे और निर्बल को खाकर जीना सबल अपना अधिकार मानेंगे। निस्सन्देह यह सत्य है, किन्तु जितना ही सत्य यह है उतना ही सत्य यह भी है कि दोनों के मध्य में समीकरण का, अत्याचारी के दण्डविधान तथा निर्बल के शक्तिवर्द्धन का प्रयत्न सृष्टि के एक शाश्वत नियम के द्वारा रागात्मक भाव-विकास के रूप में होता रहेगा। देश और काल के अनुसार आलम्बन बदलेंगे और उनसे प्रभावित होनेवाले आश्रय, सहृदय जन भी भिन्न-भिन्न रूपों में उपस्थित होंगे। यद्यपि उनका प्रभाव-ग्रहण उनके द्वारा जो

उपकार-कार्य करावेगा वह प्रत्येक अवस्था में स्वार्थ-मुक्त तथा अनासक्तिपूर्ण होगा तथापि यह कल्पना की जा सकती है कि उनकी वैयक्तिक साधना एक स्तर-विशेष की होकर भी उन्हें कर्म की भिन्न-भिन्न स्थितियों में अवतीर्ण करेगी। शुद्ध प्रेम की भूमि पर विचरण करनेवाली, कर्म की इन समस्त स्थितियों में सौन्दर्य के किसी न किसी रूप का निवास रहेगा और यदि शुक्ल जी "करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने में तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में अधिक सौन्दर्य देखते हैं," तो देश-काल की मर्यादा के भीतर उसमें कोई अनौचित्य नहीं है; यदि वे "करुणा और क्रोध के इसी सामंजस्य में मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं", तो देश-काल की सीमा के भीतर इसके विरोध में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। मैं अपने कथन के चारों ओर देश-काल का जो घेरा बाँध रहा हूँ उसका भी एक कारण है; उसे भी मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

निषाद को अभिशाप देकर महर्षि वाल्मीकि जितने संतुष्ट हुए उससे अधिक अशान्त और विचलित हो गये। उनकी वैयक्तिक साधना के स्थिर स्वरूप ने निषाद को आवश्यक दण्ड देकर क्षणिक समाधान तो प्राप्त कर लिया, किन्तु उक्त साधना के गतिशील स्वरूप ने उन्हें और भी ऊँचे उठा कर वस्तु-स्थिति पर विचार करने के लिए प्रेरित किया और तब वे अनुभव करने लगे कि कहीं मेरे द्वारा अन्याय तो नहीं हो गया। बहुत खोजने पर भी अन्याय की उन्हें कहीं झलक नहीं मिली; निषाद की विषम से विषम परिस्थिति में भी, रागात्मक भाव-प्रेरित कल्पना द्वारा, पहुँच कर महर्षि ने विचार किया, किन्तु फिर भी उसके आचरण को अनिन्दनीय ठहरानेवाली कोई बात उन्हें नहीं दिखायी पड़ी। अब विचारणीय यह है कि महर्षि जहाँ थे वहाँ होते हुए भी क्या देश-काल-विशिष्ट कोई ऐसी परिस्थिति नहीं हो सकती थी, जिसके द्वारा वे अभिशाप-गत प्रतिक्रिया से मुक्त हो सकते? क्या अभिशाप ही एकमात्र गति थी? क्या अन्य कोई विकल्प संभव नहीं था?

जिस स्थान पर क्रौञ्च-वध हुआ था उसके समीप ही रह कर, सम्पूर्ण बाह्य जगत् भी जिसकी एक आंशिक अभिव्यक्ति है उस अव्यक्त के चिन्तन में यदि महर्षि लीन और समाधिस्थ होते, यदि उनकी उस समाधि ने उनकी समस्त ज्ञानेन्द्रियों को निष्क्रिय कर दिया होता तो भी अभिशाप-विषयक जिस प्रतिक्रिया के लिए वे विवश हुए क्या उसका कोई प्रश्न

स्थिर और गतिशील सौन्दर्य

खड़ा होता ? वैयक्तिक साधना की इस परमोच्च स्थिति में वे उस समय नहीं थे जब विचाराधीन दुर्घटना संघटित हुई, यह तो स्पष्ट ही है; किंतु यदि वे ऐसी अवस्था में होते तो भी क्या देश-काल की कार्यकारिणी शक्ति को सीमित बनानेवाली एक महान् परिस्थिति उन्हें उनके घेरे के बाहर कर देने में समर्थ न हो सकती ?

नहीं, देश-काल-संबन्धी प्रेरणा अनिवार्य है भी और एक सीमा के बाद नहीं भी है। उपस्थित प्रसंग का उपयोग हमारी साधना को जितने अंशों में व्यक्त कर सकता है उससे अधिक अंशों में व्यक्त कर सकनेवाला साधन यदि हमें सुलभ है तो हमें देश-काल की बाधा स्पर्श नहीं कर सकती। शंकर की समाधि प्रसिद्ध है, जो तीनों लोकों में अनन्त हाहाकार मच जाने पर भी अविचल ही रही और जिसे भंग करने के लिए कामदेव को अपनी समस्त शक्ति लगा देनी पड़ी थी। उस समाधि ने तो विचाराधीन क्रौंच पक्षी पर किये गये अत्याचार के ढङ्ग के करोड़ों, अरबों ही क्यों, संख्यातीत अत्याचारों की उपेक्षा कर दी थी, और फिर भी वह शंकर को अक्षत, अदोष ही रख सकी—वे शंकर जो लोकसंग्रह के प्रतीक माने जाते हैं और जिन्होंने उसके सम्बन्ध में, हलाहल-पान करके प्रामाणिकता प्राप्त की थी। क्या इसी प्रकार की समाधि महर्षि वाल्मीकि की कल्पना में तो नहीं थी जो उनके शाप-गत क्रोध और शोक को अपेक्षाकृत हलका ठहरा कर उन्हें अस्थिर बना रही थी ?

वाल्मीकि ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ अपने अंतर में स्थित ब्रह्म से पूछा—समाधि की ओर न जाकर यह मैं किधर चला गया, 'किमिदं व्याहृतं मया', मेरे द्वारा यह क्या हो गया? ब्रह्म के प्रतिनिधि से उन्हें उत्तर मिला, तुम अपनी उसी भावना के साथ राम का चरित्र लिखो। वे समाधि के लिए न प्रेरित किये जाकर महाकाव्य के प्रणयन-कार्य में लगाये गये; क्रौञ्चबध-काण्ड के छोटे से क्षेत्र में उनकी परीक्षा हो चुकी थी, उसमें वे सफल हो चुके थे, अब उनके हृदय को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अनाचार का एक विशाल क्षेत्र मिला, जिसमें निषाद के स्थान पर रावण था, हत क्रौञ्च पक्षी के स्थान पर दलित-पीड़ित लोक-मानस था, विरह-विधुरा क्रौञ्च प्रिया के स्थान पर सामाजिक शान्ति-रूपिणी सीता थी और सहृदयता से प्रसूत अभिशाप के स्थान पर रामचन्द्र का बाण था। यह उनका अर्जित क्षेत्र था; इसे वे अस्वीकार नहीं कर सकते थे।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि समाधि का कोई महत्त्व ही नहीं रह गया; नहीं, अपने स्थान पर उसका यदि अधिक नहीं तो कम से कम उतना ही महत्त्व है जितना अंतरात्मा के आदेश से रामायण-रचना का हो सकता है,

ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकर की समाधि का उतना ही मूल्य है जितना उनके हलाहल-पान का अथवा लोक-कल्याण के निमित्त पार्वती-विवाह का। इनमें यदि कोई अंतर हो सकता है तो यही कि समाधि स्थिर सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करती है तथा लोकहितसाधक कार्य्यावली गतिशील सौन्दर्य का।

स्थिर सौन्दर्य ही से शक्ति प्राप्त कर के गतिशील सौन्दर्य आगे अपना मार्ग प्राप्त करता है और गतिशील सौन्दर्य की प्रगति से ही स्थिर सौन्दर्य के सुदूर-स्थित भवन में हमारा प्रवेश संभव है। अतएव, इनमें से किसी एक को त्याग कर केवल दूसरे को ग्रहण करना उचित नहीं है; ऐसा करके हम सत्य के समीप कभी न पहुँच सकेंगे, क्योंकि सत्य दोनों के सामंजस्य में है, न कि दोनों के विरोध में।

व्यक्तिसाधना एवं लोकसाधना

काव्य का आदर्श निर्धारित करने के सम्बन्ध में इतनी दूर तक हम आज से लगभग तीन हजार वर्षों पहले ही पहुँच चुके थे; यद्यपि वैयक्तिक साधना की प्रधानता निर्विवाद रहेगी, तथापि लोक-साधना की वह अपेक्षा नहीं कर सकेगी, क्योंकि अन्ततोगत्वा व्यक्तिधर्म और लोकधर्म में कोई विरोध नहीं है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि वह वैयक्तिक साधना सदोष समझी जायगी जो लोकसाधना अथवा लोकधर्म की विपरीत दिशा में गमन करेगी; जितनी ही मात्रा में उसके द्वारा लोकधर्म की अवमानना होगी उतनी ही मात्रा में वह असफल और विकार-ग्रस्त मानी जायगी। व्यक्तिसाधना और लोकसाधना दोनों ही ताल ठोंक कर एक दूसरे के विरुद्ध अखाड़े में खड़ी हों, इससे अधिक असंगत दूसरी कोई बात हो नहीं सकती।

लोकसाधना और व्यक्तिसाधना के जिस हार्दिक समन्वय का संकेत हमें आदि कवि के शाप-असमंजस में मिलता है, वह बहुत अधिक स्पष्ट रूप में श्रीमद्भगवद्गीता में हमें कर्मयोग और ज्ञानयोग के अभिन्नपरिणामी होने के रूप में दिखायी पड़ता है। जिस प्रकार ब्रह्मा ने आदि कवि के शोक को श्लोक कह कर रामायण-रचना के प्रयास में लगने के लिए उनसे अनुरोध किया, उसी प्रकार श्रीकृष्ण * ने अर्जुन को बताया कि आसक्ति से मुक्त होकर किया जानेवाला कर्म परब्रह्म परमात्मा के पास पहुँचता है, अत-

* "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।"

एव उसे वैसा ही कर्म करना चाहिए। अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा कि हे अर्जुन, ध्यान-निष्ठ चित्त से अपने सब कर्मों को मुझे देकर तथा आशा और ममता से रहित होकर, क्लेश का न अनुभव करते हुए तू युद्ध कर। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कर्म वही निंदनीय हो सकता है जो आदर्श, परम केन्द्र से कट कर अलग जा पड़ा हो और जिसके कारण उक्त केन्द्र की ओर औरों की प्रगति में बाधा पड़ती हो। कर्म का जितना स्वरूप लोक-सेवा, लोकरंजन आदि में व्यक्त होता है उसके सम्बन्ध में यही बात समझनी चाहिए।

समाधि और कर्म

किन्तु जैसे कर्म का एक स्वरूप बहिर्मुखी होकर भी अंतर के अपने केन्द्र के शासन में रहने के लिए बाध्य है, केन्द्र द्वारा नियमित परिधि के बाहर नहीं जा सकता, वैसे ही कर्म का स्वरूप भी जो निरंतर अन्तर्मुखी होता जा रहा है, जो समाधि की ओर उन्मुख है, अपनी सहज प्रकृति के कारण सुव्यवस्थित, सुशासित बहिमुखी कर्म से भिन्न नहीं हो सकता, उसकी संगति को त्याग कर नहीं चल सकता। सच बात तो यह है कि अपने प्रकृत स्वरूप में रहकर बहिर्मुखी कर्म भी स्थिति ही की ओर उन्मुख होता है। केन्द्रोन्मुख तथा लोक-परिधि की ओर उन्मुख, दोनों ही प्रकार के कर्म एक ही वृक्ष की दो शाखाएँ हैं जो अपने पोषक आहार के लिए एक ही मूल की कृपा की अपेक्षा रखती हैं। इसी से यह न समझना चाहिए कि स्थान स्थान पर भ्रमण करनेवाले, लोगों को ज्ञान का प्रकाश देकर सुखी बनानेवाले महात्मा बुद्ध समाधिस्थ महात्मा बुद्ध की अपेक्षा किसी प्रकार हीन हैं अथवा श्रेष्ठ हैं। ऐसा समझना ही सम बुद्धि को खोना है।

कर्मयोग द्वारा ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति सम्भव है, इसकी चर्चा के उपरांत हमें यह देखना चाहिए कि वह ज्ञानयोग द्वारा सम्भव है या नहीं—वह ज्ञानयोग जो व्यक्तिसाधना का अधिक मात्रा में प्रतिनिधित्व करता * है। इस सम्बन्ध में हमें गीता के बारहवें अध्याय में अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण के वचनों की ओर ध्यान देना चाहिए। वे कहते हैं, हे अर्जुन, जो अपने समस्त कर्म

* "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा :।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु संसार सागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम्।
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न सन्शयः।"

मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करके तैलधारा के सदृश त्रुटिहीन ध्यानयोग से मेरी उपासना करते हैं, जो मुझमें ही अपने सम्पूर्ण चित्त को लगा देते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही मृत्युलोक रूपी समुद्र से, अर्थात् प्रतिक्षण भयंकर रूपों में मृत्यु को उपस्थित करनेवाली परिस्थितियों के जाल से मुक्त कर देता हूँ। अतएव, अपने मन और बुद्धि को मुझमें ही केन्द्रीभूत कर, ऐसा कर के तू मुझमें ही निवास करेगा।

व्यक्तिसाधना* के इस रूप में लोकसाधना के उस सम्पूर्ण रूप का विसर्जन हो जाता है जो लोक के भीतर प्रसार-प्राप्त कर के नाना कार्य के रूप में प्रगट होता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि व्यक्तिसाधना लोकसाधना का शयनागार है और लोकसाधना व्यक्तिसाधना का अभिसार है। प्रियतम से दोनों ही जगह भेंट होती है, एक में घर बैठे और दूसरे में नियत स्थान पर पहुँचने पर।

वाल्मीकि और व्यास द्वारा प्रस्तुत इन सिद्धान्तों पर चलनेवाले भारतीय साहित्य के अंतर्गत न नाटक के विकास में कोई कठिनाई खड़ी हुई और न काव्य के विकास में। व्यक्तिसाधना के घेरे के भीतर रह कर गीतिकाव्य का विकास अनेक स्तरों पर हो सका तथा लोकसाधना के अधीनस्थ होकर प्रबन्धकाव्य ने अपनी प्रगति प्राप्त की। साथ ही गीतिकाव्य लोकसाधना को तथा प्रबन्धकाव्य व्यक्तिसाधना को अपना उचित सहयोग देता ही रहा।

संस्कृत साहित्याचार्यों ने अनेक मतमतान्तर खड़े किये, किन्तु रचनात्मक साहित्य-मात्र के लिए मान्य रस-सिद्धान्त को नितान्त उन्मूलित कोई नहीं कर सका, अपने सिद्धान्त का पोषण कर के भी वे रस-सिद्धान्त की उपयोगिता को मानते रहे। इसका कारण यही है कि वाल्मीकि और व्यास द्वारा प्रस्तुत अनासक्त कर्म और समाधि के सिद्धान्तों से पल्लवित होने के कारण रस-मत अत्यन्त दृढ़ आधार से सम्पन्न है। उसमें विश्व-जीवन की आन्तरिक एकता को हृदयंगम करा देने का विशेष सामर्थ्य है।

शुक्ल जी के हृदय में योरपीय काव्य के 'वादों' के प्रति अनास्था और

---

* आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी, पर हृदय ने कभी उसकी परवा न की; भावना दोनों को एक ही मान कर चलती रही। इस दृश्य जगत् के बीच जिस आनन्द मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। लोक में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'रामराज्य' कहा, किसी ने 'आसमान की बादशाहत'।—चिन्तामणि, प्रथम भाग

भारतीय काव्य के रागात्मिका-वृत्ति-आधारित रस-सिद्धान्त पर आस्था क्यों थी, इसका अत्यन्त संक्षिप्त यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है।

हिंदी साहित्य में समीक्षा का कार्य अभी थोड़े समय से शुरू हुआ है। भारतेन्दु के समय तक तो जो कुछ रस, अलंकार, नायिका भेद आदि के सम्बन्ध में चर्चा होती रही उसका आधार संस्कृत के ग्रंथ ही रहते थे। उसके अनन्तर पत्रकारिता के पथ पर चल कर हम क्रमशः नवीन प्रकाशनों की समालोचना के अभ्यासी हुए और विश्वविद्यालयों में हिंदी साहित्य का पठन-पाठन आरम्भ हो जाने पर अँगरेजी भाषा के माध्यम से योरपीय चिंतकों के विचारों से परिचित हुए। वर्त्तमान समय में हम यही नहीं समझ रहे हैं कि हमारी समीक्षा-पद्धति किस मार्ग पर चले। हम यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि योरपीय विचार-धाराओं के आघात से हमारे मस्तिष्क की शक्ति कुंठित हो गयी है, और फिर भी यह सत्य बात है हममें से अनेक को मार्क्स और फ्रायड को छोड़ कर हमारा अन्य कोई उद्धारकर्त्ता दिखायी नहीं पड़ता। अपना कोई स्वतंत्र मार्ग निकालने की हममें क्षमता नहीं है, उधार लेकर खाना और उसी पर गर्व करना इस समय हमें प्रिय हो रहा है। हमें आत्म-निरीक्षण द्वारा अपनी त्रुटियों से परिचय प्राप्त करना चाहिए।

आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता

अध्याय १०

विवेचनात्मक पार्श्व की पृष्ठभूमि—३

अरस्तू द्वारा प्रस्तुत भय और करुणा तथा वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत क्रोध और करुणा के सिद्धान्त से पाठक परिचित हो चुके; वे यह भी देख चुके कि क्रोध और करुणा के सिद्धान्त से वाल्मीकि की पूर्ण तृप्ति नहीं है, वे समाधि की ओर निरन्तर गतिशील भावना में अपने शेष असन्तोष का समाधान खोजने का भी प्रयत्न करते हैं। अब तराजू के एक पलड़े पर भय और करुणा को तथा दूसरे पर केवल क्रोध और करुणा को रख कर हम तौलेंगे और देखेंगे कि दोनों पलड़ों में कौन सा भारी है। यदि भय और करुणा का पलड़ा भारी रहेगा तो भी क्रोध और करुणा के पलड़े को निराश होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके पास एक अतिरिक्त साधन भी है, किन्तु यदि भय और करुणा का पलड़ा हलका हो गया तो उसकी गति तो स्वयं अपने तक है; उसे तो निश्चित रूप से निराशा के समुद्र में डूबना पड़ेगा! अस्तु।

यहाँ 'भय'* से अरस्तू का आशय उस सामान्य भय से नहीं है जो पशु-प्रकृति का अनिवार्य अंग है। पशु प्रबल के सामने पूँछ दबा लेता है और निर्बल के सामने हेकड़ी दिखाता है। जिस भय से अरस्तू आशा करता है कि मनुष्य की वृत्ति उदात्त होगी, वह दैवी शक्तियों के किसी नियम का उल्लंघन होने पर अनिष्ट की कल्पना से उत्पन्न होता है। निस्सन्देह यह भय मनुष्य को गम्भीर बना देता है तथा भविष्य में सावधान रहने की प्रेरणा देता है।

काव्यगत न्याय-प्रतिष्ठापन में दंड-विधान

---

* "किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तम्भकारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं।"

× × × ×

"एक ही प्रकार की भीरुता ऐसी दिखायी पड़ती है जिसकी प्रशंसा होती है। वह धर्मभीरुता है। पर हम तो उसे भी कोई बड़ी प्रशंसा की बात नहीं समझते। धर्म से डरने वालों की अपेक्षा धर्म की ओर आकर्षित होनेवाले हमें अधिक धन्य जान पड़ते हैं। जो किसी बुराई से यही समझकर पीछे हटते हैं कि उसके करने से अधर्म होगा, उनकी अपेक्षा वे कहीं श्रेष्ठ हैं जिन्हें बुराई अच्छी ही नहीं लगती।"

—चिन्तामणि, प्रथम भाग

उच्चस्तरीय नायक को महान् संकटों में पड़ते देख कर नाटक के दर्शक के हृदय में जो करुणा उत्पन्न होती है उससे भी भावना उच्चता की ओर उन्मुख होती है, जिससे उसके चरित्र का उत्थान संभव है—इसी आधार पर अरस्तू ने दुःखान्त नाटक की उपयोगिता प्रतिपादित की। अफ़लातून ही की तरह अरस्तू भी मनुष्य को सदाचारी और सुयोग्य नागरिक बनाना चाहता था।

उक्त भय और करुणा दोनों ही में यह त्रुटि दिखायी पड़ती है कि उनका टिकाव भावना ही के स्तर पर रह जाता है, कार्य के स्तर पर उनका अवतरण नहीं होता। भावना से शुद्धि अवश्य होती है; किंतु यदि वह कर्म का रूप न धारण करे तो दृढ़ अभ्यास के अभाव में वह हमारी प्रकृति का अंग नहीं बन सकेगी।

दुःखान्त नाटक का यह सिद्धांत बहुत दिनों तक काव्य के क्षेत्र में भी प्रचलित रहा; क्रमशः उसके प्रति ऊब पैदा होने लगी और तब पुनरुत्थान-आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप साहित्यकारों को इस बात की आवश्यकता का अनुभव होने लगा कि दुःखान्त नाटक की तरह काव्य में भी नायक की विजय को सर्वथा अनिश्चित रखना ठीक नहीं। इसलिए वे इस पक्ष में हुए कि काव्य-गत न्याय-प्रतिष्ठापन का सिद्धान्त स्वीकार करके काव्य में सत् की विजय और असत् की पराजय निश्चित रूप से दिखायी जाय, अर्थात् सत् को गौरव-दान एवं असत् के लिए दण्ड-विधान की व्यवस्था प्रचलित हो। इस सिद्धान्त को अंग्रेज साहित्यकारों ने (Poetic justice) 'पोएटिक जस्टिस' नाम दिया। इसकी कुछ चर्चा की जा चुकी है, किन्तु इसका स्वल्प उल्लेख 'क्रोध और करुणा' सिद्धान्त के सिलसिले में भी होना आवश्यक है।

काव्य-गत न्याय-प्रतिष्ठापन के इस सिद्धान्त की उपयोगिता का एक आधार यह बताया गया कि घटना का जो प्रकृत स्वरूप दुःखान्त नाटक में दिखाया जाता है, जो प्रायः जीवन में भी देखने में आता है, उसका मार्मिक सन्देश भले ही कलाकार को हृदयंगम हो जाय, किन्तु साधारण सहृदय जन उससे वंचित ही रह जाते हैं। इस सिद्धान्त का सहारा लेकर घटना के प्रकृत स्वरूप में जो रूपान्तरण किया गया उससे यह आशा की गयी कि प्रकृत स्वरूप का कलात्मक चित्र केवल कलाकार ही की सम्पत्ति होकर नहीं रह जायगा, वरन वह सभी के लिए तथा सब काल के लिए सुरक्षित हो जायगा। अन्याय का निराकरण ही

काव्यगत न्याय-प्रतिष्ठापन में दंड-विधान

न्याय-प्रतिष्ठापन है, जीवन की प्रकृत घटनाओं का अनुसरण करनेवाला दुःखान्त नाटक न्याय-प्रतिष्ठापन के उद्योग में न लग कर कार्य को अपूर्ण स्थिति ही में छोड़ देता था। इस अपूर्णता को पूर्णता के रूप में परिणत करने के लिये काव्य अग्रसर हुआ, इसीलिए इस न्याय-प्रतिष्ठापन को काव्य-गत कहते हैं; कलात्मक साधनों की नियोजना से ही यह सम्भव हो सकता था। इस प्रकार योरप का काव्य अरस्तू के दुःखान्त नाटकवाले सिद्धान्त से मुक्त होकर असत् के दण्ड-विधान के पक्ष में आकर खड़ा हुआ। यह दंडविधान क्या किसी न किसी रूप में क्रोध का आश्रय लिये बिना संभव है ? इस प्रकार क्या 'भय' को अपर्याप्त समझ कर उसका स्थान 'क्रोध' को नहीं दिया गया ? क्या यह वाल्मीकि के 'क्रोध' और 'करुणा' सिद्धान्त की विजय नहीं है ?

सिद्धान्तों की विजय और पराजय को संकीर्ण दृष्टि से देखने की आवश्यकता नहीं; मानव-विकास के लिए कौन सी विचार-धारा अधिक श्रेयस्कर है और कौन सी कम, केवल इसे ध्यान में रख कर हमें विचार करना है।

यह कहा जा चुका है कि क्रोध और करुणा के पास एक अतिरिक्त साधन है। वह क्या है, इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना उचित है, यद्यपि उसका संकेत पाठक को पहले ही दिया जा चुका है। व्याध को शाप देने के अनन्तर वाल्मीकि उस चिन्ता से पीड़ित हो गये थे जो उनकी साधना की निम्नगामिनी प्रवृत्ति के विरोध में ऊर्ध्वगामिनी प्रवृत्ति का संघर्ष उपस्थित कर रही थी। वह समाधि की दिशा थी, आनन्द की सिद्धावस्था, जो अपनी पूर्ववर्त्तिनी साधनावस्था के लिए सिद्धावस्था रह कर अपनी परवर्त्ती सिद्धावस्था के लिए साधनावस्था में परिणत हो रही थी तथा एक लम्बी जीवन-शृंखला की कड़ियों का रूप पकड़ने के लिए आतुर थी। काव्य न तो व्यक्ति विकास सीमित, समाधि-आनन्द-सिद्धावस्थापरक परिस्थितियों ही से सामग्री ग्रहण कर के पूर्ण हो सकता है और न लोक-व्याप्त, क्रोध और करुणा के सम्मिलित प्रयत्न-रूप साधनावस्था की ओर प्रवाहित होनेवाली कार्यावली ही पर ध्यान देकर अपने जीवन को सफल बना सकता है। अगर वह कहे कि केवल प्रत्येक रात को ही एक उषा की आवश्यकता है और इस बात की घोषणा करे कि प्रत्येक दिन को सन्ध्या की आवश्यकता नहीं है तो वह रात और दिन को अलग-अलग करने का प्रयत्न कर रहा है, जिसमें उसे कभी सफलता मिल नहीं सकती।

सिद्धावस्था और साधनावस्था

वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत सिद्धावस्था *और साधनावस्था का समन्वय काव्य में जितना ही आवश्यक है उतना ही उपेक्षित भी है; कोई काव्य-प्रयत्न एक पक्ष को पूर्ण रूप से ग्रहण करके दूसरे को सर्वथा त्याग देता है तो दूसरा इसके सर्वथा विपरीत व्यवहार करता है। साधनावस्था को प्रश्रय देने की धुन में कोई कोई काव्य-प्रयास तो उस सीमा को भी लाँघ जाता है जिसे लाँघने पर काव्य काव्य नहीं रह जाता, पशुत्व के स्तर पर पहुँच कर उस आसक्ति-मुक्ति, निरपेक्ष भावना ही को खो देता है जो उसका प्राण है। क्रोध और करुणा का पतन जब रचनात्मक रूप को त्याग कर ध्वंसात्मक युद्ध और हृदय-संकोचकारक पक्षपात का स्वरूप ग्रहण करता है तब ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जब आनन्द की विकृति निम्नश्रेणी का मनोरंजन प्रस्तुत करती है और काव्य उसे अपनी रीढ़ का हड्डी बना कर खड़ा होता है, तब भी यही शोचनीय अवस्था हमारे सामने आ जाती है।

सिद्धावस्था और साधनावस्था का समन्वय

अरस्तू के भय और करुणा सिद्धान्त में साधनावस्था की ओर तो प्रवृत्ति ही नहीं है, प्रयत्न-पक्ष का तो वहाँ सर्वथा अभाव है; साथ ही रचना के दुःखान्त रूप के कारण वहाँ आनन्द और उल्लास का प्रवेश भी पूर्णतया वर्जित है। पुनरुत्थान-आन्दोलन के प्रवर्त्तित होने पर योरप के साहित्यकारों को यह अभाव भी बेहद खटका; वे साहित्य में दुख ही दुख का चित्र न खींचना चाहते थे और न सदैव उसे देखना ही चाहते थे; यह प्रगति-भावना की उचित और स्वाभाविक माँग थी और इसकी पूर्त्ति के लिए सहृदय कवि की लेखनी अधीर हो उठी। मैं नहीं कहता कि उल्लास और आनन्द के नाम पर जितनी भी रचनाएँ कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुईं वे दुःखान्त समस्त रचनाओं की अपेक्षा प्रगतिशील हुईं; नहीं, विकृत आनन्द और विकृत उल्लास की ओर ले चलने वाली रचना दुःखान्त रचना के

---

* कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख सौन्दर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के सञ्चरण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गति-विधि में भी—पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देख कर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अंधकार को हटाना देख कर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं।

—चिन्तामणि, प्रथम भाग

प्रवृत, कलात्मक प्रवाह की तुलना में प्रतिक्रियात्मक ही हो जायगी। मैं जब आनन्द, उल्लास को दुःख की अपेक्षा प्रगतिशील कहता हूँ तब मेरे सामने उनका वह रूप है जिसमें दुःख के साथ उनका समन्वय भी हुआ रहता है। इसी अधिकाधिक मात्रा में समता-भाव-सम्पन्न आनन्द और उल्लास की कमी उन रचनाओं में खटकी जो अरस्तू के सिद्धान्तों को मान्य कर के चली थीं।

संक्षेप में, दुःखान्त रचनाएँ सिद्धावस्था की विभिन्न परिस्थितियों का भी प्रतिनिधित्व नहीं करतीं, सम्पूर्ण काव्य-क्षेत्र के अंतर्गत विभिन्न परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करना तो दूर की बात है।

उचित स्थल आने पर यह बताने का भी प्रयत्न किया जायगा कि 'करुणा और क्रोध' सिद्धान्त की उत्पत्ति जीवन की अत्यन्त मौलिक आधार-भूत परिस्थितियों में है, जिनका साक्षात्कार हमारे उपनिषदकाल के ऋषियों के अतिरिक्त उनके पूर्ववर्त्ती चिन्तकों ने किया था तथा जिनकी वास्तविकता यूनानी दार्शनिकों के लिए भी सर्वथा अपरिचित नहीं थी।

वाल्मीकि और व्यास की विचार-धाराओं का तिरस्कार स्वयं भारत में ही हुआ और रस-दृष्टि के संकुचित होने पर साहित्यिक अभिव्यक्ति ने प्रवाहित होने के लिए अन्य संकीर्ण मार्गों का आविष्कार किया। वर्तमान युग तो अपनी ऐसी विशेषताओं को प्रगट कर रहा है, जो उक्त विचार-धाराओं को अनुकूल प्रगति देने की सर्वथा विरोधिनी हैं। ऐसी अवस्था में शुक्ल जी द्वारा उनके प्रचार का उद्योग सुदूर अतीत काल में देखे हुए एक मनोहर स्वप्न की स्मृति में व्याकुल होना था।

शुक्ल जी स्वप्नद्रष्टा

शुक्ल जी अत्यन्त व्यवहारिक दृष्टि-सम्पन्न समालोचक थे, फिर भी वे वर्तमान युग के साहित्यकारों को उचित से अधिक आदर्शवादी जान पड़ें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जो हो, यदि हम उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहते हैं और उनके तीक्ष्ण कथनों के अंतर में भी प्रवाहित मधु धारा से अपनी आस्वाद-तृप्ति के इच्छुक हैं तो हमें उनके विवेचनात्मक पार्श्व की इस पृष्ठभूमि को अपने ध्यान में अवश्य रखना चाहिए। इस तैयारी के साथ यदि हम इस अध्ययन में आगे बढ़ेंगे तो हमारे सामने निराश होने का कोई कारण नहीं उपस्थित होगा।

———

अध्याय ११

शुक्ल जी के विचारात्मक निबन्ध

शुक्ल जी के रचनात्मक निबंधों की चर्चा के साथ ही साथ उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के रचनात्मक पार्श्व के चित्रण की समाप्ति समझनी चाहिए; अब आगे जो कुछ कथन किया जायगा वह विवेचनात्मक पार्श्व की एक झलक दिखाने के उद्देश्य से यहाँ उपस्थित होगा। इस विवेचनात्मक पार्श्व का संगठन शुक्ल जी के विचारात्मक निबन्धों में, 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में तथा उनकी व्यवहारिक समीक्षाओं में व्यक्त होता है। यहाँ विचारात्मक निबन्धों पर एक संक्षिप्त दृष्टिपात करने के अनंतर हम आगे बढ़ेंगे।

रचनात्मक और विचारात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्धों को यदि ध्यान से देखा जायगा तो यह प्रगट होगा कि विचारात्मक निबंधों में काव्यात्मकता, चित्रमयता, रूपयोजना आदि की प्रवृत्ति का अभाव है अथवा अपेक्षाकृत कमी है। जो विशेषताएँ इनमें झलकती हैं वे विचारों को संगठित करने, उन्हें क्रमपूर्वक वाक्यों में अभिव्यक्ति देने, वाक्यों को अनुच्छेदों में कसने तथा अनुच्छेदों को सुव्यवस्थित करके केन्द्रिक विचार-धारा को प्रवाहित बनाने के कार्य में अधिकांश में प्रगट होती हैं। ओजस्विता, मनस्विता, विद्या-सामर्थ्य आदि गुणों को प्रगट होने का विशेष अवकाश विचारात्मक निबंधों में दिखायी पड़ता है। रचनात्मक निबंधों में यदि शुक्ल जी का यह प्रयत्न रहा है कि किसी वस्तु, मूर्त्ति अथवा स्वरूप को स्पष्ट करके, वह क्या है और क्या नहीं है, इसकी व्याख्या करके उसे पाठक को हृदयंगम करा दिया जाय तो विचारात्मक निबन्धों में उनका उद्योग यह रहा है कि किसी सिद्धान्त अथवा मत के सम्बन्ध में फैले हुए भ्रम का निराकरण कर के यथार्थ बात प्रतिष्ठापित कर दी जाय। 'काव्य में रहस्यवाद', 'अभिव्यंजनावाद', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' 'रसात्मक बोध के विविध स्वरूप', 'तुलसी का भक्तिमार्ग' आदि ऐसे ही विचारात्मक निबंध हैं, जिनमें किसी न किसी विरोधी मत का खंडन करके उसके स्थान में किसी न किसी स्वानुकूल मत का मंडन किया गया है।

रचनात्मक निबन्धों के अवयवों का ह्रास

विचारात्मक निबन्धों में रचनात्मक निबन्धों के अन्य अनेक अवयवों

का भी ह्रास हुआ है। रचनात्मक निबन्धों में शुक्ल जी ने प्रायः दो शैलियों का सहारा लिया है—(१)*कहीं कहीं तो उन्होंने व्याख्या और विवेचन कर लेने के बाद उसके आधार पर निष्कर्ष निकालते हुए कथन किया है; इसे हम निष्कर्षात्मक शैली कह सकते हैं। (२) कहीं-कहीं उन्होंने इसके विपरीत मार्ग का अवलम्बन किया है, अर्थात् जो कुछ तत्त्व की बात कहनी थी उसे सूत्रवत् **कह लेने के अनन्तर व्याख्या और विवेचना द्वारा उसे फैलाया है। इसे प्रसारात्मक शैली कह सकते हैं। रचनात्मक निबन्धों के शान्त वातावरण में इन दोनों शैलियों का निर्बाध और सुन्दर निदर्शन हुआ है। किन्तु विचारात्मक निबन्धों में, जहाँ लेखक खंडन-मंडन में प्रवृत्त होकर साहित्यिक रणक्षेत्र में उतरा सा दिखायी पड़ता है, इस विशेषता का निर्वाह नहीं हो पाया है। जैसे वर्षाकालीन नदी अपने कूलों की उपेक्षा करके परिप्लावित होती हुई बहती है, उसी प्रकार इन निबन्धों की तीव्र प्रगति में लेखक का

---

* "जिस किसी के चित्त में अहङ्कार इस प्रकार घर करेगा उसमें अपने चारों ओर अपने से घट कर धन, मान, गुण या बल देखने की इच्छा स्थापित हो जायगी और जो वस्तु उसे प्राप्त है उसे भी दूसरों को प्राप्त करते देख उसे कुढ़न या ईर्ष्या होगी। उसके अहंकार से आहत होकर दूसरे लोग भी उसकी उन्नति न देखना चाहेंगे और उससे एक प्रकार की उचित ईर्ष्या रखेंगे। इस प्रकार ईर्ष्या की अच्छी खेती होगी। सारांश यह कि अभिमान हर घड़ी बड़ाई की भावना भोगने का दुर्व्यसन है और ईर्ष्या उसकी सहगामिनी है। इस बड़ाई के अनुभव को भोगने का जिसे दुर्व्यसन हो जाता है उसके लिए उन्नति का द्वार बन्द सा हो जाता है। इसी से अभिमान को मद भी कहते हैं। दुर्व्यसन किसी प्रकार का हो, मद है। —[ईर्ष्या, पृ० ११६]

उक्त अवतरण निष्कर्षात्मक (Deductive) शैली का उदाहरण है।

**कर्मरुचि-शून्य प्रयत्न में कभी कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गयी हुई सीढ़ियाँ दिखायी दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्णराशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अङ्ग सचेष्ट हो गये, तो उसे एक एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखायी देगी, एक एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलता जायगा, एक एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्णराशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फलप्राप्ति-काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छा मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे फिर नीचे पहुँच जाय। उसे एक एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हार कर बैठ जाय या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े। [उत्साह, पृ० १३]

उक्त अवतरण प्रसारात्मक (Inductive) शैली का उदाहरण है।

ध्यान अपनी बाँधी हुई परिपाटी पर उतना नहीं रह गया है जितना अन्यत्र रहा है। हाँ, स्थान-स्थान पर अनेक गुणों का विकास इनमें दिखायी पड़ता है, जिनकी ओर संकेत किया जा चुका है; ये हैं—(१) शास्त्रार्थ करने की क्षमता (२) आत्मविश्वास; (३) विपक्षी पर प्रायः निर्मम प्रहार करने की प्रवृत्ति। इन तीनों ही के सम्बन्ध में कुछ कथन आवश्यक है।

शास्त्रार्थ करने की क्षमता

(१) शास्त्रार्थी होना एक बात है और शास्त्रार्थ करने की क्षमता से सम्पन्न होना बिलकुल ही दूसरी बात है। शुक्ल जी शास्त्रार्थ के लिए शास्त्रार्थ नहीं करते, हाँ शास्त्रार्थ करने की शक्ति से समन्वित होने के कारण, उचित मार्ग पर ले चलने के उद्देश्य से वे शास्त्रार्थ का उत्थापन करते हैं। उनकी चौकसी के कारण अपने साहित्यिक संक्रमण-काल में अनेक खाइयों और खंदकों में गिरने से हम बचे हैं, यह हमें स्वीकार करना ही होगा। यहाँ केवल एक ही उदाहरण यथेष्ट होगा। हमारे पाठकों ने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का प्रयोग कुछ दिन पूर्व की हिन्दी समीक्षाओं में प्रायः देखा होगा। इसके सम्बन्ध में शुक्ल जी ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबन्ध की एक पाद-टिप्पणी में पृ० १३७ पर लिखा है :—

"महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रवर्त्तित 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्'—जिसे आजकल कुछ लोग उपनिषद वाक्य समझकर 'हमारे यहाँ भी कहा है' कहकर उद्धृत किया किया करते हैं—अँगरेजी के 'The Good, the Beautiful' the True, का अनुवाद है।

इस पदावली का प्रचार योरोप के काव्य-समीक्षा-क्षेत्र में पहले बहुत रहा है जैसा कि आई० ए० रिचर्ड्स ने कहा है—

"Thus arises the Phantom problem of the aesthetic mode or aesthetic state—a legacy from the days of abstract inevstigation into the Good, the Beautiful and the True."

शुक्ल जी की उक्त टिप्पणी की अन्तिम पंक्ति है—"हमें तो सब प्रकार की गुलामी से साहित्यक गुलामी का दृश्य सब से खेदजनक प्रतीत होता है।"

उक्त निबन्ध ही में पृ० १७१ पर 'साहित्यिक गुलामी' की पुनः चर्चा मिलती है; वे कहते हैं—

"जितनी बातें आज कल काव्य क्षेत्र में 'नवीनता' कह कर पेश की जाती हैं, एक एक कर के सब का मूल हम योरप के नये-पुराने प्रचलित प्रवादों में दिखा चुके हैं। सब नकल की नकल हैं। × × × × एक जगह की प्रचलित और सामान्य वस्तुओं को दूसरी जगह विकृत रूप में रख कर नवीनता की विज्ञप्ति करना

किसी सभ्य जाति को शोभा नहीं देता। यह नवीनता नहीं है—अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रान्त हृदय का घोर नैराश्य है, कहाँ तक कहें ? घोर साहित्यिक गुलामी है। जब तक इस गुलामी से छुटकारा न होगा तब तक नवीनता के दर्शन कहाँ ? नक़ल के भीतर की नवीनता भी नक़ल ही के पेट में समा जाती है।"

आत्मविश्वास

(२) शुक्ल जी के विचारात्मक निबन्धों में उनके जो साहित्यिक मत प्रगट हुए हैं उनमें सब से अधिक उल्लेख-योग्य विशेषता है उनका आत्म-विश्वास। भाव योग, रागात्मिका वृत्ति, लोकधर्म, रस-सिद्धान्त, काव्य में आलम्बन के रूप में प्रकृति का नियोजन—आदि सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों पर वे इतने अटल हैं, इतने दृढ़ हैं, इतने असंदिग्ध हैं कि उनकी इस मानसिक शक्ति को हमारे कितने ही समीक्षक दुर्बलता मानने लगे हैं। उक्त सिद्धान्तों की परीक्षा और उनके विवेचन का अवसर तो आगे आवेगा, यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त है कि शुक्ल जी का आत्मविश्वास हिंदी साहित्यकारों द्वारा ही नहीं, राजनैतिक पराधीनता के वातावरण में अपने ही साहित्य की उत्तम विभूतियों के प्रति भी उपेक्षाभाव से आक्रान्त हो जाने वाले समस्त भारतीय साहित्यकारों द्वारा महौषधि के रूप में गृहीत होना चाहिए। उनके अनिलिखित वाक्यों पर विचारपूर्वक ध्यान दिया जायगा तो उनके भावों की सच्चाई को हृदयंगम करना कठिन न रह जायगा :—

"यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हमारे काव्य का, हमारे साहित्य-शास्त्र का एक स्वतन्त्र रूप है, जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतन्त्र है। उसका आत्मा को, उसका छिपी हुई भीतरी प्रकृति को पहले जब हम सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतन्त्र पर्यालोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। जब तक हम इस विचार-सामर्थ्य का सम्पादन न कर लेंगे तब तक अफ्रिका के जंगलियों की तरह—जो अँगरेजों के उतारे कपड़े बदन पर डाल कर स्ववर्गियों के बीच बड़ी ऐंठ से चला करते हैं—भद्दी नक़ल को ही नवीनता मान कर संतोष करते रहेंगे और सभ्य जगत् के उपहास-भाजन बने रहेंगे।"

[चि०, काव्य में रहस्यवाद पृष्ठ १६६

× × × ×

"साहित्य के शास्त्रपक्ष की प्रतिष्ठा काव्य-चर्चा में सुगमता के लिए माननी चाहिए, रचना के प्रतिबन्ध के लिए नहीं। इस दृष्टि से जब हम अपने साहित्य-शास्त्र

को देखते हैं, तब उसकी अत्यन्त व्यापक और प्रौढ़ व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ती है। शब्द-शक्ति और रस-निरूपण की पद्धति तो अत्यन्त गम्भीर है। उसकी तह में एक ऐसे स्वतन्त्र और विशाल भारतीय समीक्षा-भवन के निर्माण की सम्भावना छिपी हुई है। जिसके भीतर लाकर हम सारे संसार के सारे साहित्य की आलोचना अपने ढंग पर कर सकते हैं।"

शुक्ल जी के विचारों का समर्थन

उक्त पंक्तियों में शुक्ल जी की जो उच्चाकांक्षा व्यक्त हुई है, वह भारतीय साहित्यकार मात्र को उद्बुद्ध और जाग्रत करने वाली है। साहित्य में अनुकरण की प्रवृत्ति न बढ़े, मौलिक चिन्तन और स्वतंत्र प्रयास से वह समृद्ध हो, इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने भारतीय साहित्य की विशेषताओं को आग्रहपूर्वक प्रस्तुत किया है। उनके इसी आग्रह के सम्बन्ध में हिंदी के विद्वानों में भय उत्पन्न हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विषय को लेकर कहीं कहीं जो झुझलाहट दिखाई पड़ी है वह सर्वथा अकारण और अनावश्यक रही है। योरपियन भाषाओं का साहित्य इस योग्य नहीं है कि हम उसका अंधवत् अनुसरण करें; अपने इस मत में शुक्ल जी अकेले नहीं हैं, स्व० महात्मा अरविंद ने भी इसी ढंग की बात कही है:—

"भाषा काल-चक्र के भीतर से चल कर प्राचीनता-पीड़ित और अनेक व्याधियों के कारण क्षय-ग्रस्त होती है। यह शायद किसी अतीत परम्परा और उत्कृष्टता के ढाँचे के प्रति आसक्ति के कारण प्रगतिहीन हो जाती है, जिसे सहसा त्यागना भी इसके लिए कठिन होता है; क्योंकि उससे इसका अस्तित्व-सिद्धान्त खतरे में पड़ सकता है, अथवा उसकी सम्भावनाएँ भग्न और आक्रान्त हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त उच्च कोटि की अनुरंजनामयी पतनोन्मुखता भी उसकी प्रगति को रोक सकती है अथवा रचनात्मक दृष्टि से शक्तिहीन और शिथिल होकर वह 'कला के लिए कला' के उस आकर्षक किन्तु संकटावह क्षेत्र में प्रवेश करती है, जहाँ काव्य का उद्देश्य हृदय के तथा जीवन के उद्गारों की उच्च और सुन्दर अभिव्यक्ति न रह कर बुद्धि-विलास तथा मनोरंजन-वासना तक सीमित हो जाता है। युग के ये तथा अन्य लक्षण योरप की महत्तम साहित्यिक भाषाओं में अनुपस्थित नहीं हैं और ऐसी स्थिति में काव्य-भाषा के भीतरी स्वरूप और आत्मा में आकस्मिक परिवर्तन का प्रयत्न करना एक कठिन और नाजुक प्रयोग हो जाता है।"*

*A language passes through its cycle and grows aged and decays by many maladies; it stagnates perhaps by the attachment of its life

(३) शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में विपक्षी मतों पर कहीं कहीं साहित्यिक प्रहार किये हैं, इन प्रहारों को अनुदार प्रवृत्ति से प्रेरित बताया गया है। निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

शुक्ल जी के तीखे प्रहार

"तुलसी और जायसी हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी की विशिष्ट देन हैं। ये विवेचन बहुमूल्य हैं। अपने विषय को चारों खूँट से पकड़-बाँध कर शुक्ल जी फिर उसमें डुबकी लगाते और रत्न चुन लाते हैं। उनके प्रतिपादन में एक प्रकार की व्यूह-रचना है। जैसे कोई प्रतिपक्षी हो और उसे घेरकर व्यर्थ करना हो। इसी कारण उनके प्रतिपादन में शास्त्रियों के जैसी प्रबलता और उग्रता आ जाती है। मानों तथ्य के उद्घाटन से ही शुक्ल जी तुष्ट नहीं, उसे विरोधी से मनवा भी लेना चाहते हैं। प्रतिपक्षी के प्रति अनुदार होना उनके लिए कठिन नहीं है। अधिकांश उनके व्यंग कँटीले हैं। उनकी शैली में लोच नहीं है और दूसरे दृष्टिकोणों के लिए समाई नहीं है।"

—जैनेन्द्र कुमार

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में कहीं भी किसी व्यक्ति का नाम लेकर आक्रमण नहीं किया है। वर्तमान-कालीन वाद-विवाद के क्षेत्र में यदि इतनी भी शिष्टता निबाही जाय तो वह कम नहीं है। उनकी प्रवृत्ति व्यक्ति पर नहीं, विचार-धारा-विशेष अथवा पक्ष-विशेष से सम्बन्धित अनेक व्यक्तियों पर अपना प्रहार पहुँचाने की रही है—ऐसे व्यक्ति जिनका नामकरण नहीं किया जा सकता। शुक्ल जी ने जिन भावों से प्रेरित होकर समालोचना का कार्य किया उनमें प्रधान भाव था

---

to a past tradition and mould of excellence from which it can not get away without danger to its principle of existence or a straining and breaking of its possibilities and a highly coloured decadence; or exhausted in its creative vigour, it passes into that attractive but dangerous phase of art for art's sake which makes of poetry no longer a high and fine outpouring of the soul and the life but a hedonistic indulgence and dilettantism of the intelligence. These and other signs of the age are not absent from the greater European literary tongues and at such a stage it becomes a difficultt and a critical experiment to attempt at once a transformation of spirit and of the inner cast of poetic language.

—Aurobindo Ghose in 'Arya.'

नई पीढ़ी के लोगों को सच्चे, सशक्त, मौलिक साहित्य-निर्माण की ओर प्रेरित करना। वे सच्चे देशभक्त थे और साहित्य-संसार में फैली हुई दुर्बलतापूर्ण अनुकरण-प्रवृत्ति को निर्मूल करना भी देशभक्ति के अन्तर्गत ही एक आवश्यक कार्य मानते थे। विरोधी विचार-धाराओं के प्रतिनिधियों को अकाट्य तर्कों द्वारा निरुपाय कर देने के अनन्तर शुक्ल जी यह भी आवश्यक समझते थे कि उनकी निराधार स्थिति का एक सजीव, स्मरणीय, सहज ग्राह्य चित्रण भी कर दिया जाय। यदि कोई व्यक्ति उनके आक्रमण का लक्ष्य होने से बचना चाहता है तो उसके सामने गलत पक्ष को छोड़ कर उचित पक्ष को ग्रहण कर लेने का विकल्प तो सुलभ ही है! निसन्देह शुक्ल जी चाहते थे कि जिस पक्ष का उन्होंने प्रतिपादन किया है वह स्वीकृत भी हो, उसका प्रचार भी हो, उनका ऐसा चाहना उनके किसी व्यक्तिगत स्वार्थ का नहीं, विद्या-व्यसन का, देशानुराग ही का प्रमाण था। ऐसी अवस्था में सदुद्देश्य से प्रेरित होकर यदि उन्होंने 'कँटीले व्यंगों' का सहारा लिया और ऐसी शैली अपनायी जिसमें 'लोच' की कमी अथवा दूसरे दृष्टिकोणों के प्रति 'समाई' का अभाव प्रतीत होता है तो इसमें हानि ही क्या है? व्यंग-के इस सुन्दर, अव्यक्तिमूलक उपयोग को साहित्य से बहिष्कृत करने के उद्योग में लगना उचित नहीं कहा जा सकता। कँटीले व्यंगवाले दो अवतरण यहाँ नीचे दिये जा रहे हैं, उन्हें देखकर पाठक निर्णय करें कि वे निबन्ध की सरसता को बढ़ाते हैं या घटाते हैं :—

"वर्त्तमान हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कुछ लोग तो ऐसे हैं जो लक्षणों की पुरानी लकीर से ज़रा भी इधर-उधर होने की कल्पना ही नहीं कर सकते। बेचारे नवीनतावादी अभी कलाबाज़ी कर रहे हैं, उन्हें विलायती समीक्षा-क्षेत्र के उड़ते हुए लटकों की उद्धरणी और योरप के ग्रंथकारों की नाम-माला जपने से फुरसत नहीं। अब रहे उच्च आधुनिक शिक्षा-प्राप्त 'संस्कृत स्कालर' नामक प्राणी। वे तो भारतीय वाङ्मय में जो कुछ हो चुका है उसी को संसार के सामने—संसार का अर्थ आज कल योरप और अमेरिका लिया जाता है—रखने में लगे हैं। यही उनका परम पुरुषार्थ है। उन्हें अपने साहित्य को और आगे बढ़ाकर उन्नत करने से क्या प्रयोजन!"

(२) "अनन्त का जितना अंश पृथ्वी से लेकर आकाश तक बिना दूरबीन के दृष्टि दौड़ाने में ही हमारे सामने आ जाता है उसका शतांश भी एक बार में कल्पना के भीतर नहीं आ सकता! केवल 'असीम' और 'अनन्त' शब्द रखने या रटने से यह कभी नहीं कहा जा सकता कि असीम या अनन्त कल्पना के भीतर आया हुआ है, उसकी सचमुच अनुभूति हो रही है।"

उक्त पंक्तियों में व्यक्त होनेवाले भाव ऐसे नहीं हैं जो किसी भी लेखक की लेखनी के लिए दूषण-स्वरूप समझे जा सकें। वे शुक्ल जी की केवल उस सन्नद्धता और कटिबद्धता का परिचय देते हैं जिसे लेकर वे कार्य-क्षेत्र में, समालोचक के रूप में, अवतीर्ण हुए।

अध्याय १२

शुक्ल जी समालोचक के रूप में

शुक्ल जी की रचनाओं की एक झाँकी हमने ले ली और यह भी समझ लिया कि रचनाकार के रूप में वे असफल नहीं रहे। किन्तु सम्भवतः ही नहीं, अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रकृति ने उनका निर्माण हिंदी साहित्य में समालोचना-कार्य को व्यवस्थित करने के लिए ही किया था। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ हिंदी आलोचना के विकास पर एक दृष्टिपात कर लेना होगा।

हिंदी आलोचना का सूत्रपात सं० १९४२ में 'आनन्द कादम्बिनी' में प्रकाशित एक लेख से हुआ जिसमें स्व० पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने ठाकुर गदाधर सिंह द्वारा बंगला से अनुवादित 'बंग-विजेता' की समालोचना की थी। सं० १९४३ में 'हिन्दी-प्रदीप, में एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें उसके सम्पादक स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवास-दास के 'संयोगिता-स्वयम्बर' नामक नाटक की 'सच्ची समालोचना' करने का प्रयत्न इस अभिप्राय से किया कि अन्य पत्रों ने उसकी केवल प्रशंसा छापी थी। 'आनन्दकादम्बिनी' नामक पत्र के सम्पादक स्व० पं० बदरी-नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी अपने उक्त पत्र में उक्त नाटक की समा-लोचना प्रकाशित की और लिखा—"नाटक रचना के बहुतेरे दोष 'हिन्दी-प्रदीप' ने अपनी 'सच्ची समालोचना' में दिखाये हैं, अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते; हम केवल यहाँ अलग-अलग उन दोषों को दिखाना चाहते हैं जो प्रधान और विशेष हैं।" इसमें संदेह नहीं कि ये आलोचनाएँ साहि-त्यिक उद्देश्य की पूर्त्ति के निमित्त ही लिखी गयी थीं।

हिन्दी आलोचना का आरम्भ

क्रमशः आलोचना का उद्देश्य केवल साहित्यिक न रह कर व्यक्तिगत होने लगा। अगले पन्द्रह-बीस वर्षों तक अर्थात् द्विवेदी जी द्वारा 'सरस्वती' का सम्पादन आरम्भ होने के समय तक परिस्थिति प्रायः ऐसी ही रही; द्विवेदी जी ने ही हिंदी गद्य-भाषा के विकास तथा खड़ी बोली में लिखित काव्य के प्रचार के रूप में आलोचना का एक साहित्यिक उपयोग प्रस्तुत किया। इसमें

द्विवेदी जी का नेतृत्त्व

सन्देह नहीं कि उनकी कठोर लेखनी ने अपने शासन द्वारा अशुद्ध भाषा लिखने वाले लेखकों को ठीक राह पर लगा दिया। उनके नेतृत्त्व को स्वीकार कर के अनेक लेखकों ने लेखन-कार्य्य में अच्छी सफलता पायी। उनके सम्बन्ध में पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में कहा है :—

"यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना कर के हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखायी पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गये और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।"

फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि द्विवेदी जी के आलोचना-विषयक आदर्शों में एक बहुत बड़ी कसर थी; यह नहीं कहा जा सकता कि वे सर्वथा निरपेक्ष भाव से ही आलोचना करते थे। उदाहरण के लिए उनकी 'हिन्दी कालिदास' नामक आलोचना-पुस्तक सद्भावों की प्रेरणा से नहीं लिखी गयी। लाला सीताराम बी० ए० ने कालिदास के नाटकों के हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किये थे, इन्हीं अनुवाद-प्रयत्नों के एक मात्र दोष-दर्शन के उद्देश्य से द्विवेदी जी ने उक्त पुस्तक लिखी थी। साधारण समालोचनाओं की अपेक्षा तीक्ष्णतर प्रभाव उत्पन्न करनेवाले भाव-प्रधान व्यंगात्मक निबंध लिखने की क्षमता भी उनमें पर्य्याप्त मात्रा में थी। प्रयाग के द्विवेदी मेला में लाला सीताराम के प्रति जो संकेत उन्होंने अपने भाषण में प्रस्तुत किये तथा काशी-नागरी प्रचारिणी सभा का अभिनंदन स्वीकार करने के अवसर पर भी पंडित कृष्णकान्त मालवीय कृत 'सुहागरात' नामक पुस्तक के प्रति जिस प्रकार के लक्ष्य उनके द्वारा किये गये, उससे कम से कम यह बात तो झलकती है कि वे अपने विरोधियों को प्रायः क्षमा नहीं करते थे। साथ ही अपने अनुयायियों की प्रशंसा करने में भी उनकी लेखनी पीछे नहीं रही। इन सब बातों पर विचार करके यह कहना पड़ता है कि द्विवेदी जी के प्रयत्नों से शक्ति-संग्रह करके भी हिंदी समालोचना सबल और स्वस्थ आधार पर खड़ी नहीं हो सकी।

ईसवी बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में समालोचना के क्षेत्र में अनेक

प्रयत्न हुए, जिनमें निर्णयात्मक, प्रभावाभिव्यंजक तथा तुलनात्मक समालोचना-शैली के प्रचलन के साथ ही साथ गम्भीर समीक्षाओं का सूत्रपात भी हुआ। निर्णयात्मक समालोचना का वह रूप जिसमें भिन्न भिन्न कवियों को अङ्क देकर बड़ा-छोटा सिद्ध करने का निरंकुश निर्णय किया जाता है, मिश्रबन्धुओं के 'मिश्रबन्धुविनोद' में दिखायी पड़ा। प्रभावाभिव्यंजक शैली पं० पद्मसिंह शर्मा के 'बिहारी संजीवन भाष्य' में बड़े बहारदार रूप में प्रस्तुत हुई, जिसमें सहृदय शर्मा जी ने अपने हृदय पर पड़े हुए काव्य-प्रभाव को अत्यन्त चमत्कारिक और मनोहर ढङ्ग से व्यक्त किया। तुलनात्मक समालोचना की प्रतिष्ठापना के लिए एक ओर से पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र 'देव और बिहारी' को लेकर आगे बढ़े, तो दूसरी ओर से लाला भगवानदीन 'बिहारी और देव' को लेकर संघर्ष के क्षेत्र में कूदे। कुछ दिनों तक समालोचना-सम्बन्धी इन हलकी शैलियों ने हिन्दी पाठकों के चित्त को आकर्षित कर रक्खा। इन समालोचनाओं में एक ध्यान देने योग्य बात यह थी कि प्रत्येक समालोचक अपने प्रिय कवि को उचित विचार-सम्मत स्थान देकर सन्तुष्ट नहीं होता था; प्रशंसा की कुछ अतिशयोक्ति किये बिना उसकी तृप्ति नहीं होती थी। इन समालोचनाओं से लाभ यह हुआ कि कवियों की चर्चा बढ़ी और जिज्ञासा के विकास के लिए द्वार खुला। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'सच्ची समालोचना' का कार्य्य आगे नहीं बढ़ा।

मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारीमिश्र

हिन्दी-साहित्य-विषयक पठन-पाठन के क्षेत्र में एक नवीन युग का आविर्भाव तब से मानना चाहिए जब से विश्व-विद्यालयों की बी० ए०, एम० ए० कक्षाओं में अध्ययन के लिए हिन्दी स्वीकृत हुई। सहसा एक बहुत बड़ी समस्या सामने खड़ी हो गयी—कवियों का अध्ययन किस शैली पर किया जाय और प्रचलित आलोचनाओं को प्रामाणिकता, का कितना श्रेय दिया जाय। इस प्रश्न का उत्तर देनेवाले सज्जन हिन्दी साहित्य- जगत् में उँगलियों पर गिने जा सकते थे। इस सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दर-दास का नाम आदरपूर्वक लिया जा सकता है; उन्होंने 'साहित्यालोचन' नामक ग्रन्थ का प्रणयन कर के हिन्दी-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्त्ति की। किन्तु परिस्थिति जिस रूप में अपने आप को प्रस्तुत कर रही थी, उसकी माँग एक ऐसे व्यक्ति के लिए हो रही थी जो समालोचना के क्षेत्र में एकाध क्षीण प्रयत्न करके न रह जाय, वरन हिन्दी साहित्य में गम्भीर समीक्षा की एक सुव्यवस्थित पद्धति को प्रतिष्ठापित करे—ऐसी पद्धति जिसमें

विश्व-विद्यालयों में हिन्दी-प्रवेश

पाश्चात्य आलोचना-शैली से उचित प्रकाश लेकर भी भारतीय समीक्षा-शैली का तिरस्कार न किया जाय। एक ऐसे समीक्षक की आवश्यकता थी जो सच्चे वैज्ञानिक की तरह समालोचना के कार्य में हाथ लगावे और सच्चे देशभक्त साहित्य-मनीषी की तरह नये लोगों के लिए उचित पथ का निर्देश करे।

उक्त परिस्थिति के अनुरूप एक आलोचक का व्यक्तित्व क्रमशः निर्मित हो रहा था। रचनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न होने पर भी वह विरोधी गृह-वातावरण में, किशोरावस्था में भी, अपने अध्ययन को स्वावलम्बी बनाने के लिए विवश हो रहा था। नवीं कक्षा का विद्यार्थी होकर भी हर्बर्ट स्पेंसर के ग्रन्थ का पारायण करनेवाला, अँगरेजी के उच्च कोटि के निबन्धकारों के निबन्धों का सफल अनुवाद करने की क्षमता रखनेवाला एक बालक काल की प्रगति के साथ साथ अपनी रचना-शक्ति के उपयोग के लिए कम तथा आलोचनात्मक, विवेचनात्मक शक्ति की नियोजना के लिए अधिकाधिक अवसर पाता जा रहा था। क्या यह कहने की आवश्यकता है कि वह महान् साहित्यकार जिसकी समय को अनिवार्य आवश्यकता थी और जिसने अपनी सेवा और साधना के द्वारा उसके आह्वान का उत्तर दिया, समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल ही थे।

आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी का अवतरण

बाबू श्यामसुन्दरदास के कार्य्य की अपेक्षा भी पं० रामचन्द्र शुक्ल का कार्य्य अधिक विस्तृत और महान है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य के एक सुन्दर इतिहास का निर्माण किया, जिससे हिन्दी-साहित्य की बिखरी हुई विशाल सामग्री का क्रमबद्ध और सुसंगठित स्वरूप हमारे सामने आया। उन्होंने काव्य का एक बहुत ऊँचा मानदंड निर्धारित किया, जिससे ज्ञान-योग के समकक्ष भावयोग की स्थिति को पहुँचाकर उन्होंने उसे मानव-जीवन के लिए प्रत्येक युग की दृष्टि से नितान्त उपयोगी प्रमाणित किया। उन्होंने प्रकृति को एक नवीन रूप में देखा, जिसमें एक ओर तो वह केवल उद्दीपन-सामग्री के उपयोग में आने से मुक्त हो सकी और दूसरी ओर मानवी भाव-नाओं के आरोप से ही ग्रस्त न होकर अपने मूल व्यक्तित्व के सौन्दर्य से मंडित हुई। शुक्ल जी ने—अपने समय की साहित्यिक समस्याओं को सुलझाने के लिए छोटे-छोटे निबन्धों के अतिरिक्त लम्बे-लम्बे आलोचनात्मक प्रबन्ध लिखे। 'कविता क्या है ?' काव्य में प्राकृतिक दृश्य' 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' आदि निबन्धों में उन्होंने काव्य-सम्बन्धी अपने बहुत सुलझे हुए विचार व्यक्त किये। वे रस-सिद्धान्त के

समर्थक थे और अव्यक्त की व्यक्त सत्ता को ही काव्य का विषय मानते थे। काव्य की साधनावस्था और सिद्धावस्था का प्रतिपादन करके उन्होंने गत्यात्मक सौन्दर्य्य को स्थिर सौन्दर्य की संगति में लाकर खड़ा कर दिया। पाश्चात्य साहित्य से प्रस्थान कर के हिन्दी-साहित्य में पहुँचने वाले 'कला कला के लिए,' काव्य-सिद्धान्त के रूप में ग्रहण की जाने वाली रहस्योन्मुखता, 'अभिव्यंजनावाद' आदि के विरोध में उन्होंने अपनी आवाज उठायी। साथ ही समीक्षा के जिन सिद्धान्तों की उन्होंने स्थापना की, उन्हीं पर आधारित कर के जायसी तुलसीदास, तथा सूरदास के सम्बन्ध में भूमिकाओं के रूप में लम्बे प्रबन्ध भी लिखे। इसमें सन्देह नहीं कि संक्रमणकाल के पथप्रदर्शक एक साहित्यिक नेता की तरह उन्होंने साहित्य के विद्यार्थियों में स्वाभिमान, आत्मनिर्भरता आदि का भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।

शुक्ल जी ने जिस तत्परता के साथ अपने समय की उपस्थित समस्याओं को हल करने के लिए अपने अध्ययन का उचित आलोक प्रदान किया उसके सम्बन्ध में हिन्दी के भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। उनका यह कहना है कि कतिपय सिद्धान्तों और निष्कर्षों के प्रति बहुत अधिक मोह होने के कारण अनेक कवियों के प्रति शुक्ल जी यथा-वांछित न्याय नहीं कर सके। यह भी कहा जाता है कि कि कसौटी अत्यन्त प्राचीन होने के कारण वे नवीन काव्य की सहानुभूतिपूर्ण समीक्षा नहीं कर सके। उदाहरण के लिए डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी की शिकायत है कि वे कबीर की महत्ता को ठीक-ठीक नहीं आँक सके, श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी का मत है कि वे सूर की उत्कृष्टता का यथार्थ अध्ययन नहीं कर पाये, डाक्टर देवराज का कहना है कि अपनी रुचि से प्रभावित होकर उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों में केवल असाधारण को महत्त्व देने वाले लोगों को तमाशबीन कह दिया। इन सब मतों के सम्बन्ध में उचित विचार किया जाना चाहिए; शुक्ल जी के कार्य का ठीक ठीक मूल्याङ्कन तभी किया जा सकेगा।

शुक्ल जी से अनेक विद्वानों का मतभेद

उक्त विद्वानों की आपत्तियों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे अधिकांश में शुक्ल जी की स्थापनाओं को अपदस्थ करने में समर्थ कोई प्रखर आक्रमण नहीं कर पातीं; उनका प्रयास केवल उन विविध न्योरों को स्पश करके रह जाता है, जिनमें प्रवेश कर के शुक्ल जी ने अपने सिद्धान्तों को व्यवहारिक कसौटी पर कसने तथा उनकी सार्थकता दिखाने का प्रयत्न किया है। जहाँ तहाँ सैद्धान्तिक मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। शुक्ल जी

के 'उत्साह' की भी आलोचना की गयी है। साहित्यिक सिद्धान्तों के मूल तक पहुँच कर निरपेक्ष अध्ययन के प्रकाश में हमें देखना चाहिए कि शुक्ल जी निष्पक्ष विचारक हैं अथवा नहीं; सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी उनकी विचार-धाराओं में सन्तोष देने की क्षमता है अथवा नहीं; प्राचीन एवं वर्त्तमान-कालीन कवियों के सम्बन्ध में उनकी व्यवहारिक समीक्षा संगत और सुसम्बद्ध है अथवा नहीं। आगे के पृष्ठों में मैं इन सभी बातों की विवेचना करने का प्रयत्न करूँगा।

—:o:—

अध्याय १३

शुक्ल जी सामाजिक साहित्य-समीक्षक के रूप में

स्वदेशीय साहित्य का मूल्याङ्कन

पराधीन देश और जाति के साहित्य पर से स्वयं उसी देश और जाति की आस्था उठ जाती है; शासित वर्ग अपने शासकों से प्राप्त चश्मे के द्वारा ही अपने कवियों और साहित्य-सेवियों को भी पहचानता है। महाकवि रवीन्द्र की महत्ता को भारत ने इसलिए नहीं स्वीकार किया कि वह उनकी सी योग्यता रखने-वाले प्रत्येक कवि का सम्मान करता है, वरन इसलिए कि उनका सम्मान योरप-निवासियों ने किया, जिनमें भारत पर शासन करने वाली अंगरेज जाति भी सम्मिलित थी। सभी कवि रवीन्द्रनाथ की तरह साधन-सम्पन्न नहीं हो सकते और न किसी भारतीय कवि को यह आशा करनी चाहिए कि अकेली प्रतिभा और काव्य-रचनाशक्ति के बल पर, साधनों के अभाव में, वह उनकी सी कीर्ति का अधिकारी हो सकेगा।

अपने देशप्रेम, जातिप्रेम और साहित्यप्रेम के द्वारा यदि हम विश्व को कोई क्षति नहीं पहुँचाते तो हमारा देशप्रेम, जातिप्रेम और साहित्यप्रेम निन्दनीय नहीं हो सकता। विश्वप्रेम की इस देश में कभी कमी नहीं रही, उसका संदेश यहीं से सारे संसार में फैला; किन्तु एक ही ओर को बहुत अधिक झुकाव हो जाने के कारण भारत ने राजनैतिक और सामाजिक सङ्गठन की अवहेलना की और उसके परिणाम-स्वरूप भयङ्कर दुर्दिन देखे। उन परिस्थितियों की पुनरावृत्ति को रोकना यदि अनावश्यक न समझा जाय तो क्या अपने साहित्य के प्रति उचित आस्था उत्पन्न किये बिना हम एक पग भी आगे प्रगति कर सकेंगे? दासता की शृंखला में जकड़े जाकर हमने अपने उत्तमोत्तम साहित्यकारों की स्मृति पर हड़ताल लगा दिया; तो क्या उनके प्रति हम यही भाव सदैव बनाये रहें; जहाँ वे सराहने के योग्य हैं वहाँ भी क्या हम उनकी सराहना न करें? यह स्मरण रहे कि यहाँ मैं अन्याय-पूर्ण सराहना की बात नहीं कर रहा हूँ; मेरा आग्रह इतना ही है कि हम अपने कर्त्तव्य का पालन करें।

प्रारम्भिक अध्यायों में उद्धृत शुक्ल जी की काव्यपंक्तियों में पाठक उनके गहरे देशानुराग की झाँकी पा चुके हैं; देश की दुर्दशा के प्रति उनके हृदय में

तीखी वेदना थी, इसमें सन्देह नहीं। इसके परिणाम-स्वरूप उनमें एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया अवश्य ही थी और वह यह कि वे अपने साहित्य को उतना गौरव देना चाहते थे जितने के वह सर्वथा योग्य है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे भारतीय साहित्य के निर्जीव सिद्धान्तों की प्रशंसा और विदेशी साहित्य के सजीव सिद्धान्तों की निन्दा करने पर उतर आये थे।

शुक्ल जी ने सैद्धान्तिक समीक्षा के साथ ही साथ व्यवहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी कार्य किया। सैद्धान्तिक समीक्षा में उन्होंने जिन सिद्धान्तों की स्थापना की उन्हीं का आधार लेकर व्यवहारिक समीक्षा संचालित की। व्यवहारिक समीक्षा उस समय मार्मिक स्थल पर पहुँच जाती है जब उसकी मुठभेड़ समसामयिक साहित्यिक व्यक्तियों और आन्दोलनों से हो जाती है।

समसामयिक समीक्षा की कठिनाइयाँ

विदेशी चमक-दमक में जिन सिद्धान्तों का बड़ा जयजयकार है उनको कसौटी पर कसने, उपेक्षित स्वदेशी साहित्य के सिद्धान्तों को समर्थन प्रदान करने एवं दोनों ही के हृदय में एक सर्वमान्य सत्य के अनुसंधान का प्रयत्न चालित करने में—वह प्रयत्न कितना ही साधु और सौजन्यपूर्ण क्यों न हो—गलतफहमी की आशंका सदैव बनी रहती है, विशेष कर के उस दशा में जब ऐसे उद्योग को अग्रसर करने वाला व्यक्ति अनधिकारियों को हतोत्साह करने के लिए अपने धर्मयुद्ध में कठोर सेनापति की तरह सन्नद्ध हो। यह सच है कि शुक्लजी की निर्मम आलोचना वर्त्तमान-कालीन साहित्य के वातावरण के सम्पर्क में आकर उनके लिए विरोधियों की सृष्टि करनेवाली बन गयी है, साथ ही यह भी सच है कि समसामयिक रचना-प्रवृत्तियों का परीक्षण युग-समालाचक के कर्त्तव्य का सब से महत्वपूर्ण अंश है।

निस्संदेह किसी भी देश में और किसी भी युग में समसामयिक लेखकों के सम्बन्ध में अपना सच्चा मत प्रगट करना समालोचक के लिए तलवार की धार पर चलना है। स्थानीय परिस्थिति-जन्य रागद्वेष के संस्कारों ने इस प्रकार की आलोचना को आलोचक के लिए सदैव कुपरिणामोत्पादक बनाया है। संभवतः इसी बात को लक्ष्य कर के संस्कृत के आचार्यों ने कहा है—'जीवित कवेराशयो न वर्णनीयः!'। चलो छुट्टी हुई, न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी'; जीवित कवियों के आशय का वर्णन ही अनावश्यक बता कर हमारे आचार्यों ने साहित्य की नहीं तो कम से कम अपनी रक्षा तो अवश्य कर ली!

यह कहा जा सकता है कि समसामयिक व्यक्तियों की आलोचना में लग

कर राग-द्वेष की भावनाओं को उभाड़ने से अन्ततोगत्त्वा लाभ ही क्या है? क्यों न वर्त्तमान-कालीन साहित्यकारों की अधिक से अधिक प्रशंसा की जाय, उन्हें अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया जाय? ठीक है। शुक्ल जी के निधन को आज लगभग चौदह वर्ष हो रहे हैं; इस बीच उनकी नीति से विपरीत नीति के प्रयोग का यथेष्ट अवसर हमें मिल चुका है। किन्तु परिणाम क्या है? क्या हिन्दी-आलोचना प्रगति कर रही है? सुनिए इस सम्बन्ध में एक सुयोग समीक्षक * क्या कह रहे हैं—

सब-सामयिक समीक्षा का सुनिर्वाह

"आज आलोचना की यह दशा है कि वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए नतमस्तक होकर, बड़ी विनम्रता के साथ, अपने को उपयोगी बनाये रखने की कदर्य चेष्टा कर रही है। आज उसका एक मात्र उद्देश्य यह रह गया है कि वह साहित्य के अपने से भिन्न रूपों की व्याख्या करके उन्हें विद्यार्थियों और साधारण पाठकों के लिए ग्राह्य बनाती रहे। × × × × वास्तविकता यह है कि आज हिन्दी आलोचना में 'जीवित कवेराशयो न वर्णनीयः' और 'जीवित कवेराशंसा कार्या' इन्हीं दोनों सिद्धान्तों का पालन, कुछ अपवादों को छोड़कर किया जा रहा है और वस्तुतः दोनों में अन्तर कुछ विशेष नहीं है। प्रभूत विवरण देकर भी कुछ न कह सकनेवाली आलोचना के शैली-विशेष के उदाहरण वे उपाधि-ग्रन्थ, जो वास्तविक आलोचना की परिधि में आते तो नहीं हैं, किन्तु जिन्होंने हिन्दी आलोचना को उस तरह आच्छादित कर रखा है जिस तरह शायद ही किसी अन्य भाषा में हुआ या हो रहा है।"

समीक्षा यदि सिद्धान्त-प्रतिपादन की वाटिका में बिहार करती रहेगी और प्रयोग की कर्मस्थली में प्रवेश न करेगी तो उसका पतन निश्चित है। उसका यह कर्त्तव्य है कि वह ज्ञान के मन्दिर में अमरों के सिंहासनों को अनाड़ियों और अनधिकारियों द्वारा आक्रान्त होने से रोके और यह इस उद्देश्य से कि अमरता के साधक अपनी साधना को व्यर्थ समझ कर ब्लैकमारकेटिंग के सामने हिम्मत न हार दें।

आलोच्य के प्रति अत्यन्त तटस्थ भाव रखने तथा साहित्य का पोषण करने की दृष्टि से जितना अनिवार्य्य है उससे अधिक क्षति उसे न पहुँचाने का सङ्कल्प लेकर ही उदार आलोचक को अपनी कर्त्तव्य-भूमि में प्रवेश करना चाहिए। अपनी समीक्षा को सार्थक एवं रचनात्मक बनाने के उद्देश्य से आलोचक उन तत्त्वों को अपने मानसिक नेत्रों के सामने स्पष्ट कर ले, जिनकी खोज वह प्रस्तुत रचना में करेगा। ये संक्षेप में निम्नलिखित हो सकते हैं :—

(१) आलोच्य कृति भाषा की दृष्टि से कैसी है?

* श्री नलिन विलोचन शर्मा एम० ए०

(२) आलोच्य कृति में जिन विचारों और भावों का समावेश किया गया है, उनकी कलात्मक ढंङ्ग से अभिव्यक्ति हो सकी है या नहीं ?

(३) आलोच्य कृति में व्यक्त विचार और भाव रचनात्मक हैं या नहीं; उनका प्रभाव ग्रहण करके पाठक अपने कर्त्तव्य कार्य के प्रति अधिक उत्साही और सक्रिय हो सकेगा या नहीं ?

(४) ऐसा तो नहीं है कि आलोच्य कृति सौन्दर्य का एक निर्मल स्वरूप उपस्थित करने के स्थान में पाठक को किसी मोहक मार्ग पर आरूढ़ करके विकृतियों की ओर अग्रसर करनेवाली है ?—ऐसी विकृतियों की ओर जो उसकी समस्त कार्य्यकारिणी शक्ति का लोप करने की प्रवृत्ति रखती हैं, जीवन-साधना को निषेधात्मक मार्गों की ओर प्रेरित करती हैं।

इस तालिका का और भी विस्तार किया जा सकता है, किन्तु मैं स्वयं को यहीं तक सीमित रखना यथेष्ट समझता हूँ।

यहाँ तालिका की संख्या (१) और (२) का सम्बन्ध केवल अभाव से है; निस्सन्देह लेखक होने का आकांक्षी यदि अच्छी भाषा नहीं लिख सकता और अपनी रचना की अभिव्यक्ति को सुन्दर नहीं बना सकता तो उसका लिखना ही व्यर्थ है। उसे सावधान कर देना पर्य्याप्त होगा।

संख्या (३) में भी, यदि पाठक प्रस्तुत रचना के पाठ के अनन्तर कुछ लाभ नहीं करता तो कुछ खोता भी नहीं, साधारण स्थिति में रह जाता है; यह भी अभाव मात्र है, जिसका अर्थ केवल इतना ही है कि लेखक में प्रभावित करने की शक्ति नहीं है। ऐसे लेखक को भी सावधान कर देना ही यथेष्ट होगा।

किन्तु जिस लेखक अथवा लेखक-समूह की कृति संख्या (४) के अंतर्गत है, उसमें निस्सन्देह समाज को दूषित और दुर्बल बनाने की प्रवृत्ति है। ऐसे लेखक का बहिष्कार आवश्यक है, उसका प्रचार रोकना एक कर्तव्य है। यहाँ आलोचक आलोच्य कृति पर कड़ा से कड़ा आघात कर सकता है; उसके आक्रमण में निष्ठुर से निष्ठुर व्यंगों के बाण भी छोड़े जायँ तो कोई हर्ज की बात नहीं। किन्तु यह कदापि विस्मरण न हो कि इस परिस्थिति में भी लेखक के व्यक्तित्व पर आघात करने का प्रमाद उसे न करना चाहिए; क्योंकि ऐसी गलती करने से जहाँ अन्यथा उसे शत-प्रतिशत सफलता प्राप्त होने की सभावनाएँ हो सकती थीं वहा अधिक नहीं तो कम से कम पचास प्रतिशत असफलता की आशंकाएँ आ उपस्थित होंगी। मैं जानता हूँ कि आलोचक का अपने आप को इस प्रकार कसना, इस तरह की मर्यादाओं और सीमाओं से घेरना एक कठिन कार्य है; किन्तु साहित्य-सेवा के इस

मार्ग को ग्रहण करने वाले के लिए सफलतादायक अन्य कोई साधन नहीं है।

यहाँ विचारणीय यह है कि शुक्ल जी एक देशभक्त किन्तु सत्यान्वेषी समालोचक की मर्यादा के भीतर रहे हैं या उसका अतिक्रमण कर गये हैं? उनकी साहित्यिक मान्यताओं पर देशभक्ति ने अनुचित प्रभाव तो नहीं डाला है? सत्य के अन्वेषण में तत्पर होकर भी कहीं वे भ्रान्तिवश असत्य की आराधना तो नहीं करने लगे हैं? ये और इनके आनुषंगिक अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर हमें शान्त-चित्त होकर ढूँढ़ना चाहिए।

सम-सामयिक समालोचक के रूप में शुक्ल जी

एक बात और। उक्त निर्देश संख्या (४) में मैंने समाज-हित के अनिवार्य लक्ष्य को स्वयं मान्य रूप में ग्रहण कर लिया है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सीमा का कहाँ अन्त होता है और सामाजिक अंकुश कहाँ आवश्यक हो उठता है, इस सम्बन्ध में बड़े-बड़े दार्शनिकों में भी मतभेद है। सर्वमान्य बात यह है कि व्यक्ति और समाज दोनों ही का लक्ष्य आनन्द-प्राप्ति है; ऐसी स्थिति में प्रत्येक वयक्ति को अथवा अधिकांश व्यक्तियों को किसी न किसी रूप में आनन्द प्रदान करने की क्षमता साहित्यिक कृति में होनी चाहिए। तुलसीदास जी ने कहा है—

"कीरति, भनिति, भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।"

यदि उक्त कथन मान्य हो तो हमें यह निर्णय करना है कि सब को समान रूप से हितकर होनेवाली रचना की उत्कृष्टता-परीक्षा के लिए शुक्ल जी ने जो कसौटी निर्धारित की है, और जिसकी ओर एक संक्षिप्त संकेत मैं कर आया हूँ, उसमें कितनी सच्चाई है, तथा वर्तमान युग की परिस्थितियों में उसकी उपयोगिता पर, कितनी मात्रा तक आग्रह किया जा सकता है।

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों के भीतर यत्र-तत्र अपने हृदय के भावों का परिचय दिया है। एक जगह वे लिखते हैं:—

"यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हमारे काव्य का, हमारे साहित्यशास्त्र का एक स्वतन्त्र रूप है, जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतन्त्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को पहले जब हम सूक्ष्मता से पहचान

लेंगे तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतन्त्र पर्यालोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा; दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। जब तक हम इस विचार-सामर्थ्य का सम्पादन न कर लेंगे तब तक अफ्रीका के जंगलियों की तरह—जो अँगरेजों के उतारे कपड़े बदन पर डालकर स्वजनों के बीच बड़ी ऐंठ से चला करते हैं—भद्दी नकल को ही नवीनता मानकर संतोष करते रहेंगे और सभ्य जगत् के उपहास-भाजन बने रहेंगे।"

× × × ×

"एक जगह की प्रचलित और सामान्य वस्तुओं को दूसरी जगह विकृत रूप में रखकर नवीनता को विज्ञप्ति करना किसी सभ्य जाति को शोभा नहीं देता। यह नवीनता नहीं है, अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रान्त हृदय का घोर नैराश्य है, कहाँ तक कहें, घोर साहित्यिक गुलामी है।"

× × × ×

"हम सारा काव्य-क्षेत्र देव, मतिराम, बिहारी आदि के घेरे के भीतर देखनेवाले पुरानी लकीर के फकीर न कभी रहे हैं और न हैं? हम अपने हिन्दी काव्य को विश्व की नित्य और अनन्त विभूति में, स्वच्छन्दतापूर्वक, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार, अपनी आँख खोल कर विचरण करते देखना चाहते हैं। पर यह दिन तभी आयेगा जब हमारी अन्तर्दृष्टि को आच्छादित करने वाले परदे हटेंगे और हमारे विचारों में बल आयेगा।"

—[काव्य में रहस्यवाद, पृ० १७०,१७१

शुक्ल जी की इन पंक्तियों से यदि कोई बात झलकती है तो वह यही कि वे हिन्दी लेखकों से शक्तिपूर्ण मौलिक प्रयत्नों की आशा और आकांक्षा करते हैं, भद्दी नकल की नहीं।

रस-निरूपण-पद्धति पर शुक्ल जी का विशेष आग्रह रहा है; किन्तु उन्होंने यह कहीं नहीं कहा है कि वह सर्वथा पूर्ण है और अब उसमें अनुसंधान की गुंजाइश नहीं है। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं:—

"हमें अपना रस-निरूपण-पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रसार-संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नींव बहुत दूर तक डाली गयी है;

पर इसके ढाँचों का, नये नये अनुभवों के अनुसार, अनेक दिशाओं में फैलाव बहुत जरूरी है।"

मेरी समझ में शुक्ल जी की सहृदयता को स्वीकार करके उनके विचारों के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण विकसित करना किसी भी देशभक्त साहित्य-प्रेमी ही के लिए नहीं, मानवतावादी और विश्ववादी साहित्य-रसिकों के लिए भी कठिन न होना चाहिए।

———

अध्याय १४

विविध समीक्षकों की दृष्टि में

अँगरेज़ी की एक कहावत है—'To be great is to be misunderstood', अर्थात् महान् होना अपने सम्बन्ध में तरह-तरह की भ्रान्तियों को उत्पन्न होने का अवसर देना है। इस कहावत की सचाई शुक्ल जी के सम्बन्ध में भी उतनी ही सटीक उतरी है जितनी अन्य महान् व्यक्तियों के सम्बन्ध में। वर्त्तमान युग के अनेक हिन्दी समीक्षकों ने उन्हें विविध रूपों में देखने की चेष्टा की है।

शुक्ल जी साहित्य-परिषद के सभापति के रूप में

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन में शुक्ल जी साहित्य-परिषद के सभापति थे। सभापति होने के प्रसंग से सभा-संचालन विषयक उनकी योग्यता की समीक्षा करने का भी अवसर उपस्थित हो गया। इस अवसर का उपयोग करनेवाले एक समीक्षक* का कथन है :—

"साहित्य-परिषद के वह सभापति थे। परिषद बड़े यत्न से उन्हें पा सकी थी। उनकी कृपा कि उन्होंने सभापतित्व स्वीकार किया और आने का कष्ट उठाया। पर आने पर वह परिषद की कृपा पर दीखते थे। भाषण वह नहीं पढ़ सके। दूसरे ने पढ़ा, पर पूरा नहीं। परिषद में गड़बड़ भी मची रही। पर शुक्ल जी ऐसे बैठे थे कि तटस्थ। मानों सुधिभूले दर्शक हों। गंभीर मुद्रा और दूरस्थ अनासक्ति। मैं नहीं जानता कि उस अनासक्ति को कर्म और कौशलवाली अनासक्ति मैं कह सकता हूँ।"

× × × ×

"पास से देखा कि वह झमेले के आदमी नहीं हैं। मानो सामने झमेला आ पड़े तो वह खो रहेंगे। कल्पना और सूझबूझ का यौवन उनमें न था, पकी मंथरता थी।"

मुझे इस सम्बन्ध में कहना यह है कि जो हमें अमृतदान कर सकता है उसकी आलोचना हम इसलिए न करें कि वह झाड़ू लगाने का भी विशेषज्ञ नहीं है। महात्मा गांधी की सी चतुर्दिक योग्यता की अपेक्षा यदि हम कवीन्द्र रवीन्द्र से करेंगे तो हमें अनावश्यक निराशा का सामना करना पड़ेगा। यदि हमारे साहित्यकार सभा-संचालन-सम्बन्धी योग्यता की कसौटी पर कसे जायँगे तो हममें से अच्छे से अच्छे भी इस परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जायँगे! निस्सन्देह कर्ममात्र सम्माननीय है और जितने ही अधिक कार्यों को सम्पादित कर सकने की क्षमता हम अपने में बढ़ा लें उतना ही अच्छा

* श्री जैनेन्द्रकुमार।

किन्तु काँटे का गौरव इसमें है कि वह काँटा बना रहे और फूल का गौरव इसमें कि वह अपनी विशेषताओं को सँभाले रहे। शुक्ल जी साहित्य के विशेषज्ञ के रूप में परिषद में उपस्थित थे और उनका अधिक से अधिक उपयोग कर लेना, श्रोताओं का काम था; यदि उनमें सम्भव लाभ उठा लेने की दूरदर्शिता नहीं थी तो यह उन्हीं का दोष था, न कि शुक्ल जी का। अस्तु।

शुक्ल जी के मत पर संकीर्णता का आरोप भी लगाने का प्रयत्न किया गया है :—*

"हिन्दी-संसार में शुक्ल जी अपने ढंग का एक और अद्वितीय व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए थे। वे काव्य के क्षेत्र में अव्यक्त और अज्ञात की अनुभूति से सदा व्याकुल रहनेवाले कवियों को काव्य-क्षेत्र से हट कर किसी धर्म-साधना या दर्शन के क्षेत्र में जाने की सलाह देते थे। क्योंकि उनके मत से काव्य का क्षेत्र मनुष्य या मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों का क्षेत्र है, अज्ञात और अव्यक्त रहस्यों का लोक नहीं। शुक्ल जी का वह मत उनकी व्यापक दृष्टि के अनुकूल नहीं था।"

शुक्ल जी पर संकीर्णता का आरोप

× × × ×

"उनका साहित्यिक मत बहुत स्पष्ट था। वे मानो तन कर कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूँ, तुम ऐसा मानते हो या नहीं, इसकी मुझे परवा नहीं। अपने सुनिश्चित मत पर वे चट्टान की तरह दृढ़ थे, यदि संसार के श्रेष्ठ माने जानेवाले कवि भी उस सिद्धान्त के अनुकूल नहीं पड़ते तो शुक्ल जी को कोई चिन्ता नहीं थी। उनके सभी निबन्धों में उनकी यह दृढ़ता स्पष्ट हुई है। इसमें एक अडिग आत्मविश्वास ने ही सारे हिन्दू-जगत में उनका सिक्का जमा दिया है। आप उस कठोर आत्मविश्वास की उपेक्षा नहीं कर सकेंगे। मानने पर आप अनुयायी हो जायँगे और न मानने पर अशान्त हो जायँगे।"

× × × ×

"इस मत के प्रति उनका आग्रह इतना अधिक था कि ऐसे बड़े-बड़े संतों और भक्त कवियों का महत्व भी वे स्वीकार नहीं कर सके, जिन्होंने सब प्रकार के साम्प्रदायिक मनोभावों पर कस कर आघात किया था और अपने परम उपास्य को उन्हीं मनोरागों के भीतर से देखने का प्रयत्न किया था जिन मनोरागों के भीतर से शुक्ल जी ने प्रकृति के मोहक रहस्यों को देखा था।"

उक्त अवतरणों में जो बातें कही गयीं वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

* डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

(१) अव्यक्त और अज्ञात की अनुभूति से व्याकुल कवियों का भी काव्य क्षेत्र में अस्तित्व शुक्ल जी को स्वीकार करना चाहिए था।

(२) शुक्ल जी के आत्म-विश्वास और विचार-दृढ़ता ने हिन्दू जगत् में उनका सिक्का जमा दिया।

(३) हिन्दुओं और मुसल्मानों की साम्प्रदायिकता पर कबीर ने आक्रमण किया था तथा परोक्ष सत्ता के निराकार रूप के प्रति उनके हृदय में वैसा ही अनुराग था जैसा शुक्ल जी के हृदय में प्रकृति के प्रति था।

इन आपत्तियों पर यहाँ क्रमशः विचार किया जायगा। आपत्ति संख्या-दो और तीन को एक साथ ही लिया जा सकेगा।

(१) शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के रचनात्मक पार्श्व की व्याख्या करते समय, इस पुस्तक के आरम्भ में यह कहा गया है कि शुक्ल जी अपने काव्य एवं रचनात्मक निबन्ध-निर्माण में मूर्त्ति-विधान और चित्रण की प्रवृत्ति रखते हैं। किन्तु उनकी रचना में यह विशेष प्रवृत्ति है, यह कह कर हम इसे उनकी निजी वस्तु नहीं बना सकते। वास्तव में मूर्त्ति-विधान और चित्रण ही तो वह कसौटी है जिस पर प्रत्येक कवि की रचना कसी जायगी। जो निराकार अव्यक्त और अज्ञात के प्रेमी हैं वे अपना प्रेम कहाँ ले जायँगे? उन लोगों का प्रेम-रोग तो समझ में आ सकता है जो किसी व्यक्ति प्रेमपात्र पर प्राण देते हैं; उन्हें तरह-तरह की आशा-अभिलाषा भी हो सकती है; किन्तु जहाँ प्रेमपात्र का कोई रूप ही नहीं है, वहाँ भी 'मरीज़े इश्क़' बन कर घूमने की अपेक्षा तो सचमुच यही अच्छा है कि जिज्ञासा और चिन्तन के क्षेत्र में पहुँच कर साधक यथार्थ की भूमि पर खड़ा हो।

बुद्धिवादी दृष्टिकोण से भी निर्गुण और सगुण का समन्वय एकान्त निर्गुण को अधिक महत्त्व देने तथा सगुण की निन्दा करने की अपेक्षा अधिक ग्राह्य और संगत माना जायगा। निर्गुण के आराधक के मानसिक नेत्रों के सामने भी अव्यक्त, अकल, अनीह, अरूप ब्रह्म का कोई न कोई रूप तो रहता ही है; ऐसी अवस्था में निर्गुण की स्वीकृति के साथ ही साथ सगुण का निर्विशेष खंडन उतना ही बड़ा ढोंग है जितना निर्गुण को सर्वथा भुला कर एकमात्र सगुण की मान्यता ही को जीवन का परम सत्य मान लेना है। गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा सूरदास ने निर्गुण और सगुण के समन्वय ही को अंगीकार किया है। संकीर्णता कबीरदास में है, अथवा इन महात्माओं में है, यह सहज ही समझा जा सकता है। शुक्ल जी ने समन्वित दृष्टिकोण की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। कबीरदास का दृष्टिकोण समन्वित नहीं है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

शुक्ल जी ने रहस्य की मधुर भावना का विरोध कहीं नहीं किया है; किन्तु वे उसे काव्य के एक 'वाद' के रूप में ग्रहण करने के सदैव प्रतिकूल रहे हैं। जिन्हें उन्होंने आनन्द की सिद्धावस्था एवं साधनावस्था कहा है उनके भीतर प्रतिष्ठापित रस-मत लोक के हृदय के अधिक निकट है अथवा रहस्यवाद—जो थोड़े से सीमित लोगों ही की संवेदनाओं को लेकर चल सकता है—इस-प्रश्न का निर्णय शुक्ल जी के ही पक्ष में होने की आशा है और यह निर्णय शुक्ल जी की संकीर्णता की नहीं, विस्तीर्ण-हृदयता ही की सूचना देगा।

(२+३) कबीर यदि एक ओर वेद पुराणोक्त सगुणोपासना के निन्दक थे तो दूसरी ओर चिल्ला कर नमाज़ पढ़ने आदि के भी आलोचक थे। यह तो निश्चित ही है कि उन्होंने इस्लाम का प्रचारक बनने का प्रयत्न नहीं किया। इसके विपरीत निर्गुण की प्रेमाश्रयी शाखा के मुसल्मान कवियों ने तो अपने इस रूप को बिलकुल ही नहीं छिपाया कि वे इस्लाम के प्रचारक[1] हैं। शुक्ल जी कबीर की ओर न आकर्षित होकर मलिक मुहम्मद जायसी की ओर आकर्षित हुए, इसका कारण क्या यही था कि वे 'हिन्दू' विचार-धारा से अधिक प्रभावित थे? क्या जायसी के अध्ययन और विस्तृत विवेचन में कहीं भी शुक्ल जी की 'हिन्दू' भावना के कारण बाधा पड़ी है? क्या जायसी के रहस्यवाद[2] के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने सहानुभूति का भाव नहीं प्रदर्शित किया है?

जिस समीक्षक को मलिक मुहम्मद जायसी के प्रति अनुराग हो सकता है—उसे कबीर के प्रति सहानुभूति कम होने का एक मात्र कारण साम्प्रदायिक भावना हो सकती है. साहित्य के क्षेत्र में इस धारणा को भी चित्त में स्थान देना हमें तो अनुचित समझ पड़ता है। कबीर के निर्गुणवाद में जायसी के सूफ़ीवाद की अपेक्षा भारतीय तत्त्वों का अधिक समावेश है, इस कारण

---

[1]विधना के मारग हैं ते ते। सरग-नखत तन रोवां जेते।
तेहि महँ पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई।
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा।
सुनत ताहि नारद उठि भागै। छूटै पाप पुन्नि सुनि लागै।

इन पंक्तियों पर शुक्ल जी की टिप्पणी इस प्रकार है—"इसमें जायसी ने ईश्वर तक पहुँचने के लिए अनेक मार्गों को उदारतापूर्वक स्वीकार किया है, यद्यपि अपने इस्लाम मत के अनुरोध से उन्होंने मुहम्मद के पंथ की प्रशंसा की है"—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३५३

[2]"हिन्दी साहित्य में 'रहस्यवादी कवि-सम्प्रदाय' यदिकोई कहा जा सकता है तो इन कहानी कहनेवाले मुसल्मान कवियों का ही"—भूमिका, पद्मावत, पृ० १९९

भी शुक्ल जी को निर्गुणवाद की ओर आकृष्ट होने का अधिक अवसर हो सकता था; किन्तु उन्हें कबीर में उन अनेक रचनात्मक तत्त्वों का अभाव खटका जिनका कवि में होना वे नितान्त आवश्यक समझते हैं।

कबीर ने हिन्दुओं और मुसल्मानों दोनों ही की साम्प्रदायिकता पर आघात किया, इस समभाव के लिए उनकी सराहना की जा सकती है, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि इस सम भावना में कुछ वैषम्य भी था। उदाहरण के लिए यह बात प्रस्तुत की जा सकती है कि उन्होंने हिंदुओं के उपासना-विषयक सिद्धान्तों पर आक्रमण किया, जब कि इस्लाम से सम्बन्धित अपेक्षाकृत कम महत्त्व के विषयों की आलोचना ही तक उन्होंने अपने आप को सीमित रक्खा। यदि यह कल्पना की जाय कि इस वैषम्य को ध्यान में रख कर शुक्ल जी ने कबीर के प्रति अपनी सहानुभूति को कम कर लिया तो यह भी उचित नहीं होगा, क्योंकि शुक्ल जी ने कबीर की समसामयिक परिस्थितियों का जो पूर्वापर विश्लेषण किया है, उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस वैषम्य के लिए कबीर व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं थे; तत्कालीन वातावरण में इस्लाम की उतनी भी आलोचना कम नहीं थी। रही हिन्दुओं की आलोचना, सो उनके दार्शनिक सिद्धान्तों और व्यवहारिक आचरण में इतनी दूरी पड़ गयी थी कि उसके वे सर्वथा पात्र हो गये थे; वास्तव में सगुणोपासना पर आक्षेप की परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी, जिसका प्रधान कारण मूर्त्तिभंजक मुसल्मानों के बढ़ते हुए उत्साह को रोक सकने में असंगठित हिन्दुओं की असमर्थता के सिवा और कुछ नहीं था। शुक्ल जी की विवेचना से इन भावों के स्पष्ट होने की स्थिति में कबीर के प्रति उनकी अननुकूलता के कारणों की और कहीं खोज करनी पड़ेगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि कबीर में जायसी की सी मूर्त्त-विधान, प्रकृति-चित्रण आदि काव्योचित प्रयत्नों की क्षमता होती, यदि प्रबन्ध की ओर झुक कर वे जनसाधारण की तत्कालिक पीड़ाओं को काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करते तो शुक्ल जी में कबीर के प्रति आकर्षण में कमी न होती। रस-मत के अनुयायी होने के कारण उनके काव्यविषयक सिद्धान्त एक विशेष साँचे में ढले हैं। फिर भी यह सच नहीं है कि वे सिद्धान्त केवल उन्हीं के हैं और उनकी व्यक्तिगत रुचि प्रगट करते हैं। हाँ उनकी रुचि हनूमान की सी रुचि थी, जिससे प्रेरित होकर मणियों के भीतर भी राम-नाम को तल शने की चेष्टा की जाती है। वे प्रत्येक काव्य के भीतर निर्मल, निस्स्वार्थ प्रेम, सहानुभूति और वेदना को ढूँढ़ते हैं और जब उन्हें ये तत्त्व उपलब्ध नहीं होते तब स्वभावतः अतृप्त रह जाते हैं। इस अतृप्ति का उत्तर यह

नहीं है कि हे समालोचक ! तुम अपने मानदण्ड को नीचा करो और हम जैसी भी रचना प्रस्तुत करें उसे सराहने की योग्यता सम्पादित करो। सहृदय को मुग्ध करना ही काव्य का लक्ष्य होना चाहिए।

शुक्ल जी की व्यक्तिगत रुचि और सांस्कृतिक दृष्टिकोण को काव्य के मूल्याङ्कन में बाधक भी बतलाया गया है। इस सम्बन्ध

शुक्ल जी की व्यक्तिगतरुचि

में मैं यहाँ कतिपय समीक्षकों के अवतरण प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

(१) "जहाँ† जहाँ और जब जब शुक्ल जी ने अपनी काव्य-माप में कुछ व्यक्तिगत रुचियों को प्रवेश करने दिया है—उदाहरण के लिए कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध-रचना को मुक्तक काव्य पर तरजीह दी और निर्गुण सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण पक्ष की वकालत की—वहाँ वहाँ उन्हें अकसर काव्य की परख करने में कठिनाई हुई है। डी० एल० राय में रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा उच्चतर भाव-संवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात का परिणाम है।"

× × ×

"शुक्ल जी में उच्च कोटि की काव्य-रसज्ञता थी, इसमें संदेह नहीं। साथ ही उनकी कुछ निजी रुचियाँ और आग्रह भी थे, जिन्हें उन्होंने दबाया नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनमें आलोचना के साथ साथ रचनात्मक प्रेरणाएँ भी बड़ी प्रमुख थीं। स्वतंत्र रचना के लिए स्वतन्त्र अभिरुचि का होना आवश्यक है, किन्तु काव्य-समीक्षक को अधिक से अधिक निष्पक्ष होना चाहिए। साहित्य के वैज्ञानिक अनुसंधान-कार्य्य के लिए यह निष्पक्षता बहुत आवश्यक है।"

(२) "हम‡ समस्त कवियों की एक ही रुचि और प्रकृति-निरीक्षण की एक ही दृष्टि की अपेक्षा नहीं रख सकते। हमें कविता को अपनी रुचि और अरुचि की कसौटी पर कसने के बजाय निरपेक्ष भाव से परखना चाहिए। आचार्य्य अपनी रुचि-अरुचि के कारण ही प्रबन्ध काव्य को गीतिकाव्य से अधिक महत्व देते हैं और इसलिए सूर की अपेक्षा तुलसी के कवित्व को गौरव प्रदान करते हैं।"

× × ×

"शुक्ल जी महान् इसलिए नहीं थे कि वे परम्परागत साहित्यशास्त्र से सुपरिचित थे और उसके मापों का प्रयोग कर सकते थे, बल्कि इसलिए कि उनकी रस-दृष्टि बड़ी परिपक्व थी। उनकी कमी यह थी कि उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण सीमित और पुराना था। इस दृष्टि से आज की हिन्दी आलोचना ने उन्नति की है। किन्तु आज के आलोचकों की रस संवेदना उतनी विकसित नहीं दिखायी देती, ये रस-संवेदना के स्थान में वादों

---

†श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी ‡डा० देवराज ।।

को रखते हैं, इसीलिए हिन्दी आलोचना उन्नति करती नहीं जान पड़ती। आज हमें शुक्ल जी की रस-संवेदना की अपेक्षा है।"

(३) "शुक्ल* जी मानो आदर्शों के उत्तुंग हिमाचल पर खड़े होकर अपनी सहज गरिमा से नीचे दृष्टिपात तो करते रहे, किन्तु जीवन के वैभिन्य में श्रेय और हेय इन दो पक्षों की पृथक् सत्ता मानते हुए भी उनमें पूरी तरह समन्वय न कर पाये। उन्होंने कविता को शाश्वत सत्य तो माना, किन्तु सांस्कृतिक आदर्शों को वस्तुवादी दृष्टिकोण से न देखने के कारण उनके मन में उलझाव पैदा हो गया, जिससे आदर्श एवं यथार्थ-विषयक भ्रान्ति को वे स्पष्ट न कर पाये।"

इन अवतरणों में जिन आपत्तियों का समावेश किया गया है, वे क्रमशः निम्नलिखित हैं :—

(१ व्यक्तिगत रुचि का काव्य-मूल्याङ्कन पर आरोप

(२) सीमित और प्राचीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण

(३) सांस्कृतिक आदर्शों के साथ वस्तुवादी दृष्टिकोण के समन्वय का अभाव।

इन तीनों ही आपत्तियों पर यहाँ क्रमशः विचार किया जायगा।

व्यक्तिगत रुचि एक ऐसी भावना है जो व्यक्ति को अनियंत्रित अधिकार और असीम क्षेत्र प्रदान करती है। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा व्यक्ति यदि कहीं भी एक सा है तो वह रुचि की चौहद्दी के भीतर ही। व्यक्तिगत रुचि के घेरे के भीतर हम कालिदास की शकुन्तला, तुलसीदास जी के रामचरित-मानस, रवीन्द्र बाबू की गीतांजलि सभी को निकम्मी कह कर राधेश्यामकृत रामायण को पसन्द कर सकते हैं। किसी के फूस के झोपड़े पर जलती दियासलाई फेंक देने ही की यदि हमारी रुचि है तो परिणाम कुछ भी हो, उक्त रुचि को अपने हृदय में स्थान देने के लिए हम स्वतंत्र हैं। किसी को गाली देने, किसी का उपहास करने ही में बहुतों की विशेष रुचि हुआ करती है। समुद्र में तरंगें उठा करती हैं, हमारे हृदय में रुचि लहराया करती है। जीवन में व्यक्तिगत रुचि ने बड़े-बड़े संग्रामों को जन्म दिया है, यदि साहित्य में भी उसी का बोलबाला हो जायगा तो चूरन बेचनेवाले भी अपनी सी रुचि रखने वालों का संगठन कर के साहित्य-सम्राट् की गद्दी के दावेदार हो जायँगे! अतएव व्यक्तिगत रुचि-राक्षसी का आवाहन करते समय हमें सावधान रहना चाहिए।

शुक्ल जी की व्यक्तिगत रुचि में निरंकुशता नहीं थी; वह अत्यन्त उच्च कोटि की साधना को अपना सम्बल बना कर चलती थी। जहाँ व्यक्ति अपने

*श्रीमती शचीरानी गुर्टू

पारिवारिक आदि समस्त सम्बन्धों के बंधन से मुक्त होकर भावना में लीन होता है, जहाँ वह मनुष्य मात्र ही के प्रति नहीं, जीवमात्र एवं प्रकृति के जड़ पदार्थों के प्रति भी तादात्म्य का अनुभव करता है, रागात्मिका वृत्ति के उस क्षेत्र में शुक्ल जी ने काव्य की भूमि मानी है। क्या इसमें किसी को कोई आपत्ति हो सकती है ?

शुक्ल जी ने, विज्ञान के सर्वथा विपरीत, काव्य में रूपयोजना के लिए आग्रह किया है, इसी कारण आलम्बन विभाव स्वभावतः उपस्थित होता है तथा उद्दीपन विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के भीतर से होता हुआ स्थायी भाव-विशेष हमारे हृदय में उदित होता है। यदि हम रूपयोजना को स्वीकार करते हैं तो विभावन-व्यापार द्वारा अग्रसर होनेवाली साधारणीकरण की प्रक्रिया को भी हमें स्वीकार करना होगा; क्योंकि मानव के सार्वभौम और सर्वकालीन भाव विभिन्न परिस्थितियों के सहयोग से मूल स्थायी भाव की संज्ञा प्राप्त कर ही के हमारे हृदय में रस का उद्रेक करते हैं। यह आग्रह शुक्ल जी ही का नहीं, मानवमात्र का है और तब तक बना रहेगा जब तक सृष्टि अपने वर्त्तमान रूप में उपस्थित रहेगी।

शुक्ल जी उच्चकोटि के गीतिकाव्य की अपेक्षा उच्चकोटि के प्रबंध काव्य को अधिक ग्राह्य मानते हैं; इसका कारण यही है कि वे मानव, मानवेतर प्राणी तथा प्राकृतिक दृश्यों के साहचर्य से उत्पन्न जीवन की एकता का साक्षात्कार प्रबंध काव्य के द्वारा अधिक सम्भव समझते हैं। जहाँ तक यह कार्य गीतिकाव्य के द्वारा सम्पन्न होता है वहाँ तक उन्हें उससे विरोध नहीं है, किन्तु उनके मतानुसार जीवन के समन्वित चित्रण के लिए जितना अवसर और अवकाश प्रबंधकाव्य में उपलब्ध हो सकता है उतना गीतिकाव्य के लघुकाय में नहीं। साथ ही यह सर्वथा संभव है कि गीतिकाव्य का एक वेधक भाव हमें समष्टिगत तादात्म्य के अधिक निकट पहुँचा दे, और विस्तार प्राप्त कर के भी प्रबंधकाव्य हमें क्षुद्र और सीमित बनाने ही की ओर अग्रसर हो; ऐसी परिस्थिति में क्या किसी भी समझदार व्यक्ति को यह निर्णय करने में कठिनाई हो सकती है कि शुक्ल जी किसका पक्ष ग्रहण करेंगे ?

स्थानाभाव से इस वक्तव्य को अधिक लम्बा न बनाकर संक्षेप में मैं यही कहना चाहता हूँ कि शुक्ल जी की व्यक्तिगत रुचि केवल उन्हीं की असंयमित रुचि नहीं है, वरन उसमें सुसंस्कृत मानव मात्र की सुरुचि समाविष्ट है, वह साधना-सम्भूत है और ग्राह्य होने के लिए भी साधना ही की अपेक्षा करती है। शुक्ल जी ने काव्य को ऊँचे स्तर पर ले जाना चाहा है, यात्रा परिश्रम-साध्य है, पैरों में छाले पड़ जाने की आशंका है, साथ ही जीवन को धन्य

बनानेवाले रस की प्राप्ति के रूप में सन्तोषजनक पारिश्रमिक भी वहीं मिलेगा, यह आशा न त्यागनी चाहिए।

किन्तु शुक्ल जी की व्यक्तिगत रुचि से यदि आशय रचनाकार के रूप में रचना की शैली-विशेष को ग्रहण करने की उनकी प्रवृत्ति से हो तो समीक्षकों की आपत्ति अधिक विचारणीय हो जाती है, क्योंकि यह बात वास्तव में सच है कि प्रत्येक रचनाकार अपनी ही रचनाशैली को पसन्द करता है और आलोचना करने का अवसर पाकर आलोच्य में भी उसी शैली को देखने की इच्छा करता है। जैसा कि मैं पिछले पृष्ठों में दिखा आया हूँ, शुक्ल जी में रचनाकार की प्रवृत्ति भी रही है। अब यहाँ प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या रचनाकार-प्रवृत्ति के कारण शुक्ल जी को यथार्थ आलोचना करने में कोई कठिनाई हुई है? इस सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं—एक तो यह कि क्या रचनाकार प्रत्येक अवस्था में अन्य रचनाकारों की आलोचना करने का अधिकारी नहीं होता? अपनी रचना के प्रति उसकी अत्यधिक ममता क्या औरों की रचना के प्रति उचित सहानुभूति के भाव से वंचित कर देती है, और वह उस पर पूर्ण तटस्थता के साथ विचार करने में असमर्थ हो जाता है? दूसरी बात यह कि क्या शुक्ल जी की रचना-प्रवृत्ति वास्तव में उनके आलोचना-विषयक सिद्धान्तों को अनुचित रूप से प्रभावित कर बैठी और उनकी आलोचना-दृष्टि विकृतिपूर्ण हो गयी?

जहाँ तक उक्त प्रश्न के प्रथम पार्श्व का सम्बन्ध है, यह बात निश्चित है कि आलोचना का, काव्य-भूमि में प्रवेश करके अनासक्तिपूर्वक रचना-विशेष की सरसता अथवा नीरसता के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करने का अधिकार प्रत्येक सहृदय को है, वह स्वयं ही रचनाकार हो या न हो। अनासक्ति भावना का विकास स्वयं एक पृथक् वस्तु है, उसका रचनाकार होने या न होने से कोई सम्बन्ध नहीं और उसके लिए साधना की, निरन्तर हृदय के संस्कार की, प्रगति की, अनिवार्य्य आवश्यकता विशुद्ध आलोचक को उतनी ही है जितनी रचनाकार-आलोचक को है। रचना-प्रवृति से युक्त काव्य-श्रोता अथवा सहृदय के सम्बन्ध में तुलसीदास जी ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिन्हें औरों की कविता सुनकर हर्ष होता है, वास्तव में सज्जन वे ही हैं। क्योंकि, अपनी कविता तो सभी को अच्छी लगती है। यदि गोस्वामी जी का यह कथन हमें अमान्य न हो तो हम सहज ही समझ सकते हैं कि जो स्वयं भी रचना करता है, उसके लिए पर-भणित की सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या अथवा सराहना नितान्त असम्भव नहीं है। निस्संदेह ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम है, क्योंकि उनकी सफलता साधना-सापेक्ष है।

किन्तु साथ ही जो रचनाकार नहीं हैं, वे अपनी इसी विशेषता के कारण कि वे रचना नहीं करते, केवल आलोचना करते हैं सच्ची सहृदयता के विकास-प्रयत्न के अभाव में भी, आलोचना-कार्य्य में अधिक सफल हो जायँगे, ऐसी आशा करना भी व्यर्थ है।

रचनाकार औरों की आलोचना करते समय स्वभावतः अपने मानस के किसी गूढ प्रदेश में उनकी रचना के साथ अपनी रचना की तुलना कर लेता है और ऐसे तर्कों का सहारा लेता है, जिनसे स्वयं उसकी रचना को कोई क्षति न पहुँच सके, भले ही आलोच्य रचनाओं को क्षति पहुँच जाय। यह मन की स्वाभाविक वृत्ति है जो अनियंत्रित छूटी रह कर रचनाकार की समस्त सहृदयता को आच्छादित कर ले सकती है। यह असुविधा उस व्यक्ति के सामने नहीं खड़ी होती जो आलोचक मात्र है, रचनाकार नहीं है; किन्तु उसकी सहृदयता को भी आच्छादित कर देने वाली कठिनाइयाँ अन्य मार्ग से प्रवेश कर सकती हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति-विशेष रचनाकार है अथवा आलोचक, यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना यह प्रश्न कि दोनों में से कोई भी एक होकर वह अनासक्तिपूर्वक अपने आप को द्रष्टा की स्थिति में डालने का अभ्यासी हो सका है या नहीं। स्वयं रचनाकार होना आलोचक बनने के लिए बाधक नहीं है; निस्संग भावना को अंगीकृत करके वह सहज ही अपने कार्य्य को सम्पन्न कर सकता है।

रचनाकार यदि अनासक्त भाव से विचार करने की क्षमता से युक्त है तो वह आलोचक तो हो सकता है, किन्तु उसे अपना अध्ययन मनन और चिन्तन बढ़ाना पड़ेगा; आलोच्य कृति से सम्बन्धित आवश्यक ज्ञान का सम्पादन भी उसके लिए आवश्यक होगा। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, मिल्टन आदि जैसे कवि और कलाकार आवश्यक होने पर उचित रूप से प्रसंग-प्राप्त समीक्षा भी कर सके, इसका कारण यही है कि उनमें निरपेक्षता के साथ-साथ विषय से सम्बन्धित उतनी जानकारी भी थी, जितनी पाठकों की उलझनों को सुलझाने के लिए नितान्त आवश्यक है। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि ये गुण अपेक्षित मात्रा में विद्यमान हों तो रचनाकार के समीक्षक होने में कहीं कोई दोष नहीं।

एक ओर तुलसीदास की, दूसरी ओर जायसी की समीक्षा कर के शुक्ल जी ने अपनी अनासक्ति का परिचय दिया है; अपेक्षित विषय-सम्बन्धी पांडित्य के आधार पर उनका साधिकार कथन तो ऐसा है कि वह कुछ लोगों को खल भी जाता है। ऐसी अवस्था में केवल यह कह कर कि वे रचनाकार हैं, उनकी आलोचना के बल को घटाया नहीं जा सकता।

रचनाकार के आलोचनाधिकार के सम्बन्ध में कुछ कहा जा चुका। अब हमें दूसरी बात पर विचार करना है जो यह है—थाड़ी देर के लिए मान लिया कि रचनाकार-प्रवृत्ति आलोचना कार्य्य के लिए, बाधक है, तो क्या शुक्ल जी की रचना-प्रवृत्ति सचमुच इस कोटि की है कि उससे आलोचना अनुचित रूप से प्रभावित हो गयी है? इस पुस्तक के पिछले अध्यायों में मैंने जो कुछ कहा है उसके निष्कर्ष-रूप में मैं यह अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहना चाहता हूँ कि शुक्ल जी तीन चौथाई से अधिक मात्रा में समीक्षक, आलोचक थे और एक चौथाई से कम मात्रा में रचनाकार। यदि उनमें रचनात्मक प्रवृत्ति की प्रमुखता होती तो उन्होंने 'शशाङ्क' का अनुवाद न कर के कोई मौलिक उपन्यास लिखा होता। अन्यत्र मैंने यह दिखलाया है कि शुक्ल जी की रचना-प्रवृत्ति न केवल बाह्य, किन्तु समीक्षा-प्रवृत्ति की आन्तरिक प्रेरणाओं के कारण भी, क्रमशः संकुचित होती चली गयी और अपने ह्रास की पराकाष्ठा को प्राप्त कर उनके विचारात्मक निबन्धों के सरस, कोमल विश्राम-स्थलों तक ही सीमित हो गयी। ऐसी अवस्था में यह न कह कर कि वे रचनाकार थे, यह कहना अधिक उचित और संगत होगा कि वे उतनी मात्रा में रचनाकार भी थे जितनी मात्रा में रचनाकार होना श्रेष्ठ, रस-संग्राहक, निर्मायक तत्त्व-संयोजक और मार्मिक स्थलान्वेषी समालोचक की तैयारी से लिए नितान्त आवश्यक है। जो लोग शुक्ल जी के अन्तर में निहित रचनाकार और आलोचक तत्त्वों को पलड़ों में तौल कर यह कहना चाहते हैं कि वे सर्वथा सन्तुलित थे, वे बहुत बड़े भ्रम में हैं और यह भ्रम मस्तिष्क से जितनी ही जल्दी हटा दिया जाय उतना ही अच्छा। शुक्ल जी की रचनात्मक प्रवृत्ति ने उनकी आलोचनात्मक कृतियों को विकृत नहीं किया, वरन उन्हें मार्मिक तथा विस्तृत दृष्टि-कोण विभूषित बनाया; उनकी व्याख्या, उनके विश्लेषण, उनके आक्रमण सभी को एक अनूठी सार्थकता प्रदान की।

शुक्ल जी की रचना-प्रवृत्ति से उत्पन्न साहित्यिक उद्भावनाएँ उनकी व्यक्तिगत रुचि तक सीमित नहीं थीं, वरन साहित्य की तल-स्पर्शिनी योग्यता की उपज थीं—वह योग्यता जिसका निर्माण असंभव हो जाता यदि उसे उक्त रचना-प्रवृत्ति का सहयोग न प्राप्त होता। इस सम्बन्ध में उक्त संक्षिप्त कथन के अनंतर अब उस आरोप पर विचार करने की आवश्यकता है जो शुक्ल जी के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को सीमित और प्राचीन बतलाता है।

शुक्ल जी के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को सीमित और प्राचीन बतलानेवाले लोगों से मेरी समझ में यह प्रश्न करना अनुचित न होगा कि अन्ततो-

सीमित सांस्कृतिक दृष्टिकोण ?

गत्वा असीमित और नवीन दृष्टिकोण से उनका अभिप्राय क्या है ? शुक्ल जी आत्मवाद के प्रति दृढ़ विश्वासी थे और उसी पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में उन्होंने सर्वत्र अपना मत व्यक्त किया है। लोकतन्त्र राज्य के सफल संचालन की यदि कोई पक्की नींव हो सकती है तो वह आत्मवाद ही है। आत्मवाद ही लघु से लघु को महान् और महान् से महान् को लघु से लघु रूप में परिणत कर के भी दोनों ही की गोरव-भावना को सन्तुलित रख सकता है। क्या उक्त आलोचकों का यह मत है कि आज के संसार में आत्मवाद की शक्ति की घोषणा करना अपनी संकीर्णता का परिचय देना है ?

वस्तुवादी दृष्टिकोण सम्पूर्ण संसार को जड़ राशि के रूप में ग्रहण करता है और मनुष्य के जीवन को वहीं तक परख सकता है जहाँ तक इंद्रिय-सुख की आशा उसे ले चल सकती है। इंद्रियों के सुख के लिए ही जीवित रहने का आदर्श प्रचलित कर के वस्तुवादी दृष्टिकोण अपने समृद्धि-काल में भी मानव-समूह को उस आनन्द का पात्र नहीं बना सकता, जिसके तरंगित प्रवाह में आत्मवादी दृष्टिकोण संसार को प्रायः निमज्जित कर चुका है। जिनका अनुभव इंद्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे आत्मा के अनुसंधान में अपनी सफलता की खोज करता है, उन्हें संकुचित तथा सीमित बताना तथा वस्तुवादी दृष्टिकोण को विस्तृत, विकसित और नवीन कहना उन्हीं विद्वानों को शोभा दे सकता है जो अन्न, वस्त्र और निवास की व्यवस्था को ही प्रधानता देने वाली सभ्यता को मनुष्य की प्रधान संस्कृति मान बैठे हैं। जड़वाद का प्रचार समय-समय पर भारत में रहा है, किन्तु उस जड़वाद ने आत्मत्याग, तपस्या आदि का पथ कभी अवरुद्ध नहीं किया; इसके विपरीत योरप की हवा में पलनेवाला प्रस्तुत वस्तुवाद भोगवाद पर आधारित रहकर त्याग और संघर्ष की महत्ता को इसलिए घोषित करता है कि उससे ही भोग का पथ भी प्रशस्त हो सकता है। क्या इस एकांगी वस्तुवाद को न स्वीकार करने के कारण ही शुक्ल जी का सांस्कृतिक दृष्टिकोण सीमित और पुराना कहा जायगा ?

शुक्ल जी पर किये जाने वाले आक्षेपों पर यहाँ एक सरसरी दृष्टि इस उद्देश्य से डाली गयी है कि उससे पाठक को उनके सम्बन्ध में एक स्वस्थ धारणा स्थिर करने में सहायता मिले। आगे के अध्ययन के लिए इस निर्मल धारणा का विकास अत्यन्त आवश्यक है।

———

अध्याय १५

शुक्ल जी की समीक्षा का मूल सिद्धान्त—भावयोग

शुक्ल जी के विचारात्मक निबन्धों की चर्चा अभी तक स्थगित रही है, किन्तु अब, जब कि उनके समीक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों से हम परिचित होना चाहते हैं, उक्त निबन्धों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए यह उपयुक्त स्थल है। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' को लक्ष्य कर के शुक्ल जी ने काव्य को बहुत ऊँचे सिंहासन पर बिठाया है। काव्य-साधना के द्वारा भावयोग की संभावनाओं का निर्देश करके उसे उन्होंने ज्ञानयोग और कर्मयोग के समकक्ष प्रतिष्ठापित किया है। किंतु वर्त्तमान युग में ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जा रही है त्यों-त्यों प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के उन्माद में लीन होकर मनुष्य शेष सृष्टि के प्रति अपने रागात्मक सम्बन्ध को भुलाता जा रहा है, जिससे भावयोग के विकास द्वारा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की धारणा उसके लिए उत्तरोत्तर कठिन होती जा रही है। भौगोलिक परिस्थितियों के कारण पाश्चात्य देशों का जीवन-दर्शन भारत के जीवन-दर्शन से स्वभावतः भिन्न रहा है; जहाँ भारत अध्यात्मवाद और भौतिकवाद में पारस्परिक समन्वय का खोजी रहा है, वहाँ पाश्चात्य देश एकान्त भौतिकवाद के प्रेमी होकर अध्यात्मवाद को यत्र-तत्र प्रतिक्रिया के रूप ही में ग्रहण करते रहे हैं। जीवन-दर्शन-सम्बन्धी भिन्नता का यह प्रभाव वहाँ काव्य और साहित्य-निर्माण के विविध क्षेत्रों में भिन्नता उत्पन्न करने की दिशा में उपस्थित रहता आया है। अतएव यह आशा नहीं की जा सकती कि काव्य का आदर्श भावयोग के स्तर पर मानने की प्रवृत्ति पाश्चात्य देशों में विकसित होगी; यही नहीं; औद्योगिक क्रान्ति ने ऐसे वातावरण का सृजन कर दिया है कि अब तो क्रमशः सारा संसार ऐसी प्रवृत्तियों को अपनाता जायगा, जिनके कारण भावयोग को हृदयंगम करने के सम्बन्ध में कठिनाइयाँ बढ़ती चलेंगी।

भावयोग

पाश्चात्य कलाकार और भारतीय कलाकार की प्रवृत्तियों की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए महात्मा अरविन्द ने एक बार 'आर्य' में लिखा था :—

"अन्तर यह है कि पाश्चात्य कलाकार—व्यापक रूप से पाश्चात्य मनोवृत्ति ही—प्रथम और निर्णायक तथ्य के रूप में भौतिक पर ही आग्रह करने की रही है, जैसा कि वह अपने कठोर सत्य और व्यवहार के रूप में प्रस्तुत होता है। वह सत्य के उसी पार्श्व को ग्रहण करता है और उसी के प्रति सापेक्ष होकर शेष समस्त पर दृष्टिपात करता है। वह न केवल दृढ़तापूर्वक भूमि पर खड़ा होता है, वरन् अपने सिर को भी भौमिक वातावरण ही में धारण किये रहता है और वहीं से उच्चतर लोकों की ओर देखता है। पौर्वात्य का पाँव भूमि पर परन्तु उसका सिर मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में रहता है और उन्हीं के वातावरण से उसका भौमिक दृष्टिकोण भी प्रभावित होता है। वह भौतिक को केवल प्रगट रूप में, वास्तविक रूप में नहीं, प्रथम महत्त्व प्रदान करता है। भौतिकता उसके लिये केवल एक साँचे के रूप में तथा आध्यात्मिकता के एक अवसर के ढङ्ग पर ग्रहण करने योग्य होती है और मानसिक क्षेत्र केवल एक माध्यम का काम देता है, जिसके बीच से होकर वह भौतिक से आध्यात्मिक सत्य के निकट पहुँचता है। उसकी समस्त रचना-शैली को प्रभावित करनेवाली यह वस्तु है, जो उसे उसी अनुपात में सफल बनाती है जिस अनुपात में आध्यात्मिक और मानसिक सत्य को अपना भौतिक स्वरूप संवारने और प्रकाशमान बनाने के लिये वह नियोजित कर सकता है।"‡

पाश्चात्य और भारतीय कलाकार

उक्त अवतरण में जिस विभिन्नता की व्याख्या की गयी है वही उस मत-भेद के मूल में है जो एक ओर तो शुक्ल जी को रस-मत का अनुयायी बना कर भाव और अनुभूति का समर्थक बनाती है, और दूसरी ओर, योरप के अनेक साहित्य-महारथियों को अभिव्यंजनावाद, आदि की ओर ठेल कर कल्पना से अनुराग बढ़ाने के लिए विवश करती है। कल्पना की उपादेयता शुक्ल जी

‡. The difference is that the Western artist—the western mind generally—is led to insist on the physical as the first fact and the determinant, as it is indeed in vital truth and practice, and he has got hold of that side of the truth and in relation to it sees all the rest. He not only stands firmly on the earth, but he has his head in the terrestrial atmosphere and looks up from its higher planes. The eastern has his foot on earth, but his head is in the psychical and spiritual realms and it is their atmosphere that affects his vision of the earth. He regards the material as the first fact only in appearance and not in reality : matter is to him real only as a mould and opportunity of spritual being and the psychical region is an intermediary through which he can go back from the physical to the spiritual truth, This it is that conditions his whole artistic method and makes him succeed best in proportion as he brings the spiritual and psychical truth to illuminate and modify the material form.

भी स्वीकार करते हैं, किन्तु अनुभूति को अङ्गी मान कर वे उसे एक अङ्ग मात्र के रूप में ग्रहण करते हैं; इसके विपरीत अभिव्यंजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे (Benedetto Croce) महोदय कल्पना को प्रधानता देकर अनुभूति को उसके एक सहायक अंश के ढङ्ग पर स्वीकार करते हैं। काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक अपने निबन्ध में शुक्ल जी ने दृढ़तापूर्वक अपने मत की स्थापना तथा 'अभिव्यंजनावाद' के सिद्धान्तों का खंडन किया है।

अनुभूति और कल्पना

जीवन में समानांतर रेखाएँ हमें मिलती नहीं दिखायी पड़तीं, किन्तु अकल्पनीय ब्रह्म की कल्पना का प्रयास करके हमने परस्पर विरोधी तत्त्वों का मिलन देखने का भी प्रयत्न जारी रखा है। 'अनुभूति' और 'कल्पना' में पारस्परिक वैषम्य है किन्तु उतनी ही मात्रा में जितनी मात्रा में पूर्ण चन्द्र और क्षीण चन्द्र में है। पूर्णमासी का चन्द्रमा शुभ माना गया है, किन्तु प्रकाश के अभावके कारण तपःपूत द्विज का चन्द्रमा ज्योतिष शास्त्र में पाप ग्रह के रूप में ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार द्वेज का बालचन्द्र क्रमशः अपनी समस्त कलाएँ प्राप्त कर पूर्ण चन्द्र के रूप में परिणत होता है और पूर्णचन्द्र क्रमशः अपनी अनेक कलाएँ खोकर द्विज के चन्द्र के रूप में दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार काव्य में कल्पना क्रमिक प्रगाढ़ता का लाभकर अनुभूति का और अनुभूति क्रमिक क्षीणता को प्राप्त होकर कल्पना का रूप धारण करती है। मेरी समझ में शुक्ल जी का आग्रह यही है कि अमृत के धाम पूर्णचन्द्र से पूर्ण लाभ क्यों न उठाया जाय? क्षीण चन्द्र को पूर्ण चन्द्र से भी अधिक हितकर मानने की गलती क्यों की जाय? किन्तु ज्योतिष शास्त्र के अनुसार जैसे किसी किसी कोणिक परिस्थिति में व्यक्ति-विशेष के लिए क्षीणचन्द्र अधिक कल्याणकारक हो जाता है वैसे ही पृथ्वी पर निवास करनेवाले कुछ मनुष्यों को अनुभूति की अपेक्षा कल्पना ही में अधिक उत्फुल्लता प्राप्त हो सकती है। जीवन में जहाँ पशुवृत्ति की समाप्ति होती है वहीं से कल्पना अपना विकास प्राप्त करती है तथा पशुत्त्व और मनुष्यत्त्व के बीच में पार्थक्य को स्पष्ट करनेवाली एक रेखा खींचती है। स्वार्थमुक्त होकर कल्पना और अनुभूति का प्रवेश काव्य के क्षेत्र में होता है, और कहीं कल्पना की प्रधानता तथा कहीं अनुभूति की प्रधानता मानव-सहृदयता-विकास के भिन्न भिन्न स्तरों की सूचना देती हुई चलती है। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि अनुभूति की विशिष्टता के मार्ग पर चलकर सम्पन्न होनेवाले भाव-योग की स्थापना मनुष्य की सब से महान् विभूति है; साथ ही यह भी स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि देश-काल के सहयोग से अनुभूति

के स्वल्पांश और कल्पना की विशिष्ट मात्रा के आधार पर काव्य की अनेक ऐसी परिस्थितियाँ सम्भव हैं जिनमें रस-सम्प्रदाय को पोषण प्रदान करनेवाले 'साधारणीकरण'[१] नामक सिद्धान्त के प्रयोग की गुजाइश कम रहेगी तथा व्यक्तिवाद को केन्द्र में रख कर पनपनेवाले 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद[२]' के लिए अनुकूल जलवायु उपलब्ध होगी। निस्सन्देह 'साधारणीकरण' और 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' को आमने-सामने रख कर हम प्रतिद्वन्दिता की आग सुलगाये रख सकते हैं, किन्तु इससे भी अच्छी बात यह होगी कि न तो हम रस

१(क) साधारणीकरण का अर्थ है साधारण, सबजनसुलभ, मानव-मात्र के ग्रहण-योग्य बनाने की प्रक्रिया। 'भाव का साधारणीकरण' से अभिप्राय यह है कि भाव ऐसे स्तर पर पहुँचाया जाय जहाँ उसे हृदय में स्थान देने वाला आश्रय (भाव को अनुभव करने वाला व्यक्ति) अपने समस्त स्वार्थों को भुला कर निर्विशेषता को प्राप्त हो, हृदय की बद्ध दशा से मुक्त हो, तमोगुण और रजोगुण से परे पहुँचकर सतोगुण के क्षेत्र में पाँव रखे। यहाँ आश्रय के निजत्व का लोप हो जाता है और उसे ऐसी भाव-स्थिति प्राप्त हो जाती है और जो एकमात्र उसकी नहीं रह जाती वरन जिसे संसार के समस्त सहृदय अपनी ही भाव-स्थिति समझने लगते हैं।

(ख) "किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य, गाम्भीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले नहीं होते; मनुष्य मात्र की साधारण भाव-सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुननेवाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना साधारणीकरण कहलाता है।"

(ग) "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि किसी काव्य में वर्णित आलम्बन केवल भाव की व्यंजना करनेवाले पात्र (आश्रय) का ही आलम्बन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी आलम्बन हो जाता है।" [चि० पृ० २४७

२. क) जब भाव आश्रय (अनुभव करने वाला व्यक्ति) के तादात्म्य के अभाव में उस निर्विशेषता को नहीं प्राप्त होता जहां उसे सर्वसाधारण को हृदयंगम होने की योग्यता से सम्पन्नता उपलब्ध हो सकती है, और कवि या नाटककार एक ओर श्रद्धा, हर्ष तथा दूसरी ओर परम घृणा, विषाद आदि उत्पन्न करने वाले आलम्बनों के स्थान में ऐसे आलम्बन प्रस्तुत करे जिनमें मानव की प्रकृति-विचित्रता से पूर्ण नवीन रूप में दिखाई पड़े तब नूतन सृष्टि निर्माणमयी कल्पना की विशेषता को घोषित करनेवाली रचना-विशेष का आधारभूत सिद्धान्त 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद' कहा जाता है।

(ख) "यह व्यक्तिवाद यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय तो कविवा लिखना व्यर्थ ही समझिए जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा? ऐसी अवस्था में तो यही संभव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड़ दी जाय।"

—[चि, पृ० २३८

सम्प्रदाय का सर्वाङ्गपूर्णता का दावा करें और न व्यक्तिवैचित्र्यवाद को साहित्य में सर्वोच्च स्थान देने का हठ करें। शुक्ल जी ने आधुनिक मनोविज्ञान की सहायता से रस-मत की त्रुटियों के निराकरण की बात कही है; स्पष्ट है कि वे उसे सर्वथा पूर्ण अथवा निर्दोष नहीं मानते। हाँ, कल्पना को अतिशय महत्त्व देने तथा व्यक्ति-वैचित्र्य के निरूपण को ही साहित्य का सब से महान् प्रयोजन माननेवालों को संयत होकर यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि अनुभूति की तुलना में कल्पना का स्थान जीवन और काव्य दोनों ही में गौण और सहायक रहेगा।

जैसे जीवन में, वैसे ही काव्य में कल्पना का काम अनुभूति के मार्ग को प्रकाशित करना है, भाव के आलम्बन-निर्धारण के लिए संसार के विभिन्न रूपों और व्यापारों की झलक दिखाने से लेकर उन्हें अनुभाव-द्वारा सम्पूर्णता में स्पष्ट करने तक का कार्य निबाहना उसका कर्त्तव्य है। यदि साहित्यशास्त्र से शब्द लें तो इसे यों कह सकते हैं कि कल्पना का काम दूती का है, नायिका के रूप-सौन्दर्य की ओर नायक को आकृष्ट करना तथा उसे नायिका के पास प्रस्तुत कर देना ही उसकी सीमा है, मर्यादा है। दूती इस सीमा का अतिक्रमण कर के नायिका का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती; इसी प्रकार कल्पना अपने आविष्कृत रूपों और व्यापारों के साथ अपनी अपरिमित चंचलता के कारण रमण नहीं कर सकती; रमण करने का अधिकार केवल अनुभूति को है, जो उपलब्ध की तृप्ति के अनन्तर पुनः अनुपलब्ध की खोज के लिए कल्पना को सजग और सक्रिय होने का अवसर देती है।

जीवन और काव्य दोनों ही में कल्पना मानव-व्यक्तित्व के केवल ऊपरी स्तर के रूप में रह कर अनुभूति को उपभोग्य बनाने की सेवा सम्पन्न करने के लिए है; यह कार्य उसके द्वारा ठीक उसी प्रकार सम्पादित होता है जिस प्रकार बादाम के छिलके द्वारा उसके भीतर के गूदे का संरक्षण किया जाता है। किन्तु यदि किसी ने यहा निश्चय कर लिया है कि वह, अपने दाँतों को व्यायाम का अवसर देने के लिए, उन्हें बादाम के छिलकों के साथ संग्राम करने पर ही विवश करेगा, गूदे को फेंक देगा, तो यह भी आवश्यक नहीं है कि मल्लयुद्ध-द्वारा उसे परास्त करने के लिए हम अखाड़े में कूद पड़ें।

कल्पना का पहला प्रकृत कार्य है सृष्टि के विस्तृत क्षेत्र से भिन्न भिन्न भावों के विकास के लिए आलम्बन प्रस्तुत करना। किसी प्रत्यक्ष उपस्थित

व्यक्ति को देखकर अथवा स्मरण, प्रत्यभिज्ञान* द्वारा किसी अनुपस्थित व्यक्ति, अथवा किसी अज्ञात, अदृष्ट, अचिंतित व्यक्ति का साधारण, रंजित अथवा अतिरंजित चित्र खड़ा करके वह आश्रय के हृदय में हर्ष, विषाद, भय, क्रोध, विस्मय, उत्साह, घृणा आदि के भाव उत्पन्न करती रहती है, यह तो सामान्यतः हम सभी के अनुभव की बात है। व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा कामना से जिनके हृदय आबद्ध हैं उनका चंचल मन इन भावों का अखाड़ा बना रहता है। पशुवृत्ति के स्तर पर स्थिरीभूत इन भावनाओं में कोई सौन्दर्य नहीं रहता और इस कारण ये उच्च काव्य के सर्वथा अयोग्य ठहरती हैं। किन्तु जब उद्दीपनों के सहयोग से उक्त आलम्बनों का सम्पर्क आश्रय के ऐसे हृदय से होता है जो अपनी संकीर्ण वासनाओं से मुक्त, अनासक्त होकर सहृदय मनुष्य-मात्र के हृदय से एकाकार का अनुभव करता है तब आश्रय के व्यक्तित्व में एक विचित्र सौन्दर्य का संचार हो जाता है, उसका भाव केवल उसी का भाव नहीं रह जाता, उसकी अनुभूति अन्य लोगों को भी समान रूप से होने लगती है, सर्वजन-संवेदनीयता का सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है। उच्चकोटि के काव्य को यही प्रकृत भूमि मिलती है।

इस सम्बन्ध में नीचे की दो कविताओं पर विचार करना उचित होगा :—

(१) "सामने की मुलायम-मुलायम दूब पर
यह मोटा बदसूरत आदमी
जरूर किसी धनिक वर्ग का प्रतिनिधि होगा
जिसने इन घास के तिनकों को
इतनी बेरहमी से दबा रखा है
शायद यह माली की बेटी की
प्रतीक्षा में यहाँ बैठा है।
आह रे मेहनतकश माली!
तुझे यह चुन लेना है
कि तेरी बेटी
लीडर बनेगी—

* जब स्मरण करने पर आँखों से देखी हुई वस्तु या पात्र तो हमारी मानसिक दृष्टि के सामने आता ही है, साथ ही उसके सम्बन्ध से अन्य बहुत सी सामग्री भी लगी-लिपटी हुई आ उपस्थित होती है, तब प्रत्यक्ष पर अवलम्बित इस स्मृति को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उदाहरण के लिए हमें किसी मित्र की याद आयी, क्रमशः उसके व्यक्तित्व से पृथक् अन्य बहुत सी बातें भी स्मरण हो उठीं, जैसे उसके साथ विद्यालय में उठना-बैठना, घूमना-फिरना, गोष्ठी में खाना-पीना, बातचीत करना आदि। इन सभी दृश्यों के स्मरण को प्रत्यभिज्ञान कहेंगे।

जननायिका होगी मेरे साथ !
या कि वह होगी किसी अँधेरी कोठी की मालकिन !!"
(२) "जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं ।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब शीस धुन्यो करैं ।
नैनना में जो सदा बसते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ।"

इन दोनों कविताओं में से पहली कविता में आलम्बन है माली की बेटी, उद्दीपन है धनिक वर्ग के प्रतिनिधि की अँधेरी कोठरी में उसके जाने की आशंका और माली का मेहनतकश होना, नायक और आश्रय है 'लीडर' अथवा जननायक। नायक, नायिका को किसी प्रकार ग्रहण करना चाहता है और उसके सामने लोकनायक की पत्नी होने का प्रलोभन शायद रखेगा। भले ही वह माली की बेटी के हित के लिए व्यग्र है, किन्तु वह स्वयं भी स्वार्थ से मुक्त नहीं है। स्वार्थ के कारण माली की बेटी के प्रति उसकी करुणा का मूल्य घट गया है, जिससे इस कविता में विभावन-व्यापार अथवा साधारणीकरण अपने यथार्थ रूप में संघटित नहीं हो सका है। साधारणीकरण तभी संभव था जब करुणा से विचलित होकर जननायक सर्वथा निर्लिप्त भाव से माली की बेटी का उद्धार कर देता तथा उसका विवाह किसी अन्य जननायक के साथ सम्पन्न करा देता। इसके विपरीत द्वितीय कविता में साधारणीकरण का प्रकृत स्वरूप दिखायी पड़ता है। श्रीकृष्ण अथवा परदेश को चला जानेवाला प्रिय यहाँ आलम्बन है; जिन कुंजों में नायिका ने प्रिय के साथ विहार किया है वे उद्दीपन की सामग्री हैं; 'काँकरी चुन्यों करैं', 'चरित्र गुन्यो करैं', 'शीस धुन्यो करैं' आदि अनुभाव हैं जिन्हें प्रिय के स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञान से प्रेरणा मिलती है, स्मृति के संचरण से स्थायी भाव रति की पुष्टि होती है और लोकोत्तर आस्वाद-पूर्ण शृङ्गार रस का उद्रेक हो जाता है। यहाँ नायिका ने जो कुछ कहा है निस्संग होकर कहा है, उसने किसी ऐसे अधिकार की कामना व्यक्त नहीं की है, कोई ऐसा स्वार्थ नहीं प्रगट किया है, जिसके कारण उसके भाव को अपना भाव समझनेवाले लोगों के सामने कोई अड़चन खड़ी हो। प्रथम कविता का आलोनापन तथा द्वितीय का सलोनापन काव्य-प्रेमियों द्वारा सहज ही हृदयंगम किया जा सकता है।

कल्पना और भाव के सम्बन्ध में यहाँ जो कुछ कहा गया है। उस पर विचार किया जायगा तो देखा जायगा कि क्षुद्र स्वार्थों और अल्पप्राण

वासनाओं से अपने आप को मुक्त करके हृदय को काव्यभूमि में पहुँचाना प्रायः कठिन हो जाता है; आसान यही होता है कि साधना-सम्भाव्य अनुभूति से पिंड छुड़ा कर मन की सहजागत प्रवृत्तियों को स्वीकार कर लिया जाय, भले ही भोगगत संस्कारों के कारण उनमें स्थूलता दिखायी पड़े, भले ही उच्च कोटि के सहृदय जन के लिए उनमें आकर्षण न रह जाय। शुक्ल जी की पुरानी संस्कृति और संकीर्ण विचारधारा के सम्बन्ध में जिन लोगों को शिकायत है वे दुहरा आक्रमण करना चाहते हैं और खुल कर मैदान में आने के लिए तैयार भी नहीं है। वे एक ओर तो प्रमाणित करना चाहते हैं कि आधुनिकता और विस्तीर्ण-हृदयता उनके साथ है, दूसरी ओर शायद यह सिद्ध करने की भी आवश्यकता नहीं समझते कि जो कुछ आधुनिक है उसमें कोई त्रुटि नहीं है। वास्तव में वे मूल पर कुठराघात न कर के वृक्ष के शाखा-पत्तों से लड़ाई करते हैं। यदि वे उचित विचार के पक्ष में हैं तो उन्हें चाहिए कि काव्य के उद्देश्य के रूप में 'भावयोग' की अनुपयुक्तता को वे पहले स्थापित करें। यदि यह बात स्वीकृत हो जाय कि वर्त्तमान युगके लिए 'भावयोग'अत्यन्त हानिकारक आदर्श है और मनुष्य से बचने की समाज को उसकी आवश्यकता है तो उस लक्ष्य की ओर ले चलनेवाले 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की भी जरूरत नहीं रह जायगी। 'साधारणीकरण' से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर वह रागात्मिका वृत्ति भी अनावश्यक हो जायगी जो मानव और मानवेतर जगत के बीच निरन्तर अनुराग की भावना प्रेरित करती रहती है। * रागात्मिका वृत्ति को संकुचित रूप में ग्रहण कर लेने पर कुछ के प्रति आसक्ति की सीमा तक पहुँची हुई प्रेम की अधिकता और कुछ के प्रति उसी मात्रा को प्राप्त द्वेष और घृणा का अनुचित प्रसार—दोनों ही के लिए स्वतः मार्ग परिष्कृत हो जायगा। काव्य के व्यापक उद्देश्य का तिरस्कार कर के और खण्ड-उद्देश्यों को मान्यता देकर, भावयोग को भुलाकर, एवं मनोरञ्जन आदि साधारण लक्ष्यों को अपनाकर हम अपने जीवन को सरल बनाने के स्थान में और भी अधिक जटिलता से पीड़ित कर डालेंगे।

समस्त परिस्थितियों में साधारणीकरण के विशुद्ध स्वरूप पर ही शुक्ल जी का अग्रह नहीं है। उन्होंने लिखा है :—

"रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य ग्रन्थों में

---

* जिस वृत्ति के 'आश्रय से मनुष्य मनुष्येतर शेष जगत् के प्रति सौहार्द और स्नेह का अनुभव करता है उसे रागात्मिका वृत्ति कहते हैं।

विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करनेवाला, कोई क्रिया या व्यापार करनेवाला पात्र भी

समन्वय की सम्भावना

शील की दृष्टि से श्रोता या दर्शक के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, प्रेम, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता।"

इसी प्रकार शुक्ल जी से थोड़ी सी रियायत हम और ले सकते हैं और क्रमशः पूर्वोद्धृत कविता के नायक 'लीडर' अथवा जननायक के पास पहुँच सकते हैं, जिसे धनिक वर्ग के प्रतिनिधि की तुलना में शोषितों और शोषितों का पक्ष लेनेवालों की सहानुभूति असंदिग्ध रूप से बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त है। जननायक के प्रति पाठक का एक हलकी श्रेणी का तादात्म्य एवं साधारणीकरण—भले ही उसकी परिधि अत्यन्त संकुचित हो—इस कविता में भी सम्पन्न हो जाता है। इस क्रम को हम वहाँ तक ले चल सकते हैं जहाँ कविता के नायक के प्रति पाठक के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न होती रह सकती है। किंतु कविता में कवि द्वारा प्रस्तुत नायक कवि की अनुकूलता प्राप्त कर के भी जब सहृदय पाठक की अरुचि और घृणा ही का पात्र होगा तब वह कविता रुपये में पाई भर भी कविता न रह कर पशुभाव को गौरव प्रदान करनेवाली शब्दों की एक लड़ी मात्र रह जायगी। इस प्रकार की कविताएँ हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं और प्रचार पा रही हैं, यह खेद की बात है। विस्तार-भय से मैं उदाहरण देने से विरत होता हूँ।

व्यक्तिवैचित्र्यवाद यदि सुसंस्कृति-सम्पन्न पाठक की सहानुभूति का अतिक्रमण करता हुआ न चले तो 'भावयोग' की ओर उन्मुख होनेवाले साधारणीकरण से लेकर व्यक्तिवैचित्र्यवाद की अन्तिम मर्यादा तक रसानुभूति की अगणित स्थितियाँ सम्भव हैं, जिनमें भारतीय और पाश्चात्य काव्यलक्ष्यों का एक सामंजस्य दिखायी पड़ सकता है। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि सभी मतों के लोग 'भावयोग' को काव्य के सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य के रूप में स्वीकार करें; कल्पना को अनुभूति की सेविका के रूप में ग्रहण करें, रागात्मिका वृत्ति के विकास को सर्वोत्तम संस्कृति मानें और पूर्ण साधारणी-

करण को काव्य का अत्यन्त शक्तिशाली साधन स्वीकार कर प्रस्तुत रचनाओं में उसका अधिक से अधिक उपयोग किये जाने की माँग करें।

शुक्ल जी की काव्य-समीक्षा के मूल सिद्धान्त 'भावयोग' को अग्रसर करने वाले सहायक सिद्धान्त हैं—इनकी चर्चा क्रमशः आगे की जायगी। इनके प्रसंग से कल्पना और अनुभूति का उल्लेख अभी आगे भी होगा।

———

अध्याय १६

शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—१

परोक्ष सत्ता का सगुण स्वरूप (क)

शुक्ल जी की समीक्षा के मूल सिद्धान्त 'भावयोग' से हम परिचय प्राप्त कर चुके, अब आगे हम इस मूल सिद्धान्त से पल्लवित होने वाले कतिपय सहायक सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे; ये निम्नलिखित हैं :—

१—परोक्ष सत्ता का सगुण स्वरूप
२—रागात्मिका वृत्ति
३—प्रकृति-सम्बन्धी आग्रह
४—लोकधर्म
५—रस-मत

यहाँ परोक्ष सत्ता के सगुण स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ कथन किया जायगा।

सन्तुलित दृष्टि

आगे बढ़ने के पहले हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि अब हम उस स्थल पर पहुँच रहे हैं जहाँ शुक्ल जी के कार्य का यथार्थ मूल्यांकन करने में सहायक सच्चे साधन हमें प्राप्त होंगे। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने समालोचक की सन्तुलित दृष्टि* का जो लक्षण बताया है, वह शुक्ल जी में थी या नहीं, इस सम्बन्ध में उचित निर्णय करने की यदि हमारी इच्छा है तो पहले हमें इन साधनों के औचित्य अथवा अनौचित्य की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सत्य का कोई स्वरूप अथवा आदर्श अन्तिम नहीं हो सकता; देश-काल के भेद से सर्वत्र परिवर्त्तन का प्रवेश

*"सन्तुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओं के बीच एक मध्यमार्ग खोजती फिरती है, बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेग-तरल विचार-धारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़-सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टिका प्रभाव बढ़ा है। सन्तुलित दृष्टि सत्यान्वेषी दृष्टि है जो एक ओर यदि सत्य की समग्र मूर्त्ति को देखने का प्रयास करती है तो वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करते रहने को प्रस्तुत रहती है, वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है।"

—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

संभव है; साथ ही यह भी सही है कि अनासक्त बुद्धि से स्थापित किये गये मूल्यों को ही सर्वमान्यता अथवा बहुमान्यता प्राप्त हो सकती है।

देश, काल की भिन्नता से अथवा अन्य किसी कारण से जब कोई मान्य सिद्धान्त भी लोकप्रिय अथवा लोकोपयोगी नहीं रह जाता तब भी यदि हम उसके प्रयोग पर ही अड़े रहें, तो यह हमारा आग्रह कहा जायगा। लोक के लिए हानिकारक होने के कारण इसे दुराग्रह की संज्ञा भी दी जा सकेगी। इसी प्रकार पहले से ही किसी निश्चित निष्कर्ष और विचार-धारा के पक्ष में होकर यदि हम किसी प्रश्न पर विचार करते हैं तो यह हमारा पूर्वग्रह माना जायगा। 'भावयोग' से पल्लवित जिन सिद्धान्तों की नामावली यहाँ प्रस्तुत की गयी है उन सभी को ध्यान में रख कर हमें यह देखने की आवश्यकता है कि उनके सम्बन्ध में शुक्ल जी दुराग्रह अथवा पूर्वग्रह से तो पीड़ित नहीं हैं। इस निबन्ध में हमें परोक्ष सत्ता के सगुण स्वरूप के विचार तक ही अपने को सीमित रखना है, अतएव, उक्त सगुण स्वरूप के विषय में शुक्ल जी को कोई आग्रह है अथवा नहीं, यदि है तो क्या वह दुराग्रह की सीमा को छू रहा है? वह अन्याय से गंठबन्धन करके आक्रमण की तैयारी कर रहा है? अथवा उसके प्रयोग के लिए कोई उचित कारण भी है, इन सभी बातों को हमें देखना होगा।

सगुण पक्ष की 'वकालत'?

आरम्भ ही में हम देखते हैं कि 'निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में' शुक्ल जी द्वारा 'सगुण पक्ष की वकालत' की चर्चा की गयी है तथा उसी के आधार पर 'हिन्दू समाज में उनका 'सिक्का' जमने की बात भी कही गयी है। इसकी यथार्थता पर हमें विचार करना चाहिए। क्या सचमुच शुक्ल जी निर्गुण पक्ष के विरोधी थे?

जैसे शुक्ल जी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने 'सगुण पक्ष की वकालत की', वैसे ही सूरदास के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने सगुण पक्ष का समर्थन किया तथा गोपियों ने ऊधो की बातों का विरोध करते हुए सगुण पक्ष के पोषण में जो कुछ कहा वह सब सूरदास के निजी मत का व्यक्तीकरण मात्र था। यदि यह मत मान लिया जाय तो कबीरदास और सूरदास, दोनों आमने-सामने विरोधियों के रूप में खड़े दिखायी पड़ने लगेंगे। किन्तु सूरदास के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति टिक नहीं सकती; श्रीनंददुलारे बाजपेयी ने निम्नलिखित पंक्तियों में उचित रीति से इसका निवारण कर दिया है :—

" इस (ऊधो और गोपियों के) वार्तालाप के सम्बन्ध में बहुत से लोगों ने अपनी-अपनी धारणाएँ प्रकट की हैं, जिनमें सब से अधिक भ्रमपूर्ण यह है कि इसके द्वारा महात्मा सूर ने सगुण ब्रह्म का निरूपण और निर्गुण का खंडन किया है।"

❀ ❀ ❀ ❀

"कृष्ण तो एकाधार में सगुण और निर्गुण दोनों हैं, कोई उनका निर्वचन करे, फिर भी वे अनिर्वचनीय हैं। सूर के श्याम को जो इस रूप में नहीं पहचानते वे ही कह सकते हैं कि सूर ने निर्गुण उपासना के विरोध में सगुणोपासना का सम्प्रदाय चलाया था।"

❀ ❀ ❀ ❀

"उद्धव-गोपी-संवाद में, न्याय के अनुसार, पूर्व पक्ष उद्धव का है और उत्तर पक्ष गोपियों का। पहले उद्धव ने ही कृष्ण को छोड़कर निर्गुण को ग्रहण करने की बात चलायी है। वैसी अवस्था में गोपियां जो उत्तर देती हैं उसे उद्धव के निर्गुण पक्ष के समकक्ष सगुण पक्ष का प्रत्याख्यान मात्र समझना चाहिए। उसका यह आशय कहीं नहीं कि गोपियां निर्गुण ब्रह्म को नीचा दिखा रही हैं अथवा उसकी अवस्था ही नहीं मानतीं।"

जो बात सूरदास के सम्बन्ध में कही जाती है उससे तुलसीदास भी मुक्त नहीं हैं; उनके द्वारा भी निर्गुण का खण्डन और सगुण के मण्डन किये जाने का भ्रान्तिपूर्ण प्रचार किया जाता है। किन्तु सच बात तो यह है कि सूरदास और तुलसीदास * दोनों ने निर्गुण रूप को उतनी ही मात्रा में माना है जितनी मात्रा में सगुण को माना है। हाँ, उपासना के लिए उन्होंने सगुण ही को स्वीकार किया है।

हिन्दी काव्य के अन्तर्गत सगुण पक्ष के इन स्तम्भों को निर्गुण पक्ष के विरोध से मुक्त कर देने के बाद ऐसी कौन सी बात शेष रह जाती है, जो शुक्ल जी को फिर भी 'सगुण पक्ष की वकालत' का 'गाउन' पहनाये रखती है, यह विचारणीय है। हमारे सामने सहज ही यह प्रश्न खड़ा होता है कि निर्गुण और सगुण के समन्वित रूप के प्रति सूरदास और तुलसीदास में जो आस्था दिखायी पड़ती है, क्या उसका अतिक्रमण कर के शुक्ल जी ने एकान्त सगुण के पैरोकार के रूप में स्वयं को प्रस्तुत किया है? निर्गुणवादियों ने जिस तरह सगुणवाद का खण्डन किया है और निर्गुणवाद को सगुणवाद से सर्वथा असम्बद्ध मानकर उसके स्वतंत्र रूप की कल्पना की है, क्या उसी शैली पर

* एक दासगत देखिय एकू।
पावक युग सम ब्रह्म-विवेकू।
—तुलसीदास

संभव है; साथ ही यह भी सही है कि अनासक्त बुद्धि से स्थापित किये गये मूल्यों को ही सर्वमान्यता अथवा बहुमान्यता प्राप्त हो सकती है।

देश, काल की भिन्नता से अथवा अन्य किसी कारण से जब कोई मान्य सिद्धान्त भी लोकप्रिय अथवा लोकोपयोगी नहीं रह जाता तब भी यदि हम उसके प्रयोग पर ही अड़े रहें, तो यह हमारा आग्रह कहा जायगा। लोक के लिए हानिकारक होने के कारण इसे दुराग्रह की संज्ञा भी दी जा सकेगी। इसी प्रकार पहले से ही किसी निश्चित निष्कर्ष और विचार-धारा के पक्ष में होकर यदि हम किसी प्रश्न पर विचार करते हैं तो यह हमारा पूर्वग्रह माना जायगा। 'भावयोग' से पल्लवित जिन सिद्धान्तों की नामावली यहाँ प्रस्तुत की गयी है उन सभी को ध्यान में रख कर हमें यह देखने की आवश्यकता है कि उनके सम्बन्ध में शुक्ल जी दुराग्रह अथवा पूर्वग्रह से तो पीड़ित नहीं हैं। इस निबन्ध में हमें परोक्ष सत्ता के सगुण स्वरूप के विचार तक ही अपने को सीमित रखना है, अतएव, उक्त सगुण स्वरूप के विषय में शुक्ल जी को कोई आग्रह है अथवा नहीं, यदि है तो क्या वह दुराग्रह की सीमा को छू रहा है? वह अन्याय से गंठबन्धन करके आक्रमण की तैयारी कर रहा है? अथवा उसके प्रयोग के लिए कोई उचित कारण भी है, इन सभी बातों को हमें देखना होगा।

सगुण पक्ष की 'वकालत'?

आरम्भ ही में हम देखते हैं कि 'निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में' शुक्ल जी द्वारा 'सगुण पक्ष की वकालत' की चर्चा की गयी है तथा उसी के आधार पर 'हिन्दू समाज में उनका 'सिक्का' जमने की बात भी कही गयी है। इसकी यथार्थता पर हमें विचार करना चाहिए। क्या सचमुच शुक्ल जी निर्गुण पक्ष के विरोधी थे?

जैसे शुक्ल जी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने 'सगुण पक्ष की वकालत की', वैसे ही सूरदास के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने सगुण पक्ष का समर्थन किया तथा गोपियों ने ऊधो की बातों का विरोध करते हुए सगुण पक्ष के पोषण में जो कुछ कहा वह सब सूरदास के निजी मत का व्यक्तीकरण मात्र था। यदि यह मत मान लिया जाय तो कबीरदास और सूरदास, दोनों आमने-सामने विरोधियों के रूप में खड़े दिखायी पड़ने लगेंगे। किन्तु सूरदास के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति टिक नहीं सकती; श्रीनंददुलारे बाजपेयी ने निम्नलिखित पंक्तियों में उचित रीति से इसका निवारण कर दिया है :—

"इस (ऊधो और गोपियों के) वार्तालाप के सम्बन्ध में बहुत से लोगों ने अपनी-अपनी धारणाएँ प्रकट की हैं, जिनमें सब से अधिक भ्रमपूर्ण यह है कि इसके द्वारा महात्मा सूर ने सगुण ब्रह्म का निरूपण और निर्गुण का खंडन किया है।"

❀ ❀ ❀ ❀

"कृष्ण तो एकाधार में सगुण और निर्गुण दोनों हैं, कोई उनका निर्वचन करे, फिर भी वे अनिर्वचनीय हैं। सूर के श्याम को जो इस रूप में नहीं पहचानते वे ही कह सकते हैं कि सूर ने निर्गुण उपासना के विरोध में सगुणोपासना का सम्प्रदाय चलाया था।"

❀ ❀ ❀ ❀

"उद्धव-गोपी-संवाद में, न्याय के अनुसार, पूर्व पक्ष उद्धव का है और उत्तर पक्ष गोपियों का। पहले उद्धव ने ही कृष्ण को छोड़कर निर्गुण को ग्रहण करने की बात चलायी है। वैसी अवस्था मे गोपियां जो उत्तर देती हैं उसे उद्धव के निर्गुण पक्ष के समकक्ष सगुण पक्ष का प्रत्याख्यान मात्र समझना चाहिए। उसका यह आशय कहीं नहीं कि गोपियां निर्गुण ब्रह्म को नीचा दिखा रही हैं अथवा उसकी अवस्था ही नहीं मानतीं।"

जो बात सूरदास के सम्बन्ध में कही जाती है उससे तुलसीदास भी मुक्त नहीं हैं; उनके द्वारा भी निर्गुण का खण्डन और सगुण के मण्डन किये जाने का भ्रान्तिपूर्ण प्रचार किया जाता है। किन्तु सच बात तो यह है कि सूरदास और तुलसीदास * दोनों ने निर्गुण रूप को उतनी ही मात्रा में माना है जितनी मात्रा में सगुण को माना है। हाँ, उपासना के लिए उन्होंने सगुण ही को स्वीकार किया है।

हिन्दी काव्य के अन्तर्गत सगुण पक्ष के इन स्तम्भों को निर्गुण पक्ष के विरोध से मुक्त कर देने के बाद ऐसी कौन सी बात शेष रह जाती है, जो शुक्ल जी को फिर भी 'सगुण पक्ष की वकालत' का 'गाउन' पहनाये रखती है, यह विचारणीय है। हमारे सामने सहज ही यह प्रश्न खड़ा होता है कि निर्गुण और सगुण के समन्वित रूप के प्रति सूरदास और तुलसीदास में जो आस्था दिखायी पड़ती है, क्या उसका अतिक्रमण कर के शुक्ल जी ने एकान्त सगुण के पैरोकार के रूप में स्वयं को प्रस्तुत किया है? निर्गुणवादियों ने जिस तरह सगुणवाद का खण्डन किया है और निर्गुणवाद को सगुणवाद से सर्वथा असम्बद्ध मानकर उसके स्वतंत्र रूप की कल्पना की है, क्या उसी शैली पर

* एक दासगत देखिय एकू।
पावक युग सम ब्रह्म-विवेकू।
—तुलसीदास

शुक्ल जी ने सगुणवाद को निर्गुणवाद से पूर्णतया पृथक् करके उसके आत्म-निर्भर रूप की प्रतिष्ठापना की है? विचार करने पर देखा जायगा कि बात ऐसी नहीं है। सूरदास ने 'सगुण लीलापद' गाने का कारण[1] यह बताया है कि निर्गुण का वर्णन करते ही नहीं बनता। और कैसे बने? यदि वर्णन करते ही बने तो वर्णनीय निर्गुण ही न रह जायगा, सगुण हो जायगा। वर्णन करने के लिए सामने एक स्पष्ट मूर्ति अथवा चित्र होना चाहिए।

सूरदास ही की तरह शुक्ल जी ने भी व्यवहारिकता की दृष्टि से ही सगुण की ओर प्रवृत्ति दिखायी है, वैसे वे निर्गुण सिद्धान्त की उपादेयता को अस्वीकार नहीं करते। क्योंकि, सगुण को आधार तो निर्गुण ही से मिलेगा। शुक्ल जी की विशेषता यह है कि एक व्यवहारिक आलोचक की तरह, वे यह नहीं चाहते थे कि वर्त्तमान वैज्ञानिक, बुद्धि-प्रधान युग में निर्गुणवाद के नाम पर निरंकुशता और अव्यवस्था का प्रचार हो। उनके सम्बन्ध में श्री गुलाबराय ने ठीक ही कहा है कि 'वे कोरे हवाई किले नहीं बनाना चाहते'। सगुण ब्रह्म का आधार निर्गुण ब्रह्म ही है, शुक्ल जी की इस स्वीकृति को निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए :—

"ब्रह्म अपनी व्यक्त सत्ता के भीतर अपने सत् और आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए असत् और क्लेश का अवस्थान करता है—अपने मंगल रूप के प्रकाश के लिए अमंगल की छाया डालता है।"

\+ + + +

"जब कि व्यक्त चित् (जीव) और व्यक्त अचित् (विकृति) दोनों एक ब्रह्म से उत्पन्न हैं तब ब्रह्म में भी ये दोनों पक्ष अव्यक्त या सूक्ष्म रूप में होंगे।"

शुक्ल जी ने यत्र-तत्र अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए श्रीमद्-भागवत् गीता के श्लोकों को उद्धृत किया है, अतएव उस पर उनकी आस्था सिद्ध है। निर्गुण और सगुण के सम्बन्ध में उसके चौदहवें अध्याय में बहुत अच्छा विवेचन किया गया है। उससे शुक्ल जी का मत विपरीत हो, ऐसा समझने के लिए कोई उचित कारण नहीं है; मेरा विचार तो यह है कि उनकी विचार-धारा के निर्माण में उक्त विवेचन के अध्ययन ने उचित सहयोग किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि 'अनादि और

---

[1] 'अविगत गति कछु कहत न आवै'—सूर

निर्गुण होने के कारण परमात्मा अविनाशी है; हे कौन्तेय ! शरीर में स्थित होता हुआ भी वह न करता है और न लिप्त होता है।[1]

उक्त कथन से ही निर्गुण और सगुण का समन्वय स्पष्ट है।

परोक्ष सत्ता का निर्गुण रूप ही स्वीकार किया गया है; भगवान् का कथन है कि जो सच्चिदानन्द घन स्वरूप मुझ परमात्मा को गुणों से परे मानता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।[2]

इस निर्गुण के हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख, कान सभी ओर हैं, क्योंकि यह सम्पूर्ण विश्व में सभी को अपने में व्याप्त कर के स्थित है।[3]

निर्गुण और सगुण के समन्वय को भगवान कृष्ण ने और भी स्पष्ट किया है। उसका भाव यह है कि समस्त इन्द्रियों के विषयों से रहित होकर भी वह परमात्म, तत्व-सब को जानता है, आसक्ति-रहित होकर भी वह सब को धारण और पोषण करने-वाला है और निर्गुण होकर भी गुणों को भोगता है।

गीता के ये वचन स्पष्ट रूप से निर्गुण और सगुण की अभिन्नता की घोषणा कर रहे हैं। शुक्ल जी की विचार-धारा का असंदिग्ध संकेत भी हमें इनसे मिल जाता है; किन्तु वास्तव में इस सम्बन्ध में हमें अनिश्चित और निराधार रहने की कोई आवश्यकता नहीं है; हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ हमें किसी प्रकार की शंका की स्थिति में नहीं रहने देतीं :—

"सगुणोपासक भक्त भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है पर भक्ति के लिए सगुण रूप ही स्वीकार करता है; निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिए छोड़ देता है। सगुणमार्गी भक्त भगवान के व्यक्त रूप के साथ साथ उनके अव्यक्त

---

[1] अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते
—गी०, अध्याय १३, श्लो० ३५

[2] गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति
—गी०, अ० १४, श्लो० १९

[3] सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।
—गी, अ० १३, श्लो० १३

[4] सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच।
—गीता, अ० १३, श्लो० १४

और निर्विशेष रूप का भी निर्देश करते आये हैं जो बोधगम्य नहीं। वे अव्यक्त की ओर सकेत भर करते हैं, उसके विवरण में प्रवृत्त नहीं होते।"

— इतिहास, पृ० ६६

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने 'वकालत' की तो निर्गुण और सगुण के समन्वित रूप ही की। इसमें संदेह नहीं कि सगुण उपासना निर्गुण तत्त्व को ग्रहण करने की क्षमता-प्राप्ति के लिए साधन रूप में ही भारतीय भक्तों द्वारा गृहीत हुई है। प्रायः साधना-काल में साधन ही का महत्व अधिक लक्षित होने लगता है और साध्य अधिकाधिक मात्रा में आँखों से ओझल हो जाता है। रीतिकालीन अधिकांश काव्यकार इस प्रकार की त्रुटि कर बैठे हैं, किन्तु सूरदास, तुलसीदास, मीरा जैसे कवियों ने साध्य को पकड़े रह कर ही सगुण साधनों का उपयोग किया है। जैसे साध्य को भुलाकर साधनों ही में खो जाना एक त्रुटि है, वैसे ही साधनों को सर्वथा अनुपयोगी घोषित करके केवल साध्य की माला जपना भी एक त्रुटि है। यह मान लेने पर भी कि कबीर जैसे सिद्ध पुरुष को मूर्त्ति-साधन की कोई आवश्यकता नहीं थी, यह नहीं कहा जा सकता कि लोकपात्रता की दृष्टि से सगुणोपासना के समस्त रूपों पर प्रहार कर के उन्होंने अदूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से वे एक युगपुरुष थे और उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ही के धार्मिक क्षेत्रों के अधूरे सत्यों को पूर्णता देने का प्रयत्न किया। किन्तु जहाँ तक हिंदुओं का सम्बन्ध है, उनका यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ, क्योंकि जब तक मनुष्य दुर्बल है, जब तक वह अपनी अल्पप्राण वासनाओं की पूर्त्ति के लिए भिन्न-भिन्न कोटि के शक्ति-प्रतीकों की आवश्यकता का अनुभव करता है, तब तक मूर्त्तिपूजा में निहित वह लोकव्यापी सिद्धान्त, जो मूर्त्तिभंजकों के अगणित विरोधी प्रयत्नों के होने पर भी आज तक संसार में किसी न किसी रूप में जीवित बना हुआ है, हिंदुओं में भी सदैव आदर प्राप्त करता रहेगा। ऐसी अवस्था में यदि कबीर को कुछ आलोचना का लक्ष्य होना पड़े तो उससे विचलित होने की कोई आवश्यकता नहीं।

निर्गुण और सगुण का समन्वित रूप

कबीर उच्च कोटि के महात्मा थे, यह निर्विवाद है; ईश्वर-तत्त्व पर उनकी मार्मिक दृष्टि थी, इसमें कोई संदेह नहीं; किन्तु वैज्ञानिक आलोचना की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी अपूर्णता के सम्बन्ध में आवश्यक कथन करने की स्वतन्त्रता आलोचक को दें। आलोचक जहाँ ईमानदार नहीं है, जहाँ वह 'दुराग्रह', 'पूर्वग्रह' आदि रोगों से ग्रस्त है वहाँ

भी उसे ईमानदार मानकर, सदाय-सम्पन्न स्वीकार कर के ही सच्ची समालोचना को आगे बढ़ना चाहिए तथा तर्कों ही से तर्कों को काटना चाहिए। इसके विपरीत यदि साम्प्रदायिक संकीर्णता के आरोप पर ही अधिक भरोसा रखा गया, तो उसमें सफलता की अधिक आशा न करनी चाहिए। यथास्थान इस प्रकार के आरोप का एक संक्षिप्त उत्तर मैं दे चुका हूँ, यहाँ प्रसंगवश इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि परोक्ष सत्ता के सगुण स्वरूप के सम्बन्ध में कोई आग्रह लेकर नहीं, वरन् निर्गुणवाद की अव्यावहारिकता और असमन्विति से प्रभावित होकर शुक्ल जी उसकी ओर विशेष आकर्षित नहीं हो सके। दूसरी ओर भारतीय भक्ति-पद्धति को लेकर अग्रसर होनेवाले भक्त कवियों में उन्हें वह चीज़ मिली जो अनेक शताब्दियों से दिखायी नहीं पड़ी थी; उसकी ओर उनका आकर्षित होना स्वाभाविक था।

सच बात यह है कि भावयोग का काव्य का उद्देश्य मान लेने के कारण शुक्ल जी का ऐसा मार्ग निर्दिष्ट हो गया कि उसमें सगुणोपासना को तिरस्कृत करके चलनेवाले एकान्त निर्गुणवाद के लिए स्थान ही नहीं रह गया। जो निर्गुण स्वयं ही निराधार है, उसका आधार लेकर भावयोग किस प्रकार खड़ा हो सकेगा? यही निर्गुण यदि सगुण का सहारा लेकर चलने लगे तो सगुण के माध्यम से भाव निर्गुण के समीप पहुँच जायंगे और साधक की पात्रता के अनुरूप ही उसे अव्यक्त सत्य के क्षेत्र में विजय प्राप्त होती चलेगी और क्रमशः वह किसी दिन ऐसी स्थिति को भी प्राप्त हो जायगा जब सगुण के माध्यम की आवश्यकता न रह जायगी। ऐसे भी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हो सकते हैं जिन्हें आरम्भ से ही सगुणोपासना की आवश्यकता न पड़े। ज्ञानयोग और कर्मयोग के पथिकों के लिए यह बात संभव हो सकती है; किन्तु जिन्होंने भावयोग की सिद्धि को अपना अभीष्ट माना है तथा काव्य की उँगली पकड़कर उसके पास पहुँचने का निश्चय कर लिया है उनके लिए तो परोक्ष सत्ता के सगुण रूप को जोड़कर निर्गुण की ओर प्रगति करना सहज नहीं है। काव्य का स्वरूप ही ऐसा है कि रूप और चित्र का आधार लिये बिना उसका एक पग भी आगे बढ़ना असम्भव है।

जब सगुणोपासना के साधन साधक को श्रद्धा-भक्ति से वंचित होकर गौरव-प्राप्त पाषाण-खण्ड मात्र रह गये, तब उनके विरोध में प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही था। हिन्दी-साहित्य में निर्गुणवाद इसी प्रतिक्रिया का प्रतिनिधि होकर आया और अपने समय में प्रगतिवाहक आन्दोलन के रूप में उसने मान्यता प्राप्त की। किन्तु भारतीय भक्ति-पद्धति के अनुयायी तुलसीदास और सूरदास ने उसके अभाव को, जो प्रत्येक प्रतिक्रिया में निहित

रहता है, प्रगट कर दिया और उनके उदित होने पर उसकी प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में लोगों की धारणा बदली। अधिक व्यावहारिक चीज सामने आयी तो 'उत्साहपरायण' लोगों ने उसके प्रति अधिक उत्साह दिखाया; द्वैज के चन्द्रमा को देखने के लिए किसी दिन सारा मुस्लिम समाज 'उत्साहपरायण' हो जाता है, तारागण अपनी अमित संख्या में भी उसे तृप्ति-प्रदान नहीं कर पाते। यही दशा यदि हिन्दुओं के एक बहुत बड़े वर्ग की हो गयी तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

निर्गुणवाद के प्रवर्त्तक कबीर ने सगुण का समूल खंडन नहीं किया है; व्यक्त जगत् के अणु-परमाणु के भी अन्तस्तल में धँस कर बैठे हुए भगवान की सत्ता को वे अस्वीकार कैसे करते ? * किन्तु उन्होंने सगुणोपासना के माध्यम से निर्गुण के पास पहुँचने का कोई व्यावहारिक मार्ग नहीं प्रस्तुत किया; यही नहीं, औरों द्वारा प्रवर्त्तित व्यावहारिक मार्गों की निन्दा की। उन्होंने परोक्ष सत्ता की अलौकिक गुण-वली का कथन करके आकर्षण और प्रेम की भाप तो तैयार की, किन्तु उस भाप के सदुपयोग का कोई ढङ्ग नहीं निकाला; किसी रेलगाड़ी में उसका नियोजन करके गन्तव्य स्थान की अनन्त दूरी वाली बाधा को दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। तुलसीदास और सूरदास में यह त्रुटि नहीं थी; उन्होंने भाप भी तैयार की और रेलगाड़ी भी प्रस्तुत की; ऐसी अवस्था में 'उत्साहपरायण' लोग कबीर के पास खड़े रह कर क्या करते ? कोरी भाप के भपके में झुलस जाने के डर से यदि वे रेलगाड़ी की ओर दौड़ पड़े तो इसमें उनका क्या दोष ?

कबीर का अभाव

कबीर के सम्बन्ध में मैं आगे भी कुछ कहूँगा; यहाँ इतना ही कथन यथेष्ट है कि उनकी व्यष्टिसाधना उच्च कोटि की होने पर भी सगुणाराधना के दोषों

---

* गुण मैं निरगुण, निरगुण मैं गुण
बाट छाँड़ि क्यूँ बहिए।
अजरा-अमरा कथै सब कोई
अलख न कथणा जाई।
नाहिं सरूप बरण नाहि जाकै
घट घट रह्यो समाई।
प्यंड-ब्रह्मण्ड कथै सब कोई
वाके आदि अरु अंत न होई
प्यंड ब्रह्मण्ड छाँड़ि जे कथिए
कहै कबीर हरि सोई।

ही की ओर जनसाधारण का ध्यान आकर्षित करने के कारण उसको चकित-स्तम्भित और विमूढ़ तो बना सकी, किन्तु उन गुणों को ग्रहण करने की ओर चलने के लिए, जो राजभवन में पहुँचाते हैं, कोई व्यवस्थित, सामान्य बुद्धि-द्वारा ग्राह्य राजपथ तो दूर की बात, पगडंडी भी दिखा नहीं सकी। ऐसी अवस्था में यह समझ पड़ता है कि किसी 'दुराग्रह' अथवा 'पूर्वग्रह' से प्रेरित न होकर, वरन् काव्य के व्यावहारिक मार्ग को प्रशस्त करने की एकान्त कामना से शुक्ल जी ने परोक्ष सत्ता के सगुण रूप पर अधिक बल दिया। जैसा कि कहा जा चुका है, 'भावयोग' के अनुयायी होने के कारण वे असमन्वित निर्गुण पथ के पथिक हो ही नहीं सकते थे।

———

अध्याय १७

समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—१

परोक्ष सत्ता का सगुण स्वरूप (ख)

कबीर दास की पैनी दृष्टि सगुण के प्रत्येक रूप को भेद कर पार हो जाती थी और सदैव सूक्ष्म से सूक्ष्म रूपों की खोज में रहा करती थी; कोई भी रूप सामने पाकर वह 'नेति' 'नेति' कहती चलती थी। इसे हम सगुणाराधना भले ही न कहें, किन्तु सगुण का माध्यम के रूप में उपयोग तो मानना ही पड़ेगा। यह कबीर के व्यक्तित्व की तीव्रता थी, प्रबल रस-पिपासा थी, जो किसी सगुण रूप को स्थायी रूप से अपना पड़ाव नहीं मान सकती थी। जब किसी पड़ाव पर विश्राम मिलता ही नहीं, अविलम्ब ही उसे असन्तोष-जनक मान लेना पड़ता है तब उसकी निन्दा क्यों न की जाय? कबीर ने इसी भाव से समस्त सगुण स्वरूपों के सम्बन्ध में असंतुष्टि प्रगट की है; जिसकी खोज में वे हैं वह उन्हें इनमें अपने पूर्णरूप में कहीं नहीं मिलता। कोटि कृष्ण, कोटि विष्णु, कोटि ब्रह्मा, कोटि महेश, कोटि सरस्वती, कोटि इन्द्र पर से भी उनकी दृष्टि हट कर उनसे परे की वस्तु को खोजती फिरती है; साधारण देवताओं, गन्धर्वों, मुनियों की वहाँ क्या गिनती हो सकती है! *

कबीर की महत्ता

किन्तु कबीर की यह दृष्टि सभी को नहीं प्राप्त हो सकती। श्रीमद्भागवत महापुराण से हम जानते हैं कि कोटि कृष्णों की तो बात बहुत दूर की है, एक ही कृष्ण को पार करना न केवल गोपियों की रस-दृष्टि के लिए, वरन् बड़े-बड़े ज्ञानियों की रस-दृष्टि के लिए भी असंभव हो गया। परम सौन्दर्य-धाम श्रीकृष्ण की तो बात अलग, जीवन में हम देखते हैं कि साधारण सौंदर्य-रूपों ही के जाल में अगणित व्यक्ति उलझ जाते हैं और उनसे निवृत्त

---

* कोटि कृष्ण जहँ जोड़ें हाथ,
कोटि विष्णु जहँ नावँ माथ।
कोटिन ब्रह्मा पढ़ैं पुरान,
कोटि महेश धरैं जहँ ध्यान।
कोटि सरस्वती जहँ धरैं राग,
कोटि इन्द्र जहँ गगन लाग।
सुर गंधर्व मुनि गनै न जायँ,
जहँ साहब प्रगटे आय आय।

नहीं हो पाते। कोई धन की उपासना में लगा है, कोई नारी के बन्धन में पड़ा है, कोई यश का भूखा है—इन सब की रस-पिपासा कबीर की रस-पिपासा की समकक्षता नहीं कर सकती। जो एम० ए० पास होकर अपने विषय का आचार्य हो गया है, उसकी समता मैट्रिक में पढ़नेवाला विद्यार्थी किस प्रकार कर सकता है? आचार्य की पुस्तकों को वह समझ तो सकेगा नहीं, किन्तु यदि वह उन्हें समझने का ढोंग करके उनमें परीक्षा देने का प्रयत्न करे तो क्या यह उसका प्रमाद न होगा; क्या वह अपने उद्योग में असफल न होगा? क्या उसके सम्बन्ध में 'आधो छोड़ सारी को धावै, सारी मिलै न आधी पावै' वाली कहावत चरितार्थ न होगी?

यदि कबीर अपनी ही समस्या हल करना चाहते हैं तो इसके लिए उन्हें कोई रोक नहीं सकता; जिस व्यक्ति को ब्रह्मीभूत होने की लगन और उमंग है, उसे अपने लक्ष्य की ओर गमन करते देख कर कौन आपत्ति कर सकता है? जो हिमालय पर्वत की चोटी पर चढ़ने के लिए कृतसंकल्प है वह इलाहाबाद म्यूनिसिपैलिटी के रिश्वती मामलों पर विचार करने के लिए न ठहरे तो उसे कौन दोष दे सकता है? किन्तु जहाँ कबीर को इतनी स्वतंत्रता है, वहाँ नीची परिस्थितियों में पड़े हुए लोगों को भी कुछ स्वतन्त्रता है; उस पर कबीर को आक्रमण करने का अधिकार नहीं है। अपनी मस्ती और आनन्द से उन्हें इतना अवकाश भी नहीं है कि वे किसी की स्वतंत्रता का अपहरण करें। उनमें निषेधात्मक तत्त्व नहीं है। उनकी वैयक्तिक साधना से नीची परिस्थितियोंवाले लोगों की कोई हानि नहीं होती और लाभ इतना तो अवश्य ही हो जाता है कि जैसे आकाश में स्थित सूर्य से ताप पाकर शस्य पकता और अपने जीवन की सिद्धि प्राप्त करता है, वैसे ही वे उनकी अस्थिरता और पिपासा से जीवन को सुडौल और सुघर बनाने का संदेश प्राप्त करते हैं।

श्री जैनेन्द्रकुमार ने शिकायत * की है कि शुक्ल जी ने कबीर और सूर

* "कवि की कविता से लोग अपने नाना प्रयोजन साधते हैं। कोई रस लेते हैं, दूसरे ज्ञान और नीति लेते हैं। * * * ज्ञान या नीति या सुधार का प्रयोजन किसी काव्य से हम साध लेते हों तो उसका श्रेय हमें ही है। अपने प्रयोजन की माप में नाप कर हम कवि को नहीं समझेंगे।

शुक्ल जी ने कुछ इसी तरह की भूल की है। कवि की आन्तरिकता को शुक्ल जी अपने अन्तर में अनुभव नहीं कर सके। उनका रुख वस्तुवादी रहा (Objective) आत्मलक्षी (Subjective) नहीं। इससे तुलसी के मानस के बहिःरूप (?) को प्रकाण्ड पाण्डित्य से वह बाँध सके, पर उनके अन्तरङ्ग की झाँकी भी क्या वे ले और दे सके? ले सके होते तो व्यक्तिगत साधना वाले कह कर दूसरे सन्तों या भक्ति-भीगे और कवियों (जैसे सूरदास) से तुलसी का उन्होंने विरोध नहीं बल्कि सादृश्य ही देखा होता।"

—जैनेन्द्रकुमार

को व्यक्तिसाधनावाला कहा है। उन्होंने शायद इसे उक्त दोनों ही के लिए अपमानजनक समझा है; किन्तु मुझे इसमें अपमान की कोई बात दिखायी नहीं पड़ती। अपनी अपूर्णता की समस्त अनुभूतियों को उपहार-रूप में लेकर व्यक्ति को परोक्ष सत्ता की पूर्णता में लीन होना है और निस्संदेह उसे अपने व्यक्तित्व के अनुरूप वैयक्तिक साधना ही करनी होगी। यदि कबीर और सूर ने व्यक्तिगत साधना की है, तो तुलसीदास ने भी व्यक्तिगत साधना ही की है। तुलसीदास की वैयक्तिक साधना के साथ जो समाज-साधना लगी चलती है, उससे उनकी वैयक्तिक साधना का चोखापन बढ़ गया है, उन्हें उन अगणित व्यक्तियों का आशीर्वाद उपलब्ध हो गया है, जिनकी निकटवर्त्तिनी दैनिक समस्याओं का समाधान उनकी अनायास-सम्पन्न समाज-साधना के द्वारा सुलभ हो गया है। इस आशीर्वाद से तुलसीदास का मार्ग सरल हो गया है, इसमें संदेह नहीं।

वैयक्तिक साधना ही प्रधान

सूरदास का, और उनसे भी अधिक कबीर का मार्ग असुविधापूर्ण रहा है। समाज-साधना के स्वीकृत रूपों की संगति में न चलनेवाली वैयक्तिक साधना का पथ प्रायः भयावह हो जाता है, क्योंकि चोरों, डाकुओं की तरह अनेक जीवन-निषेधात्मक तत्त्व उसमें प्रवेश कर सकते हैं। उच्च कोटि का वैराग्य कबीर की साधना का एक अनिवार्य अङ्ग रहा है; ऐसा हो सकता है कि उक्त वैराग्य निचले स्तरों के पास-पहुँचते-पहुँचते नकारात्मक अकर्मण्यता की प्रवृत्ति उत्पन्न करने लगे। इसी प्रकार सूरदास की साधना में राधाकृष्ण का प्रणय-व्यवहार, उच्चस्तर पर कल्पित होने पर भी, नीचे उतर कर बन्धनकारक तत्त्वों से मिलकर लोक के लिए हानि की संभावनाएँ उपस्थित कर सकता है। जितने ही अंशों में ये संभावनाएँ दृढ़ होंगी उतने ही अंशों में वे सूरदास की वैयक्तिक साधना को कँटीली बना सकती हैं। किन्तु सुविधापूर्ण हो अथवा असुविधापूर्ण हो, वैयक्तिक साधना की परीक्षा तो इस आधार पर होगी कि कितनी तन्मयता, तड़प, उमंग लेकर साधक अपने आराध्य के चरणों में लीन होने के लिए दौड़ा है। इस दृष्टि से हम देखते हैं तो यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कबीर, सूर और तुलसी में किसकी व्याकुलता कम थी और किसकी अधिक थी।

किन्तु जिन निचले स्तरों की चर्चा यहाँ की गयी है, उनका क्या होगा? उनके आस-पास निवास करने वाले भी क्या कबीर, सूर और तुलसी की वैयक्तिक साधना की ऊँची चढ़ाइयों पर चढ़ने का साहस करेंगे? साहस की बात तो पीछे आयेगी, पहले उनकी ओर आँख उठाने की कामना भी क्या

साधारण जन में उत्पन्न हो सकेगी ? नहीं, महान् साधकों का मार्ग जन-साधारण का मार्ग नहीं हो सकता। उनके लिए, उनकी योग्यता के अनुरूप, अन्य साधनों की खोज होनी ही चाहिए।

कबीर की साधना ने काव्य की खोज नहीं की थी; काव्य स्वयं ही उनके द्वारा कर्षित होकर उन्हें खोजता हुआ उनके पास पहुँचा था। इसके विपरीत सूरदास ने 'सगुण लीला पद गावै' कह कर लेखनी चलायी थी। तुलसीदास ने तो काव्य की समस्त आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर 'रामचरित-मानस' की रचना की थी। इसका कारण क्या था ?

कबीर अरूप निर्गुण तत्व की खोज में थे, उसका कोई चित्र उनके सामने नहीं था, इस कारण काव्य उनसे दूर ही दूर रहा। हाँ, ऐसा जान पड़ता है कि कभी-कभी 'साहेब' के किसी टिकाऊ रूप पर उनका मन अधिक समय तक टिक जाता था, इसी 'साहेब' के मिलने के लिए जब वे अधीर हो उठते थे तब काव्य एक मूर्ति का सहारा पाकर उनके पास पहुँचता था। 'साहेब' से मिलने की तैयारी, आधीरता तथा मिलन—सभी कुछ कबीर के काव्य का अनुपम विषय हो सका है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 'साहेब' चाहे जिस रूप में हो, है वह सगुण ही।[1]

गीता के एकादश अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि दान कर के अपने विश्व रूप को दिखाया है। उस रूप का प्रकाश ऐसा है कि सहस्रों सूर्य्य के उदय से उत्पन्न होने वाला प्रकाश भी शायद ही उसकी समता

---

१. परमातम गुरु निकट विराजैं
जाग जाग मन मेरे।
धाय के पीतम चरनन लागै
साईं खड़ा सिर तेरे।
\+ × ×
बालम, आओ हमारे-गेहरे।
तुम बिन दुखिया देह रे।
× + +
जैसे कमल पत्र जल बासा,
ऐसे तुम साहिब हम दासा
\+ + +
जाग देख पिय सेज न तेरे
तोहिं छाँड़ि उठि गये सबेरे

कर सके।[1] अनेक मुखों, अनेक नेत्रों; अनेक दिव्य आभूषणों से युक्त वह रूप था; उस रूप के उठे हुए हाथों में अनेक दिव्यास्त्र विद्यमान थे।[2] दिव्य माला और वस्त्र से युक्त, दिव्य सुगन्धित पदार्थों के अनुलेपन के मनोहरीकृत सीमाहीन, सब प्रकार के आश्चर्यजनक तत्वों से सुशोभित, विराट् स्वरूप भगवान् को अर्जुन ने देखा।[3] यह मानने में शायद ही किसी को आपत्ति हो कि कबीर भी दिव्य दृष्टि-सम्पन्न थे। यहाँ विचारने योग्य बात यह है कि अर्जुन को दिखायी पड़नेवाला कृष्ण का विराट् रूप कबीर को दिखायी पड़ने वाले 'साहेब' के रूप से किस प्रकार भिन्न है? और यदि कृष्ण इस रूप में भी सगुण ब्रह्म बने रहते हैं—यद्यपि निर्गुण ब्रह्मत्व के भी सभी दावे उनकी वाणी में हैं—तो 'साहेब' ही में ऐसी कौन सी बात है जो उनके सगुण ब्रह्म होने में बाधक हो सकेगी?

निस्संदेह 'साहेब' निर्गुण ही बने रहते और किसी को भी दिखायी न पड़ते, किन्तु काव्य ने उन्हें सगुण बनने के लिए विवश कर दिया।

इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत भी जान लेने योग्य है; वे कहते हैं :—

"जहाँ तक अज्ञात की ओर अनिश्चित संकेत मात्र रहता है वहाँ तक तो प्रकृत काव्यदृष्टि रहती है, पर जब उसके आगे बढ़ कर उस अज्ञात को अव्यक्त और अगोचर कह कर उसका चित्रण होने लगता है, उसका पूरा ब्योरा दिया जाने लगता है, तब लोकोत्तर दिव्यदृष्टि का दावा-सा पेश होता हुआ जान पड़ता है।"

ठीक है, अर्जुन की एक साधारण दृष्टि थी और एक वह दृष्टि थी, जो उसे श्रीकृष्ण ने इस उद्देश्य से दी थी कि वह उनके विराट् रूप को देखे। स्पष्ट है कि यह दृष्टि अधिक समय तक ठहर नहीं सकती थी।

कबीर की दृष्टि अर्जुन की दृष्टि की तरह क्षणस्थायी नहीं थी; उसे उन्होंने अपने ज्ञान-पराक्रम से अर्जित किया था। परोक्ष सत्तानुभूति और विरक्ति की जिस गहराई तक उनके पद गये हैं, वही उनकी दिव्य दृष्टि का प्रमाण भी है। इस दिव्यदृष्टि के सामान्य प्रयोग को शुक्ल जी काव्य के लिए घातक समझते हैं और इस कारण कि कबीर के द्वारा वैसा प्रयोग किया गया, वे असन्तोष का अनुभव करते हैं। कबीर की प्रतिभा को वे अस्वीकार

---

१. दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।

२. अनेक वक्त्रं नयनमनेकाद्भुत दर्शनम्।
अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्

३. दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।

नहीं करते, किन्तु सामान्य भाव-भूमि से हट कर असामान्य आधार पर खड़े होने से, पाखंड-प्रचार की आशंका से, वे चिंतित होते हैं। उनकी बात उन्हीं के शब्दों में सुनिए :—

"इस (लोकोत्तर दिव्यदृष्टि के) दावे का हृदय पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। एक ओर—श्रोता या पाठक के पक्ष में—तो इससे अज्ञानप्रियता का अनुरंजन होता है; दूसरी ओर—कवि के पक्ष में—उस अज्ञानप्रियता से लाभ उठा कर अहङ्कार-तुष्टि का अभ्यास पड़ता है।"

इस परिस्थिति को और भी स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :—

"पहुँचे हुए सिद्ध या ब्रह्मदर्शी बननेवाले बहुत से साधु शास्त्रों की सुनी-सुनायी बातों को—उनकी कुछ अगाड़ी-पिछाड़ी खोल—पहेली के रूप में करके गँवारों को चकित किया करते हैं।"

यदि इस वाक्य का तनिक भी लक्ष्य स्वयं कबीर पर हो तो उनकी महत्ता के मूल पर प्रहार करने के कारण बहुत कम लोग शुक्ल जी से सहमत होंगे, किन्तु यदि उनका उद्देश्य कबीर का अनुकरण करनेवाले लोगों की ओर संकेत करने का हो तो उनकी साहित्यिक आपत्ति मूल्यवान हो जाती है। इसके अतिरिक्त जब कबीर के 'साहेब' गीता के श्रीकृष्ण के विराट् रूप के समकक्ष हो लेने में कोई आनाकानी नहीं करते तो फिर शुक्ल जी को चाहिए क्या ? मतवादी कथनों से पृथक् जब कभी कबीर शुद्ध काव्य-भूमि पर उतर कर रचना में प्रवृत्त होते हैं, तब वे भी सगुण ब्रह्म ही के चित्र अंकित करते हैं, भले ही वे चित्र उतने रमणीय और मनोहर न हों, जितने मलिक मुहम्मद जायसी के हैं। यह शुक्ल जी के ही अभिलषित सिद्धान्त की स्वीकृति है, उपासना* के क्षेत्र में और काव्य† के क्षेत्र में भी।

---

*"ज्ञानकांड के निर्गुण ब्रह्म को यदि उपासना-क्षेत्र में ले जायँगे तो उसे सगुण करना ही पड़ेगा। जिन्होंने मूर्त्ति के निषेध को ठीक खुदा के पास तक पहुँचा देनेवाला रास्ता समझा था वे भी देश-काल-सम्बन्ध-शून्य भावना नहीं कर सके थे। खुदा का क़यामत के दिन एक जगह बैठना, चारों ओर सब जीवों का इकट्ठा होना, बग़ल में हज़रत मुहम्मद या ईसा का होना, जड़ द्रव्य लेकर अपनी ही सूरत-शकल का पुतला बनाना और उसमें रूह फूँकना, छः दिन काम करके सातवें दिन आराम करना—ये सब बातें अव्यक्त और निर्गुण की नहीं हैं।"—भूमिका, जायसी

†"कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है; काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत व्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।"—चिं०, भा० १, पृ० ५८

'साहेब' और सगुण ब्रह्म

किन्तु, हमारी कठिनाइयों का यहीं अन्त नहीं है। 'साहेब' को जिस सरलता के साथ मैंने सगुण ब्रह्म मान लिया है वह, संभव है, बहुतों को मान्य न हो। कबीर के अनेक समर्थक 'साहेब', * 'हरि', 'राम' को सेज पर आसीन और साधक के सान्निध्य में खड़ा पाकर भी सगुण नहीं कहना चाहते, क्योंकि उन्हें भय है कि सगुण मानते ही उसकी महिमा में लाघव का प्रवेश हो जायगा। उपासना की कसौटी पर निर्गुण को असफल न होने देने के उद्देश्य से वे निर्गुण की उपासना का मार्ग भी निकालने के लिए सन्नद्ध हैं। डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में विद्यारण्यस्वामी का मत उद्धृत किया है, जिसमें यह शंका उपस्थित होने पर कि 'जो वाणी और मन के गोचर है ही नहीं उसकी उपासना कैसे हो सकती है,' उत्तर में उक्त स्वामी जी स्वयं ही प्रश्न कर बैठते हैं—'जो वस्तु वाणी और मन के परे है अर्थात् जिस तक न तो वाणी पहुँच पाती है और न मन, उसका अनुभव भी तो सम्भव नहीं है। फिर यदि यह सम्भव है तो उपासना क्यों संभव नहीं है ?'

यदि कबीर जैसा कोई उपासक हो तो निर्गुण की उपासना को सम्भव मान लेने में हमारे सामने कोई अड़चन नहीं है, क्योंकि हम उन्हें दिव्यदृष्टि-सम्पन्न मानते हैं और हमारे पास गीता के एकादश अध्याय में श्रीकृष्ण के कथन का प्रमाण है कि सगुण ब्रह्म के विराट् स्वरूप का दर्शन भी दिव्य दृष्टि के बिना सम्भव नहीं है, निर्गुण के अपार, अपरिमित रूप की तो बात ही अलग। किन्तु यदि किसी साधारण साधक की बात हो, और परोक्ष सत्ता के साक्षात्कार की दिशा में उसकी प्रगति का प्रश्न हो, तो हम तो उसे यही सलाह देंगे कि निर्गुण की हवाई दुनिया में हवाई प्रियतम की खोज करने के स्थान में व्यक्त जगत् में ऐसे स्वरूप का अनुसंधान करो जो तुम्हारे व्यक्तित्त्व की समस्त अपूर्ति का निवारण कर दे।

जो लोग निर्गुण की उपासना प्रचलित करने के पक्ष में हैं वे निर्गुण को, सगुणता के तनिक भी अवलम्बन के बिना, काव्य के अवलम्बन रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं। यह कितना संगत और कितना व्यावहारिक है, इसके

---

* साहेब और राम एक ही हैं, नीचे के पद देखिए :—

बेचैं राम तो राखैं कौन ?
राखैं राम तो बेचै कौन ?
कहैं कबीर मैं तन-मन जारुया।
साहिब अपना छिन न बिसारुया।

सम्बन्ध में ठीक निर्णय वे ही दे सकेंगे जो साधारण साधकों की मनोगति से सुपरिचित हैं, जो अच्छी तरह जानते हैं कि सामान्य जन के लिए निर्गुण एक अमूर्त्त, अज्ञात तत्त्व है, जिसका उसके हृदय से कोई सम्बन्ध नहीं। निर्गुण और सगुण की समस्या को हल करने के उद्देश्य से ही अपने ही एक निबन्ध * में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं:—

"जिस वस्तु का रूप नहीं होता उसका नाम भी नहीं होता। परन्तु मध्ययुग के भक्तों में भगवान के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों, चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम-जप के बारे में किसी को कोई संदेह नहीं, यद्यपि ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ भगवान का वास न हो और मनुष्य का हृदय भी निस्सन्देह उसका आवास है, फिर भी जब तक वह नाम और रूप के साँचे में नहीं ढल जाता अर्थात् सगुण रूप में नहीं प्रकट हो जाता तब तक वह ग्राह्य भी नहीं। इसी लिए भक्तों के नाम-स्मरण का स्पष्ट अर्थ है भगवान के भावगृहीत रूप का स्मरण। ❀ ❀ भगवान की सगुण उपासना के मूल में यह भावगृहीत रूप ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि यह भावगृहीत रूप भगवान के पूर्व-निर्धारित किसी रूप को आश्रय करके होता है ❀ ❀ ❀ निर्गुण की उपासना करनेवाला भक्त भी भगवान के इस भावगृहीत गुण-विशिष्ट रूप को ही अपनाता है। फिर भी उसकी विशेषता यह है कि उसका भावगृहीत रूप किसी पूर्व निर्धारित और शास्त्र-समर्थित आकार को आश्रय करके नहीं होता।"

द्विवेदी जी की इन पंक्तियों में सगुण और निर्गुण उपासना की पारस्परिक दूरी बहुत कम रह गयी है। दोनों का समन्वय बहुत सरल हो गया है। और यह बात भी समझ में आती है कि अधिकांश निर्गुणवादी उच्च कोटि के संत होकर भी शिक्षा की कमी तथा सामाजिक असुविधाओं के कारण भगवान के शास्त्र-समर्थित' आकार की उपासना नहीं कर सकते थे।

सगुण ही की उपासना सम्भव

निर्गुण की उपासना की बात पाठकों ने देख ली; अब सगुणोपासना के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचारों से भी वे परिचय प्राप्त कर लें। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है; वह है ब्रह्म के मूर्त्त रूप की मर्त्यता के सम्बन्ध में। उनका कहना है कि ब्रह्म के अमूर्त्त और मूर्त्त दो रूपों में से मूर्त्त रूप को जो मर्त्य कहा जाता है वह 'केवल सतत गतियुक्त या परिवर्त्तनशील के अर्थ में, सत्ता के अभाव के अर्थ में नहीं।'

सगुणोपासना के सम्बन्ध में शुक्ल जी

---

* सं० २००७ में प्रकाशित अमृतपत्रिका के दीपावली विशेषांक में।

उनका मत है कि 'इस मूर्त्त विराट के भीतर न जाने कितने लोक, ब्रह्माण्ड, सौरचक्र बनते-बिगड़ते रहते हैं; पर इसकी रूप-सत्ता ज्यों की त्यों रहती है। अतः असीम और नित्य के लिए अव्यक्त और अगोचर में जाने की कोई जरूरत नहीं। ब्रह्म के दोनों रूप असीम और नित्य हैं।' दूसरी ध्यान देने योग्य बात उन्होंने यह कही है कि 'अव्यक्त, निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म उपासना के व्यवहार में सगुण ईश्वर हो जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि उपासना जब होगी तब व्यक्त और सगुण की ही होगी, अव्यक्त और निर्गुण की नहीं। अव्यक्त और निर्गुण की उपासना का खंडन करने के लिए वे जो तर्क प्रस्तुत करते हैं, वे भी विचारणीय हैं। उनका कहना है कि निर्गुण ब्रह्म के प्रति हममें केवल जिज्ञासा हो सकती है, लालसा नहीं। वे कहते हैं :—

"जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है। उसका ज्ञेय वस्तु के प्रति राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि का कोई लगाव नहीं होता। उसका सम्बन्ध शुद्ध ज्ञान से होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाष रतिभाव का एक अंग है। ब्रह्म* की जिज्ञासा और व्यक्त, सगुण ईश्वर या भगवान् के सानिध्य का अभिलाष—यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात का अभिलाष बिल्कुल विदेशी कल्पना है और मज़हबी रुकावटों के कारण पैग़ंबरी मत मानने वाले देशों में की गयी है।"

इन पंक्तियों में शुक्ल जी ने एक व्यावहारिक बात कही है, जिसे हृदयंगम करना साधारण जन के लिए भी कठिन नहीं है; भावना के आरोप और लक्ष्य के लिए आलम्बन का मूर्त्त होना नितान्त आवश्यक है। यदि हम इस सीधी-सी बात को समझ लें तो काव्यजगत् की बहुत सी धाँधली को तुरन्त ही पहचान लें।

* शुक्ल जी के मत से डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत बहुत भिन्न नहीं है। द्विवेदी जी पूर्वोक्त निबन्ध में ही लिखते हैं—"प्रत्येक युग के साधक भगवान् के दो रूपों का अनुभव करते हैं। एक तो उनका निर्गुण और निर्विशेष रूप है जो ज्ञान का विषय है। मनुष्य उसको ठीक ठीक अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि इस क्रिया के जितने भी साधन हैं, उनकी पहुँच की सीमा निश्चित है। जो समस्त सीमाओं से परे है वह केवल अनुमान और तर्क का विषय हो सकता है। यद्यपि इसमें संदेह ही है कि बौद्धिक विवेचना के द्वारा उसका कितना अंश सचमुच ही स्पष्ट होता है।"

अध्याय १८

शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—२

रागात्मिका वृत्ति

शुक्ल जी के निबंधों में हम 'रागात्मिका वृत्ति'*, इन दो शब्दों का उल्लेख प्रायः देखते हैं। यह रागात्मिका वृत्ति क्या है? समीक्षा के सिद्धान्त-रूप में यह क्यों गृहीत की गयी है?

'राग' शब्द का प्रयोग कबीर ने अपने निम्नलिखित पद में किया है:—

"जोगी, जती, तपी, संन्यासी, आप आप में लड़ियाँ।
कहैं कबीर, सुनो भाई साधो राग लखै सो तरियाँ।"

'राग' का अर्थ प्रेम स्पष्ट है। अतः रागात्मिका वृत्ति का अर्थ है प्रेम की वृत्ति। यहाँ उस प्रेम से तात्पर्य नहीं है जो किसी क्षणिक स्वार्थ के कारण उत्पन्न होता है और उसकी पूर्ति होते ही समाप्त हो जाता है। चर और अचर, जड़ और चेतन सभी के प्रति स्वार्थ-शून्य आत्मीयता के भाव को ही प्रेम कहते हैं।

राग के दो भेद

---

* "प्रबन्ध के भीतर आयी हुई मानव जीवन की भिन्न दशाओं के साथ जो अपनी रागात्मिका वृत्ति का पूर्ण सामंजस्य दिखा सके, वही पूरा और सच्चा कवि है।"

—भूमिका, जायसी

* * * *

"कबीर तथा अन्य निर्गुण पंथी संतों के द्वारा अन्तरसाधना में रागात्मिका भक्ति और ज्ञान का योग तो हुआ ***"

—इति० पृ० ६५

* * * *

मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति में इस अज्ञान के राग का भी ठीक उसी प्रकार एक विशेष स्थान है, जिस प्रकार ज्ञान के राग का।"

—चिन्ता० भाग २, पृ० १२६

* * * *

"प्रकृति-प्रांगण के चर-अचर प्राणियों का रागपूर्ण परिचय, उनकी गतिविधि पर आत्मीयता-व्यंजक दृष्टिपात, सुख-दुख में उनके साहचर्य की भावना—ये सब बातें स्वाभाविक स्वच्छन्दता के के पथ-चिन्ह हैं।"

—इति० पृ० ६५८

प्रेम की इस वृत्ति को समीक्षा के एक सिद्धान्त के रूप में मान्य करने का कारण यह है कि उसके बिना भावयोग की स्थापना हो ही नहीं सकती। शुक्ल जी स्वयं कहते हैं :—

"रागात्मिका वृत्ति के प्रसाद के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नहीं हो सकता। जब मनुष्य के सुख और आनन्द का मेल शेष प्रकृति के सुख और आनन्द के साथ हो जायगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सब की रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जायगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जायगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जायगा। काव्य-योग की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने के लिए है।"

शुक्ल जी काव्य का उद्देश्य चमत्कार अथवा मनोरंजन को नहीं मानते, वे उसके द्वारा यही सेवा उचित समझते हैं कि वह मनुष्य को रागात्मिका वृत्ति के स्तर पर पहुँचावे। उन्हीं के शब्दों में—

"सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौन्दर्य नहीं ढूँढ़ा करते। वे घूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी ऐसे सौन्दर्य का दर्शन करते हैं, जिसकी छाया भी महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।"

× × × ×

"जिन झाड़ियों को हम अपने जन्म ग्राम के पास के नाले के किनारे देखा करते थे, उन्हें किसी दूर देश में पहले पहल देखकर उनकी ओर कम से कम मुड़ ज़रूर जाते हैं। पशु भी बदले में प्रेम करते हैं—केवल हित-अनहित ही नहीं पहचानते—इसके कहने की आवश्यकता नहीं। राम के बन जाने पर उनके प्यारे घोड़ों* का हींसना,

---

* तरफराहिं मग चलहिं न घोरे।
बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे।
अदुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे।
राम बियोग बिकल दुख तीछे।
जो कह राम लखन बैदेही।
हिकरि हिकरि हित हेरहि तेही।
बाजि बिरह गति किमि कहि जाती।
बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती।"

—तुलसीदास

कृष्ण* के मथुरा चले जाने पर गायों का हूँकना, कवियों ने भी कहा है। तपोवन से प्रस्थान करते समय शकुन्तला की आँखों में अपने पोसे हुए मृगछौने और सींच सींच कर बढ़ाये हुए पौधों को देख कर भी कुछ आँसू आये थे।"

विकर्षण और आकर्षण

ब्रह्माण्ड के समस्त अवयव—जड़, चेतन, चर और अचर एक आन्तरिक एकता की भावना से अभिभूत हैं। विषमता का भाव विकर्षण को गतिमान बनाता है तथा अभिन्नता की धारणा विश्रामदायी आकर्षण की ओर चलाती है। विकर्षण और आकर्षण ही क्रमशः हमारे जीवन को आरम्भ और इति प्रदान करते रहते हैं। विकर्षण हमें प्रवृत्ति की ओर ले चलता है और आकर्षण निवृत्ति की ओर। विकर्षण दुर्बल की विशेषता है, आकर्षण सबल का गुण। जिसमें बहुत अधिक विकर्षण है उसकी अधिकांश शक्ति का विसर्जन हो गया है; इसके विपरीत जिसमें बहुत अधिक आकर्षण है वह बहुत अधिक शक्ति का केन्द्र हो गया है। विकर्षण निषेधात्मक है, आकर्षण विधेयात्मक है। विकर्षण और आकर्षण यदि पूर्णता को प्राप्त हो जायँ तो जीवन या तो मृत्यु के रूप में परिणत हो जाय या मुक्ति के रूप में; स्वयं जीवन चल नहीं सकेगा। इसीलिए विकर्षण की निषेधात्मकता के साथ-साथ आकर्षण की विधेयात्मकता और आकर्षण की विधेयात्मकता के साथ-साथ विकर्षण की निषेधात्मकता भी चली चलती हैं और जीवन उनसे भिन्न-भिन्न मात्राओं में तिक्त, लवण, मधुर आदि स्वादों का संग्रह करता हुआ गतिशील होता है। रागात्मिका वृत्ति विकर्षण को मृत्यु की ओर और आकर्षण को मुक्ति की ओर इतनी अधिक गति नहीं करने देती कि प्रत्येक अवस्था में जीवन की इति हो जाय; जीवन को धारण करने के योग्य सुन्दर और सरस बनाना उसका काम है।

विकर्षण और आकर्षण को विभिन्न मात्राओं में धारण करनेवाले अगणित केन्द्र ब्रह्माण्ड में हैं; किन्तु एक महाकेन्द्र ऐसा है जो उन दोनों की पूर्णता को आत्मस्थ करके भी उनसे परे है। अनेक ब्रह्माण्ड विकर्षित और आकर्षित होकर उसमें लीन होते रहते हैं। स्पष्ट है, कि उसे प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग न तो विकर्षण ही का है और न आकर्षण ही का; न एक मात्र

---

* "दौड़ा ग्वाला ब्रज नृपति के सामने एक आया।
बोला गायें सकल बन कों आप की हैं न जाती।
दाँतों से हैं न तृण गहती हैं न बच्चे पिलाती।
हा! हा! मेरी सब सुरभि को आज क्या हो गया है?"

—हरिऔध

प्रवृत्ति ही का और न एक मात्र निवृत्ति ही का। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही को समन्वित रूप में उपस्थित कर के जीवन-सौन्दर्य को पोषण देने योग्य बनाना रागात्मिका वृत्ति के लिए ही संभव है।

विकर्षण और आकर्षण से परे परोक्ष सत्ता में लीन होने, उसका साक्षात्कार प्राप्त करने के दो मार्ग बताये गये हैं—(१) प्रवृत्ति मार्ग; (२) निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग में प्रवृत्ति की और निवृत्ति मार्ग में निवृत्ति का विशेषता रहती है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपने महाकेन्द्र से दूर एक सीमा तक ही भ्रमण कर सकता है; उसके आगे भी यदि वह बढ़ना चाहेगा तो उसे मृत्यु प्राप्त होगी। इसी प्रकार मनुष्य अपने महाकेन्द्र की ओर एक सीमा तक ही वेग के साथ उन्मुख हो सकता है, यदि वह उन्मुखता के नशे में भ्रमण का सर्वथा लोप कर देगा तो अस्वस्थ होकर मरण को प्राप्त होगा। रागात्मिका वृत्ति ही यह निर्दिष्ट करती है कि अपने महाकेन्द्र को छोड़ कर हम निर्विघ्न रूप से कितना आगे जा सकते हैं और रागात्मिका वृत्ति ही हमें यह भी बताती है कि हम कितने वेग के साथ अपने महाकेन्द्र की ओर सकुशल वापिस लौट सकते हैं।

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग

शुक्ल जी ने राग के दो भेद किये हैं—(१) अज्ञान का अबुद्धिजनित राग; (२) ज्ञान का बुद्धिजनित राग। अज्ञान का अबुद्धिजनित राग जब हमें प्रवृत्ति की ओर ले जाता है तो वहाँ असंयमित, स्वच्छन्दाचारी बना देता है और जब निवृत्ति की ओर ले चलता है तो हमारे पथ को इतना संकीर्ण कर डालता है कि वहाँ साँस लेना भी कठिन हो जाता है; दोनों ही प्रकार मृत्यु अपने कराल मुख में हमें निगलने को प्रस्तुत होती है। एक ओर अतिशय आसक्ति और दूसरी ओर अतिशय विरक्ति हमारे जीवन-सामर्थ्य का संहार कर देती हैं। किन्तु जब रागात्मिका वृत्ति अपने प्रकृत स्वरूप में रहती है, अर्थात् ज्ञान से समन्वित होती है, तब अतिशयताओं द्वारा विकृति उत्पन्न होने का भय नहीं रहता। उस अवस्था में यह तीन दिशाओं में कार्यशील होती दिखायी पड़ती है—(१) मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक सहयोग की उत्तेजना; (२) मनुष्य तथा अन्य जीवों में सौहार्द-संवर्द्धना तथा (३) मनुष्य और मनुष्य के मध्य में विकासकारक समान और उचित व्यवहार की स्थापना। इन तीनों दिशाओं में अपनी छाया फैलाकर आम के पेड़ों की एक लम्बी पाँति की तरह रागात्मिका वृत्ति जीवन को सुख, शीतलता एवं सफलता से धन्य बनाने के लिए अवतीर्ण होती है।

राग के दो भेद

ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती चल रही है त्यों-त्यों मनुष्य मदान्ध, विलासी एवं क्रूर होता जा रहा है। संसार की वृद्धिशील संख्या को उच्च-कोटि के जीवनोपाय देने की धुन में वह प्रायः प्रकृति के सुन्दर और सुखद रूपों का संहार कर रहा है तथा हमारे बीच से उनका लोप कर रहा है। जीवन को विरस बनानेवाली हमारी इस त्रुटि की ओर रागात्मिका वृत्ति दृष्टिपात करती है और कवि के संवेदनशील हृदय को उसके निवारण के लिए प्रेरित करती है, वही हमें वह दृष्टि प्रदान करती है जिससे हम प्रकृति में सौन्दर्य का दर्शन करते हैं। शुक्ल जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ समीक्षा-प्रवृत्ति ही की नहीं, उनके रागपूर्ण हृदय का भी परिचय देती हैं:—

रागात्मक भाव और प्रकृतिदर्शन

"ए हो बन बंजर कछार हरे भरे खेत,
विटप, विहंग! सुनो, अपनी सुनावें हम।
छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह,
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम॥
सड़े चले जा रहे हैं बँधे अपने ही बीच,
जो कुछ बचा है उसे बचा कहाँ पावें हम।
मूल रस स्रोत हो हमारे वही, छोड़ तुम्हें,
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम।"

मनुष्य का अन्य पशुओं और जीवों के साथ सौहार्द बढ़ाना भी रागात्मिका वृत्ति का एक सहज व्यापार है। अपने रागपूर्ण हृदय से प्रभावित करके मनुष्य ने सिंह जैसे हिंसक पशु को भी अपना अनुचर बना लिया है, सर्प जैसे भयंकर और अविवेकी जन्तु को भी प्रेम-मन्त्र-कीलित कर दिया है। किन्तु जहाँ एक पशु से प्रेम अन्य के प्रति घृणा के रूप में प्रगट होता है, अन्य पर अत्याचार की प्रेरणा देता है वहाँ रागात्मक भाव का अभाव ही समझना चाहिए। जो लोग सर्प को देखते ही लाठी लेकर दौड़ पड़ते हैं, खलिहान में मुँह लगा देनेवाली गाय को मार-मार कर बेदम कर देते हैं, सिपाही की तरह रात-रात पहरा देनेवाले कुत्ते को एक कौर रोटी देना जिन्हें खल जाता है वे रागात्मिका वृत्ति के मर्म को क्या जानें! यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि पशुओं और जीवों का जो प्रेम केवल प्रदर्शन के लिए होता है, उसमें रागात्मक भावना का संचार मानना उचित नहीं। बहुत से लोग खूबसूरत कुत्ते पालने के शौकीन होते हैं, उन्हें दूध पिलाते हैं, मोटर में घुमाते हैं; किन्तु उनकी खूबसूरती में तनिक भी अन्तर पड़ा तो निर्दयतापूर्वक उनका स्थान दूसरों को देते हैं। यह रागात्मिका वृत्ति नहीं है।

पशुओं तथा अन्य जीवों के प्रति, प्रकृति के प्रति मनुष्य के हृदय में जो दुर्भावना है, उसकी बात जाने दीजिए, स्वयं अपने ही समाज में उसने कितनी घृणा, कितना द्वेष उत्पन्न कर रखा है! रागात्मिका वृत्ति से प्रेरित होकर महात्माओं और कवियों ने इस भेदभाव को कम करने की सदैव कोशिश की है। महात्मा कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक आधार पर खड़ा करने के उद्देश्य से बहुत से पद कहे हैं; उनमें से कुछ देखिए :—

कबीर की रागात्मिका वृत्ति

"साधो! एक रूप सब माहीं।
अपने मनहिं बिचारि कै देखौ और दूसरो नाहीं।
एकै त्वचा, रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र के माहीं।
कहीं नारि वहीं नर होइ बोलै गैब पुरुष वह नाहीं।
शब्द पुकारि सत्त मैं भाखौं अन्तर राखौं नाहीं।
कहैं कबीर ज्ञान जेहि निरमल बिरले ताहिं लखाहीं।"

× × × ×

"(भाई रे) दुइ जगदीस कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया।
अल्लह-राम करीमा-केसो (ही) हजरत नाम धराया।"

× × × ×

"वही महादेव, वही महम्मद ब्रह्मा-आदम कहिए।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमीं पर रहिए।
वेद-कितेब पढ़ें वे कुतबा, वे मोलना वे पाँड़े।
बेगरि बेगरि नाम धरायें एक मटिया के भाँड़े।
कहहिं कबीर वे दूनों भूले, रामहिं किनहुँ न पाया।
वे खस्सी वे गाय कटावैं बादहिं जन्म गँवाया।"

साम्प्रदायिक विषमता के अतिरिक्त और भी अनेक मार्ग हैं जिन पर चल कर मनुष्य मनुष्य का विरोधी बनता है। वर्तमान युग में तो राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद तथा व्यापार-वाणिज्य द्वारा अन्य देशों के सर्वापहरण के लिए भिन्न-भिन्न देशों में स्थापित होने वाले संगठन रागात्मिका वृत्ति के प्रबल शोषक हो गये हैं। अपने पास अकूत खाद्यभंडार रख कर भी पड़ोस में लोगों को भूखों मरने देना रागात्मिका वृत्ति का पोषण करना नहीं है। और न ऐसी सहायता देना ही रागात्मिका वृत्ति के अन्तर्गत मान्य हो सकता है, जिसके मूल में कोई स्वार्थ-भावना हो। हमारे देश में ईसाई धर्म के बहुत से प्रचारक मानवता के नाम पर, किन्तु ईसाई सम्प्रदाय के प्रचार

रागात्मिक भाव-शून्यता के विविध स्वरूप

का छिपा हुआ उद्देश्य लेकर शिक्षा, ओषधि आदि का वितरण करते हैं; यह कार्य उनकी रागात्मिका वृत्ति की सूचना नहीं देता। इस विराट ब्रह्माण्ड का अधिकांश प्राणी-समूह अनन्त, कठोर संघर्ष में पड़कर किसी का खाद्य और किसी का खादक बन रहा है, जीवों की सामान्य प्रवृत्ति ही ऐसी है। किन्तु अपनी हिंसात्मक प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर के प्रेम में मग्न होना और सर्वत्र प्रेम का संदेश पहुँचाना ही हम सब का कर्त्तव्य होना चाहिए।

———

अध्याय १६

शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—३

प्रकृति-प्रेम (क)

भारत के प्राचीन आर्यों ने मानव जीवन की कल्पना प्रकृति के सम्पर्क में की थी। यद्यपि दस्युओं और दानवों को नियंत्रित किये रहना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते थे, तथापि यह कहा जा सकता है कि उन्होंने समरोन्मुख समाज के स्थान में ऐसे समाज को प्रश्रय दिया, जिसमें हिंसात्मक प्रवृत्ति साधनात्मक स्तर पर पहुँचायी जाकर आत्मरक्षा और प्रजा-रक्षा के प्रयत्न तक ही सीमित कर दी गयी। आर्यों के सामाजिक संगठन में वर्वरता को कोई स्थान नहीं दिया गया; वह मानव व्यक्तित्व के उच्चतम विकास की ओर उन्मुख किया गया। यह कहा जा सकता है कि अनुशासित और राजतंत्र-पोषित वर्णाश्रम व्यवस्था से बढ़कर शान्ति-सुख-वर्द्धक विधान आज तक मनुष्य-समाज के सामने प्रस्तुत नहीं हो सका है; कारण यह है कि इस व्यवस्था में रागात्मिका वृत्ति के विकास को सब से अधिक अवसर दिया गया था; मनुष्य ने मनुष्य ही को नहीं प्यार किया था, वरन् मानवेतर शेष सृष्टि, शेष प्रकृति को भी अपने हृदय का अनुराग दिया था।

प्राचीन संस्कृत काव्य में अनेक विशेषताएँ दिखायी पड़ती हैं, जिनमें से प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

प्राचीन संस्कृत काव्य में प्रकृति चित्रण

(१) प्रकृति के असाधारण दृश्यों को ही महत्त्व नहीं दिया जाता था; कवि की रुचि साधारण दृश्यों में भी रमण करती थी।

(२) प्रकृति के कोमल और उग्र, दोनों ही रूप कवि को आकर्षित करते थे।

(३) कवि की प्रवृत्ति प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण करने की ओर अधिक रहती थी।

(४) कवि प्रकृति को केवल भाव की उत्तेजना ही के लिए आवश्यक नहीं मानता था; वह उसका उपयोग आलम्बन के रूप में भी करता था।

शुक्ल जी ने उक्त विशेषताओं को अपनी समीक्षा द्वारा महत्त्व देकर

उन्हें पुनर्जीवन प्रदान करने की चेष्टा की है। यहाँ हमें यह देखना है कि प्रकृति के सम्बन्ध में उनके विचार संगत हैं या नहीं।

प्रथम विशेषता पर जब हम बिचार करते हैं तो हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संस्कृत के अनेक कवियों ने साधारण के साथ-साथ असाधारण दृश्यों को भी अंकित करने की ओर प्रवृत्ति दिखायी है, काव्य में प्रकृति की सामान्य इकाइयों के साथ-साथ विराट इकाइयों से भी वे बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित हुए हैं; इधर शुक्ल जी केवल असाधारण दृश्यों में रुचि रखनेवालों को सच्चा सहृदय और भावुक मानने के लिए तैयार नहीं। इस सम्बन्ध में कौन सी बात मानी जाय और कौन सी न मानी जाय ?

शुक्ल जी ने असाधारण की अपेक्षा साधारण के प्रति अधिक मान्यता दिखायी है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इसका कारण केवल यह है कि साधारण उपेक्षित है; यह नहीं कि असाधारण का कोई महत्त्व ही नहीं है। शुक्ल जी उसी रस-दृष्टि के समर्थक हैं जो साधारण और असाधारण दोनों ही में सौन्दर्य का दर्शन कराती है। वे स्वयं कहते हैं :—

"साधारण-असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करनेवाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृति अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्त्व या व्यंजन-प्रणाली के असाधारणत्त्व ही में काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं।"

स्पष्ट है कि असाधारण के प्रति शुक्ल जी का विरोध तभी संभव है, जब साधारण की ओर से कवि अथवा सहृदय का सारा ध्यान हटा कर वह स्वयं को उसके एकान्त अनुराग का पात्र बना ले। उनकी दृष्टि में साधारण से असम्बद्ध असाधारण का कुछ महत्त्व नहीं रह जाता और फिर भी यदि कोई उसे महत्त्व देना चाहता है तो वे उसे न कवि मानने के लिए तैयार हैं और न सहृदय अथवा भावुक। संक्षेप में, शुक्ल जी का आशय हम यह समझें कि 'असाधारण' भी—'असाधारण' ही नहीं—हमारे अनुराग का पात्र हो सकता है, किन्तु प्रत्येक अवस्था में हमारी रसिकता की कसौटी 'साधारण' ही रहेगी।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि 'असाधारणता' ही को रसग्राहकता

की कसौटी मान लिया जाय तो उसमें क्या हर्ज है ? इसका समाधान यह है कि 'असाधारण' में एक ऐसा तत्त्व विद्यमान रहता है जो, 'साधारण' के सामान्य वातावरण के सम्पर्क से शून्य रहकर हमारे रजोगुणी भाव को, हमारी विलासिता को सहज ही उद्दीप्त कर सकता है; यह तत्त्व 'साधारण' में नहीं रहता, अतः यदि उक्त तत्त्व के आधार पर ही 'साधारण' की परीक्षा होगी तो वह सदैव उपेक्षित होगा। यह उपेक्षा हममें जितनी ही बढ़ेगी उतनी ही हमारी रागात्मिका वृत्ति संकुचित होगी; इस संकोच से सतोगुण का लोप होगा और उससे रस का उद्रेक ही संभव नहीं रह जायगा। 'असाधारण' को अनुचित मान्यता देने से काव्य की कितनी बड़ी क्षति होगी यह सहज ही समझा जा सकता है।

असाधारण और साधारण का समन्वय

जहाँ तक प्राकृतिक दृश्यों का सम्बन्ध है, उक्त सिद्धान्त के प्रयोग से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि असाधारण और साधारण का समन्वय होना चाहिए। दूसरे शब्दों में यह बात इस प्रकार कही जा सकती है कि मनुष्य के साधारण दैनिक जीवन के मध्य में, साधारण दृश्यों की संगति के साथ, यदि असाधारण प्राकृतिक दृश्यों की नियोजना की जाती है तो वह सर्वथा उचित है; वहाँ उसका पूर्ण उपयोग और गौरव है। यदि असाधारण प्राकृतिक दृश्य भी, साधारण दृश्यों की तरह ही, मानव-हृदय के रागात्मक तत्वों की सरल, सुन्दर और सरस अभिव्यक्ति के माध्यम हो जायँ, तो काव्य की सर्वाङ्ग सफलता में संदेह ही क्या रहे ? महाकवि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति ने इसी प्रकार का समन्वय प्रस्तुत किया है; अवलोकनार्थ यहाँ कतिपय श्लोक दिये जाते हैं :—

नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः सुरेन्द्रनीतैः पवनोपनीतैः।
घनाम्बु कुम्भैरभिषिच्यमाना रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति।
घनोपगूढं गगनं न तारा न भास्करो दर्शनमभ्युपैति।
नवैर्जलौघैर्धरणी वितृप्ता तमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशः।
महान्ति कूटानि महीधराणां धाराविधौतान्यधिकं विभान्ति।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातै र्मुक्ता कलापैरिव लम्बमानैः।
शैलीपल प्रस्खलमानवेगाः शैलोत्तमानांविपुलाःप्रपाताः।
गुहासु संनादित बर्हिणासु हारा विकीर्यन्त इवावभान्ति।

शीघ्रं प्रवेगा विपुलाः प्रपाता निधौत शृङ्गोपतला गिरीणाम्।
मुक्ता कलाप प्रतिमाः पतन्तो महागुहोत्संगतलैर्भ्रियन्ते।"†

—वाल्मीकि

"रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरित रुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।
त्वामासार प्रशमित वनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रम परिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथम सुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः।"‡

—कालिदास

---

†जैसे नरेन्द्र मनुष्यों के द्वारा लाये हुए जल के घड़ों से अभिषिक्त होकर शोभा को प्राप्त होते हैं, वैसे ही पर्वतेन्द्र सुरेन्द्र-प्रेरित पवनों द्वारा आनीत मेघ-जल के घड़ों से अभिषिक्त होकर अपने रूप और श्री की उत्कृष्टता दिखा रहे हैं।

आकाश को बादलों ने ढक लिया है, तारा अथवा सूर्य किसी का भी दर्शन नहीं हो रहा है। अन्धकार में लिप्त दिशाएँ जानी नहीं जा रही हैं। नये जल की राशि से धरती तृप्त हो गयी है।

बड़े बड़े पर्वतों के ऊँचे शिखर मोतियों के अनेक समूहों के समान नीचे गिरनेवाले झरनों की धारा से धुलकर अत्यन्त शोभायमान हो रहे हैं।

उत्तम पर्वतों के अनेक झरने—पर्वत के पत्थरों पर टकराने से. जिनका वेग कम पड़ गया है—मयूरों द्वारा गुंजित गुहाओं में टूटे हार की तरह फैल रहे हैं।

पर्वतों की बड़ी गुहाएँ अपने अङ्क में अत्यन्त अधिक वेग से चलने वाले अनेक झरनों को धारण कर रही हैं, जो मोतियों के समूह के समान गिरते हुए पर्वत-शृंगों के पास के स्थान को धो रहे हैं।

—वाल्मीकि

‡मेघदूत में यक्ष बादल से कह रहा है; हे मेघ, पद्मरागादि मणिप्रभा के मिश्रण सा दर्शनीय यह इन्द्रधनुष वल्मीक (बांबी) से उदित हो रहा है। इस इन्द्रधनुष से तुम उसी प्रकार शोभा को प्राप्त होगे जैसे गोप वेषधारी विष्णु अथवा गोपाल मोर पंख के कारण निरुपम कान्ति को प्राप्त होते हैं।

†मूसलाधार जल वर्षा के द्वारा दावानल को शान्त करने वाले तथा आगे के परिश्रम से क्लान्त तुमको पाकर यह आम्रकूट पर्वत अपने शिर पर धारण करेगा, क्योंकि उपकृत होने पर क्षुद्र जन भी मित्र के स्वागत से विमुख नहीं होते, यह आम्रकूट तो क्षुद्र भी नहीं है, सद्भाव-सम्पन्न और श्रेष्ठ है।

—कालिदास

"इह समद शकुन्ताक्रान्त वानीर वीरुत्
प्रसव सुरभि शीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फल भर परिणामश्याम जम्बू निकुंज-
स्खलन मुखर भूरि स्रोतसो निर्झरिण्यः।"*
—भवभूति

इन पंक्तियों में अंकित प्रकृति-चित्र पर थोड़ा विचार करने से यह अवगत होगा कि इनमें असाधारण प्राकृतिक दृश्य सामान्य मानव जीवन के सम्पर्क से साधारणीकृत हो गये हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र शबरी के हार्दिक प्रम के प्रतीक-स्वरूप बेर स्वीकार करते समय तथा श्रीकृष्ण विदुर के घर साग खाते समय हुए थे। महान् प्राकृतिक सौन्दर्य अथवा मानव-सौन्दर्य अपनी ऊँचाई के अभिमान में यदि सीधा तन कर ही खड़ा रह जाय तो हम उसका पूर्ण परिचय नहीं पा सकते और उस रूप में वह हमारे लिए निरर्थक है; उसे हमारे साथ रागात्मक सम्बन्ध धारण करना ही पड़ेगा। असाधारण प्राकृतिक दृश्यों के सम्बन्ध में शुक्ल जी के मत से जिन लोगों को घबराहट है उन्हें समझना चाहिए कि उनकी व्याकुलता बढ़ाने वाली कोई भयंकर बात शुक्ल जी ने नहीं कही है; वे मानव जीवन में सर्वत्र और सब ओर रागात्मक वृत्ति का प्रसार मात्र चाहते हैं, जिसके प्रकाश में असाधारण इतना असाधारण न रह जायगा कि उसके लिए सामने के साधारण को त्याग कर दौड़ लगानी पड़े।

तमाशबीनी

शुक्ल जी ने प्रकृति-चर्चा के प्रसंग में उचित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कहीं-कहीं मार्मिक शब्दों का प्रयोग किया है; असाधारणत्व के अनुराग में डूबी हुई रुचि को कहीं 'तमाशबीनी' के रंग में रंगी हुई ही नहीं, अत्यन्त 'स्थूल और 'भद्दी' भी कहा है। निम्नलिखित अवतरणों में ये प्रयोग देखे जा सकते हैं :—

१. "जो केवल मुक्ताभास हिम बिन्दु मंडित मरकताभ शाद्वल जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्णस्फुरण की विशालता, भावना और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"

*इन बेत के कुंजों को देखो जिनमें बैठकर आनन्दोन्मत्त पक्षी कलकंठ से कूजन कर रहे हैं, इन झरनों को देखो जिनके प्रवाह पर इन कुंजों की छाया पड़ रही है और जो इन कुंजों से गिरे हुए फलों के कारण सुगन्धित हो रहे हैं। देखो जब ये झरने जामुन के पके फलों के गुच्छों से लदी शाखाओं से टकराकर प्रवाहित होते हैं तब अनेक स्रोतों में इनके फूट पड़ने से कितना सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। —भवभूति

(२) स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत अनूठी चमत्कारपूर्ण वस्तुओं पर मुग्ध होने में नहीं है। जितने आदमी भेड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं वे सब प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं होते। अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्त्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है और वह हृदय के गहरे तत्त्वों से सम्बन्ध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतिशबाजी, जुलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं, यह वही रुचि है। काव्य में इसी रुचि के कारण बहुत से लोग अतिशयोक्तिपूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्त्व समझने लगे।"

❀ ❀ ❀ ❀

(३) "केवल असाधारणत्त्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं।"

उक्त अवतरणों में से प्रथम और द्वितीय अवतरणों में 'तमाशबीन', 'स्थूल', 'भद्दी' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। तृतीय अवतरण में वह कसौटी बतायी गयी है, जिसके आधार पर प्रकृति प्रेम की परीक्षा होनी चाहिए। प्रकृति के प्रति शुक्ल जी के इस आग्रह को उनकी व्यक्तिगत रुचि से प्रसूत बता कर उनका महत्व घटाने की चेष्टा हिन्दी के जानकार क्षेत्रों में भी की जाती है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रकृति के प्रति अगाध अनुराग, रागात्मिका वृत्ति-जनित अनन्त प्रेम लेकर शुक्ल जी आधुनिक युग में अवतीर्ण हुए थे; या तो उनका दुर्भाग्य था कि वे वर्त्तमान पीढ़ी में उत्पन्न हुए, जब हिन्दी के अधिकारी विद्वान भी 'व्यक्तिगत रुचि' कह कर साधना-सम्भूत, उच्च-संस्कार-सम्पन्न व्यक्तित्व की विशेषताओं को उपेक्षणीय ठहरा सकते हैं या वर्तमान पीढ़ी ही का दुर्भाग्य था कि सभ्यता और संस्कृति के कृत्रिम स्वरूपों का उपासक मनोनुकूल साहित्य-नेता उसे नहीं मिला। समय सब से बड़ा समालोचक है, हमें धैर्य धारण कर के उसके निर्णय की प्रतीक्षा करनी चाहिए; वह हमें निश्चित रूप से बता देगा कि दुर्भाग्य वास्तव में किसका था और किसका नहीं था।

'तमाशबीनी' कहाँ से उत्पन्न होती है तथा प्रकृति का सच्चा अनुराग किस वातावरण में विकसित होता है, शुक्ल जी ने इसे समझाने में कोई त्रुटि नहीं की है। उनका कहना है कि साधारणतया किसी भी सुन्दर वस्तु को देख कर हम उससे प्रभावित होते और उसे ग्रहण करना चाहते हैं। इसे भी वे प्रेम ही मानते हैं, किन्तु यह स्वार्थ से प्रेरित होता है इस कारण इसको लोभ के समकक्ष ही स्थान देते हैं। इसके विपरीत एक प्रकार का प्रेम वह है

जो बहुत दिनों तक किसी वस्तु या व्यक्ति का साथ रहने के कारण सहज ही संचारित हो जाता है और किसी प्रकार का स्वार्थ, हेतु अथवा उद्देश्य लेकर नहीं चलता। इस प्रकार के प्रेम को ही वे सच्चा प्रेम मानते हैं, जिससे प्रभावित होकर बम्बई से लौटा हुआ ग्रामीण वहाँ के चौपाटी समुद्रतट की अपेक्षा अपने गाँव के कँटीले बबूलोंवाले वन को देख कर तथा उनके बीच चल कर अधिक सुखी होता है।

शुक्ल जी ने जिन लोगों की 'तमाशबीनी' और 'खलता' की ओर संकेत किया है, वे भी अन्ततोगत्त्वा उन प्रभावों से मुक्त नहीं हो सकते जो मनुष्यों ही को नहीं, पशुओं को भी आक्रान्त किये बिना नहीं रहते। 'तमाशबीन' और 'खल' भी यदि ध्यान देकर विचार करेंगे तो देखेंगे कि बहुत दिनों के साथ के कारण उनका प्रेम भी कहीं न कहीं असुन्दर, कठोर, उग्र वस्तुओं पर टिका हुआ है। जो लोग अपने भीतर सहृदयता की खोज कर सकें उन्हें अनावश्यक-रूप से इन शब्दों को अपने ऊपर चढ़ा लेने की आवश्यकता नहीं।

—: ० :—

अध्याय २०

शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—३

प्रकृति-प्रेम (ख)

प्राचीन संस्कृत काव्य में प्रकृति के असाधारण और साधारण स्वरूपों के प्रति अनुराग के सन्तुलन की चर्चा की जा चुकी; अब उसकी द्वितीय विशेषता—प्रकृति के कोमल और उग्र दोनों ही के प्रति समान प्रेम की प्रवृत्ति का यहाँ उल्लेख किया जायगा। किन्तु आगे बढ़ने के पहले हमें उस आधार की खोज करनी होगी जहाँ कोमल और उग्र की अन्तर्निहित एकता का अनुभव किया जा सकता है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में भगवान् कृष्ण ने प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अर्जुन से कहा है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश एवं मन, बुद्धि तथा अहंकार इन आठ तत्त्वों से मेरी अपरा अर्थात् जड़ प्रकृति * का संगठन होता है। आगे उन्होंने बताया है कि मनुष्य आदि जीवों की समष्टि से मेरी परा प्रकृति अर्थात् चेतन प्रकृति* का निर्माण सम्पन्न होता है। चेतन प्रकृति में जड़ प्रकृति भिन्न-भिन्न मात्राओं में विद्यमान रहती है।

प्रकृति के तीन गुण

चेतन प्रकृति के तीन गुण हैं—(१) तमोगुण; (२) रजोगुण; (३) सतोगुण। तमोगुण-विशिष्ट पशु-पक्षी आदि वे जीव हैं जिनकी सम्पूर्ण शक्ति भूख-प्यास-निवारण, संतानोत्पादन तथा आत्मरक्षण में समाप्त हो जाती है। रजोगुण-विशिष्ट जीव वे मनुष्य हैं जो योगक्षेम-चिन्ता के अतिरिक्त अधिकार-लालसा से भी प्रेरित होते हैं। शुद्ध सतोगुण की भूमि ही काव्य की भूमि है जहाँ सहृदय का मन संकुचित स्वार्थ-भावना से मुक्त होकर मानव मात्र के स्तर पर भावानुभूति में मग्न होता है। प्रगट रूप में तो यह जान पड़ेगा कि ये तीनों ही गुण एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और किसी का किसी से कोई लगाव नहीं

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। अकेला सतोगुण न जीवन का निर्माण कर सकता है और न काव्य का, क्योंकि उसके लिए परिस्थिति अथवा पृष्ठभूमि तो तमोगुण और रजोगुण द्वारा ही तैयार होती है। महाकवि वाल्मीकि के सतोगुण के उद्रेक से जिस अनुपम काव्य की संभावना हुई वह कहाँ होता, यदि उनकी भावना को तमोगुण और रजोगुण के पारस्परिक संघात से उत्पन्न हृदयद्रावी घटना संघटन के रूप में एक बहुत बड़ी ठेस न लगती ? वास्तव में तीनों ही गुणों के सम्मिलित प्रयत्न से विश्व-जीवन का सौन्दर्य-तरंगित रूप खड़ा होता है हमारे समष्टिगत जीवन की आन्तरिक एकता का यही आधार है; यहीं उस रागात्मिका वृत्ति का उद्गम-स्थल है जो प्रगट विभेदों को विस्मृति के गर्भ में डाल कर सर्प और सिंह जैसे हिंसक जीव के प्रति भी मनुष्य के हृदय को प्रेम-प्लावित बनाती है; यही नहीं, सर्प और सिंह भी अपनी हिंसात्मक प्रवृत्तियों को भुला कर मनुष्य के अनुचर बने फिरते हैं।

जिस ऐक्यानुभूति के द्वारा सिंह और सर्प भी हमारे हृदय के समीप स्थान पाते हैं उसी की सहायता से हम दुरारोह पर्वत, अथाह समुद्र, आँधी-तूफान, काँटोंभरी झाड़ी आदि को भी, अपने योगक्षेम की वासना से मुक्त होकर अपना प्यार दे सकते हैं। चन्द्रमा की मुसकान, टटका गुलाब का फूल, भ्रमरों का गुंजार, सुकुमार वायु-विकम्पित आम्रपल्लव आदि का सौन्दर्य यदि मोहक है तो भय-मुक्त अवस्था में रह कर हमें घने जंगलों का, कुश-कण्टकमय, आरोह-अवरोह-वेष्टित पहाड़ी पथों का,—जिनमें प्राण जाने की आशंका रह रह कर मूर्त्तिमती होती चलती है,—आकर्षण भी अनिवार्य हो उठता है। मनुष्येतर जीव बाह्य प्रकृति के मधुर रूप का भी रसास्वादन नहीं कर सकता, साधारण मनुष्य उसके केवल उसी रूप में रमणीयता प्राप्त करेगा; किन्तु यदि सहृदय रसज्ञ उसके मधुर और उग्र दोनों ही रूपों के प्रति स्निग्ध भाव न रखेगा तो काव्य का मार्ग ही संकीर्ण हो जायगा।

शुक्ल जी की रसिक दृष्टि

शुक्ल जी ने उच्च कोटि के एक सहृदय रसिक की दृष्टि पायी थी; वे बाह्य प्रकृति के दोनों ही रूपों के सच्चे प्रेमी थे। यही नहीं, जिस कवि में प्रकृति के प्रति ऐसी रसार्द्र दृष्टि न हो उसे वे कवि ही मानने के लिए तैयार न थे। निम्नलिखित पंक्तियों में उनका यह भाव हृदयंगम करने योग्य है :—

"जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलों के बीच से घूम घूम कर बहते हुए स्वच्छ नालों, इधर-उधर उभरी हुई बेडोल चट्टानों और रङ्ग बिरंगे फूलों से गुछी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है! यह रसदशा नहीं

तो और क्या है ? ❀ ❀ ❀ जो इस दशा को नहीं पहुँचते उनका हृदय बहुत संकुचित या निम्नकोटि का होता है। कविता उनसे बहुत दूर की वस्तु होती है, कवि वे भले ही समझे जाते हों।"

तथा कथित सभ्यता से असंतोष

जैसे साहित्य-सम्बधी अन्य विचारों को प्रगट करने में शुक्ल जी बेलाग रहे हैं वैसे ही प्रकृति के प्रति मिथ्या प्रेम की घोषणा करनेवालों को भी उन्होंने अपने वाग्वाण का शिकार बनाया है। उनके हृदय की यह प्रवृत्ति उसकी क्षुद्रता की द्योतक न होकर महत्ता ही का परिचय देनेवाली है, क्योंकि औरों को नीचे गिराकर अपना गौरव स्थापित करने की भावना के स्थान में उन्हें सुरुचि-सम्पन्नता की ओर अग्रसर होते हुए देखने की उनकी कामना रही है। यह सही है कि पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं हैं और न हो सकती हैं; ऐसी अवस्था में यदि सब से बड़ी उँगली यह कहे कि अन्य उँगलियाँ छोटी क्यों हैं, वे सब मेरे समान क्यों नहीं हो जातीं तो यह तो कहा जा सकता है कि इस प्रकार की लालसा उच्च स्तर पर स्वाभाविक है, किन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि वह देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप नहीं है। किन्तु एक बात और सम्भव है; शुक्ल जी जिस विचारधारा के पोषक थे वह कालक्रम से अल्पमतानुमोदित हो गयी है; योरपीय साहित्य में दीक्षित हिन्दी साहित्यिकों की वर्त्तमान पीढ़ी योरोपियन विचार-धाराओं और संस्कारों के प्रति ममता का भाव रखने लगी है; यह स्पष्ट है कि उसे उसके यथार्थ रूप में चित्रित कर देना उन्हें अभीष्ट रहा है और इसी उद्देश्य से उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को शक्तिमयी तथा रोचक बनाने का प्रयास किया है। एक प्रतिकूल वातावरण में उन्हें मानो यह कहने के लिए वाध्य होना पड़ा है कि वर्त्तमान सभ्यता की चमक-दमक में तुम्हारे साहित्यिक मत भले ही भड़कीले जान पड़ें, किन्तु उनका सच्चा स्वरूप क्या है, सो मैं तुम्हें दिखाये देता हूँ, देख लो, जिन विचारों और भावों का समथन मैं कर रहा हूँ वे तुम्हारे विचारों और भावों की अपेक्षा हलके तो कदापि नहीं है, केवल उनके समकक्ष भी नहीं हैं, वरन उनसे अधिक बलशाली, अधिक तर्कसंगत और विशाल-हृदया मानवता की दृष्टि से अधिक उदार और उचित हैं। अतएव, उनका वास्तविक संघर्ष हिन्दी के लेखकों से नहीं है, वरन् उस सभ्यता से है जो मनुष्य को अपना प्रकृत गौरव भूल जाने और उसकी याद आने पर लज्जित होने के लिए प्रेरित कर रही है, जिसके कारण हमारी सहृदयता, भावुकता का लोप होता जा रहा है। वर्त्तमान सभ्यता से चिढ़ने

के उचित कारण उनके सामने थे, इसका पता निम्नलिखित पंक्तियों से लगेगा—

"मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे छोटा-मोटा जङ्गल है, जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत हैं। संयोग से उन दिनों वहाँ पुरातत्त्व विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था। रात हो जाने से उस दिन हम लोग स्तूप नहीं देख सके; सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुओं की कैसी महक आ रही है।' इस पर लखनवी महाशय ने चट मुझे रोक कर कहा—'यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।, मैं चुप हो रहा; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है। पीछे ध्यान आया कि यह वही लखनऊ है जहाँ कभी यह पूछने वाले भी थे कि गेहूँ का पेड़ आम के पेड़ से छोटा होता है या बड़ा।"

इस अवतरण के अन्तिम दो वाक्यों में वर्त्तमान सभ्यता के प्रकृति-विरोधी स्वरूप पर कितना प्रखर प्रहार किया गया है! फिर भी लखनवी महाशय को उक्त प्रहार व्यक्तिगत रूप से स्पर्श नहीं करता; वे तो एक परम्परा, एक परिस्थिति की एक प्रभावित इकाई के रूप ही में आते हैं। साधारणीकरण के पक्षपाती शुक्ल जी अपने प्रहारों का भी साधारणीकरण कर लिया करते थे।

जीवन में सुकुमार और प्रचण्ड, मृदु और कर्कश, ये दो पक्ष उसके प्रत्येक विभाग में शाश्वत हैं। परोक्ष सत्ता को केवल सुकुमार और मधुर रूप में ग्रहण करनेवाले अकर्मण्य, विलासी और कायर हो गये हैं। प्रकृति के केवल कोमल और सुन्दर रूप पर जिन्होंने मुग्ध होने का अभ्यास कर लिया है वे भी स्वयं को जीवन-सम्बन्धी पूर्ण दृष्टि से वंचित कर लेते हैं और एकांगी संस्कारों से आक्रान्त होकर संकुचित और दुर्बल-हृदय हो जाते हैं। शुक्ल जी का आग्रह है कि यदि तुम्हें प्रकृति के सुन्दर रूप से प्रेम है तो उसके असुन्दर रूप से भी प्रेम करो। वे कहते हैं :—

प्रकृति का कोमल और कठोर रूप

"कँकरीले टीलों, ऊसर पटपरों, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों या बबूल करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करने वाली कोई बात नहीं होती! जो फ़ारस की चाल के बगीचों के गोल चंखूटे कटाव, सीधी सीधी रविशें, मेहँदी के बने भद्दे हाथी-घोड़े, काट-छाँट कर सुडौल किये हुए सरो के पेड़ों की कतारें, एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब आदि देखकर हा वाह वाह करना जानते हैं, उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयों को वैसा ही दुःखदायी होगा जैसा सज्जनों को खलों का।" [चि० द्वि० भा० पृ० ७]

यहाँ यह न समझना चाहिए कि शुक्ल जी किसी को 'खल' कह रहे हैं; सज्जनों को खलों का साथ पड़ जाने से जितना क्लेश होता है, उसके अनुमान के सहारे वे वास्तव में उस पीड़ा को व्यक्त करना चाहते हैं जो उनके जैसा भावुक और सहृदय व्यक्ति बाह्य प्रकृति के कृत्रिम स्वरूपों की प्रशंसा सुन कर अनुभव करता है। 'खलों' शब्द का प्रयोग कर के उन्होंने अपनी तीखी व्यथा मार्मिक शब्दों में व्यक्त की है। 'खल' लोग भी अगर चाहें तो इस प्रकार की विलक्षण रुचि वाले लोगों को पागल कह सकते हैं; कवियों को लोगों ने पागल कहा भी है और कवियों ने इस पर कभी आपत्ति भी नहीं की है। किन्तु सच पूछिए तो 'खल' और 'पागल' का कोई जोड़ नहीं है; 'पागल' रचनात्मक है, 'खल' ध्वंसात्मक है। पागल जीवन-केन्द्र के अधिक निकट है, 'खल', इसके विपरीत, स्वयं को उसके निकट मानता हुआ भी उससे बहुत दूर है। कवियों का पागलपन समाज की एक अमूल्य निधि है, और शुक्ल जी 'कवि' के सच्चे अर्थ में कवि थे, इसमें सन्देह नहीं।

किन्तु यहाँ यह भ्रम न हो जाय कि प्रकृति के उग्र स्वरूप के प्रति प्रेम अनुभव करने के लिए कवि की दृष्टि रखना आवश्यक है। नहीं, बहुत दिनों का साथ प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों ही रूपों के प्रति, साधारण मनुष्यों ही में नहीं, पक्षियों तथा अन्य जीव-जन्तुओं में भी, प्रेम उत्पन्न कर देता है। जहाँ हम अधिक समय तक निवास करते हैं वहाँ की उग्र, प्रचंड प्रकृति-मूर्त्तियों के प्रति भी हमारे हृदय में सहज अनुराग उत्पन्न हो जाता है। यह हमारी सामान्य प्रकृति है। हाँ इस प्रकृति का विशेष रूप से कवियों में विकास होने की आशा की जाती है; यदि उनमें उसका ऐसा विकास न हो तो शुक्ल जी उनके कवि होने ही में सन्देह करने लगेंगे; क्योंकि और कोई चूक जाय तो चूक जाय, किन्तु सच्चा और भावुक कवि इस सम्बन्ध में कैसे चूक सकता है! कहीं वह भी कृत्रिम सौन्दर्य का उपासक हो गया तो निस्सन्देह वे उसे क्षमा नहीं कर सकते। वही क्यों, सम्पूर्ण सहृदय-जगत् उसे क्षमा नहीं कर सकता।

जीवन में मधुर और कटु, सुकुमार और प्रचंड, कोमल और कठोर, ये दो पक्ष सभी ओर लक्षित होंगे; इनके द्वैत में अद्वैत भाव के दर्शन द्वारा सत्य के मूल में पहुँचने का प्रयत्न न कर के जब हम इनमें से किसी एक के प्रति आसक्त हो जाते हैं तब अधूरे सत्य की उपासना हमारे सामने अनन्त समस्याओं की सृष्टि करती है। प्रकृति के भी दो अङ्ग हैं, रागात्मक भाव विकास द्वारा इनकी अभिन्नता का संस्कार और अभ्यास ही हमें वह सुख दे

सकेगा, जिसका लाभ कराने की शक्ति उसमें है। सच्चा कवि इस मर्म को जानता है और प्रकृति के दोनों ही रूपों का चित्रण कर के हमें आनन्द-मग्न करता है। नीचे प्रकृति के दो चित्र दिये जा रहे हैं; एक में वाल्मीकि ने पम्पा की सरस शोभा का वर्णन किया है, दूसरे में प्रस्रवण गिरि की 'शार्दूल, सिंह, ऋक्ष, वानर, गोपुच्छ, मार्जार, आदि भयानक विभूतियों के भीमरव की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है :—

(१) "पश्य शीतजलां चेमां सौमित्रे पुष्करायुताम्।
चक्रवाकानुचरितां कारंडव निषेविताम्।
प्लवैः क्रौञ्चैश्च सम्पूर्णां महामृग निषेविताम्।
अधिकं शोभते पम्पा विकूजद्भि र्विहंगमैः।
× × × ×
हिमान्ते पश्य सौमित्रे वृक्षाणां पुष्प संभवम्।
पुष्पमासे हि तरवः संघर्षादिव पुष्पिताः।
आह्वयन्त इवान्योन्यं नगाः षट्पद नादिताः।
कुसुमोत्तंस विटपाः शोभन्ते बहु लक्ष्मण।" ×

(२) "अभिषिक्ते तु सुग्रीवे प्रविष्टे वानरे गुहाम्।
आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम्।
शार्दूल मृग संघुष्टं सिंहैर्भीम रवै र्वृतम्।
नाना गुल्मलता गूढं बहु पादम संकुलम्।
ऋक्षवानर गोपुच्छैर्मार्जारैश्च निषेवितम्।
मेघराशि निभं शैलं नित्यं शुचिकरं शिवम्।
तस्य शैलस्य शिखरे महतामायतां गुहाम्।
प्रत्यगृह्णत वासार्थं रामः सौमित्रिणा सह।"

---

(१) हे लक्ष्मण! शीतल जल वाले सरोवर से युक्त इस पम्पा को देखो, जहाँ चक्रवाक, कारण्डव, प्लव, क्रौञ्च, महामृग आदि विचरण कर रहे हैं। भाँति-भाँति की चिड़ियों के कूजन से पम्पा की बहुत अधिक शोभा हो रही है।

हे लक्ष्मण! देखो, हिम ऋतु का अन्त हो जाने पर वृक्षों में फूल निकल रहे हैं; मधुमास में तरुगण होड़ सी कर के पुष्पित हो रहे हैं। ये भ्रमरों के गुंजन से नादित पर्वत मानों एक दूसरे का आह्वान कर रहे हैं। हे लक्ष्मण! ये पर्वत फूलों की टोपी सी पहने हुए कितने शोभायमान हैं!

(२) अभिषेक के अनन्तर जब वानर सुग्रीव गुहा में चले गये, तब भाई के साथ राम प्रस्रवण नामक पर्वत पर आये। वहाँ बाघ और मृग का नाद होता था, सिंह भयङ्कर शब्द करते हुए विचरते थे। अनेक गुल्म-लताओं और वृक्षों के होने से वहाँ बड़ी सघनता थी। भालू, वानर, गोपुच्छ और बिलार का वहाँ निवास था। मेघराशि सरीखा वह पर्वत मङ्गल-राशि और पवित्राकारक था। उस पर्वत की चोटी पर जहाँ एक चौड़ी गुफा थी, वहीं राम ने लक्ष्मण के साथ अपना निवास निश्चित किया।

प्रस्रवण गिरि के वर्णन में विशेषता दिखायी पड़ेगी; मेघराशि के समान उस शैल को वाल्मीकि ने 'नित्यं शुचिकरं, शिवम्' कहा है। यह 'शुचिकरता' 'शिवता' कहाँ से आयी ? निश्चित रूप से यह काव्य का रागात्मक भाव है जिसने भयानक शैल को भी शुचिता के धाम, कल्याणकारी शंकर के रूप में परिणत कर दिया है। इसी रागात्मक भाव को स्वीकार कर के राम ने लक्ष्मण के साथ उस पर्वत की एक चौड़ी गुहा में अपना आवास निर्धारित किया।

प्राचीन संस्कृत काव्य की तीसरी विशेषता है प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण की प्रवृत्ति। यह संश्लिष्ट चित्रण क्या है ?

संश्लिष्ट चित्रण

मान लीजिए कि हम किसी बगीचे का वर्णन करना चाहते हैं; यह वर्णन दो प्रकार से किया जा सकता है, एक प्रकार के वर्णन में केवल इतना कह देना काफी समझा जायगा कि उसमें आम, बबूल, नीम, कदम्ब आदि वृक्ष हैं, कहीं कहीं फूल भी खिले हुए दिखायी पड़ते हैं, पक्षी कूजन कर रहे हैं, माली गा रहा है, आदि। इस वर्णन की विशेषता यह है कि बगीचे में जितनी भी वस्तुएँ हैं उन सब को एक दूसरे से असम्बद्ध रखा गया है; वे सभी तीन और छः की तरह एक दूसरे के अस्तित्त्व से उदासीन हैं। इस चित्रण को गणनात्मक कह सकते हैं, क्योंकि इसमें वस्तुओं की गणना मात्र कर दी गयी है। इसके विपरीत यदि बगीचे का वर्णन करते हुए यह कहा जाय कि बगीचे में आम की सुरभित मंजरियों द्वारा आकर्षित होकर गुंजार करते हुए भ्रमरों का दृश्य देखने तथा पल्लवों की ओट में बैठी हुई कोयल की कूक सुनने के लिए एक श्रमित यात्री शीतल छाया में बैठ गया है; उसके हृदय का आह्लाद नेत्रों द्वारा व्यक्त हो रहा है तो यह चित्रण संश्लिष्ट कहा जायगा, क्योंकि इसमें मंजरी, भ्रमर, यात्री इन तीनों ही में सम्बन्ध स्थापित करके आम के पेड़ का एक समन्वित चित्र उपस्थित करने का उद्योग किया गया है। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के पूर्वोद्धृत श्लोकों में पाठक देखेंगे कि संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करने के कारण ही वे मनोहर हो गये हैं।

बिम्बग्रहण

विज्ञान और काव्य में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि विज्ञान अमूर्त विचारों की शृङ्खला जोड़ता है और काव्य अमूर्त्त को मूर्त्त स्वरूप में ढालता है। दोनों ही शब्द-प्रयोग द्वारा यह कार्य करते हैं, किन्तु शब्द-प्रयोग को वे जिस शैली में ग्रहण करते हैं, उसमें भिन्नता दिखायी पड़ती है। उदाहरण के लिए 'गुलाब' शब्द विज्ञान के क्षेत्र में एक प्रकार के फूल का अर्थ प्रगट कर

के अपना काम कर चुकता है, किन्तु काव्य के क्षेत्र में केवल इतना करना पर्याप्त नहीं है; अगर 'गुलाब' शब्द के द्वारा हमारे मानसिक नेत्र के सामने कोई चित्र न खड़ा हुआ तो काव्य में उसकी कोई उपयोगिता नहीं। और चित्र तभी बन सकता है जब कोई वस्तु अन्य अनेक वस्तुओं के मेल में दिखायी जाय। गुलाब का फूल काँटों के बीच में ही खिलेगा और उस पर भौंरों का गूँजना स्वाभाविक है। अतएव काव्य में 'गुलाब' शब्द से जो संकेत ग्रहण किया जायगा वह फूल को काँटों और भौंरों से अलग कर के टिक नहीं सकेगा। इस चित्रात्मक ग्रहण को बिम्बग्रहण तथा शब्द को केवल असम्बन्धित रूप में स्वीकार करने की प्रक्रिया को अर्थग्रहण कहते हैं।

कालान्तर में संस्कृत काव्य के अन्तर्गत प्रकृति-चित्रण में भी बिम्बग्रहण कराने की प्रवृत्ति शिथिल हो गयी, कारण यह कि बिम्बग्रहण को सफल बनाने के लिए जिस कोटि के प्रकृति-निरीक्षण-प्रयास की आवश्यकता होती है उसका परवर्त्ती कवियों में अभाव हो गया।

प्राचीन संस्कृत काव्य की चौथी विशेषता है भाव को उद्दीप्त करने के लिए साधन मात्र के रूप में प्रकृति को ग्रहण करके उसे स्वतन्त्र रूप से भाव का आलम्बन बनाना। जब तक सृष्टि मात्र के प्रति रागात्मक सम्बन्ध का विकास काव्य के उद्देश्य के रूप में गृहीत था, तब तक प्रकृति के सुकुमार और उग्र, साधारण और असाधारण सभी रूपों के प्रति ममता का भाव लेकर काव्य चला और तब तक प्रकृति भी भाव के विकास के लिए आलम्बन बनती रही। क्रमशः विश्व-व्यापी अनुराग में कमी हुई, साहचर्य-सम्भूत प्रेम में शिथिलता आयी, प्रकृति के साधारण रूपों के प्रति आकर्षण का अभाव हुआ। सामाजिक समस्याओं के आक्रमण से बचने के लिए कवियों ने अपना ध्यान अधिक मात्रा में मनुष्य को देना शुरू किया और उसमें उलझ कर मानव रुचि सहज ही प्रकृति के प्रति उपेक्षाशील हो गयी। प्रकृति के असाधारण और केवल मधुर रूपों के प्रति अनन्य अनुराग स्वभावतः संस्कृत के परवर्त्ती कवियों की एक अलंकृति समझी जाने लगी। इसी के साथ साथ प्रकृति के समस्त रूपों को रस-योजना में आलम्बन बनाने का अभ्यास भी जाता रहा।

प्रकृति आलम्बन के रूप में

प्राचीन संस्कृत काव्य की इन चारों विशेषताओं को त्याग कर जब परवर्त्ती संस्कृत काव्य ने ह्रासमूलक प्रवृत्तियों को अपनाया तो उसका प्रभाव उन भाषाओं पर भी पड़ना स्वाभाविक था जिनका संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध

था। इन्हीं में हिंदी भाषा भी थी। दुर्भाग्य से जिस समय वह कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुई वह बड़ी उथल-पुथल का समय था, भारत के राजनैतिक जीवन-मरण का संघर्ष उपस्थित था। ऐसे समय में प्रकृति-निरीक्षण के लिए उचित अवकाश नहीं था। आगे भी जब हिन्दी भाषा अधिक शक्तिशालिनी हुई और उसमें उत्कृष्ट कवि उत्पन्न हुए, प्रकृति-चित्रण-कला अपने गौरव को नहीं प्राप्त कर सकी. यहाँ तक कि सूरदास और तुलसीदास के काव्य में भी उसे वह स्थान नहीं मिल सका जो वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के काव्य में प्राप्त था। आधुनिक हिन्दी काव्य के छायावाद-काल में प्रकृति के सुकुमार स्वरूप का कुछ साक्षात्कार नवीन कवियों ने किया, किन्तु उसके विशेष अग्रसर होने के पहले ही मानव-दुर्दशा की परिस्थितियों ने उन्हें इतना अधिक प्रभावित कर दिया कि प्रकृति-चित्रण-प्रवृत्ति को पुनः संकुचित होकर बैठ जाना पड़ा।

प्रकृति का उचित उपयोग

प्रस्तुत वातावरण में शुक्ल जी का प्रकृति-चित्रण विषयक आग्रह हिंदी काव्य के विकास के लिए सर्वथा हितकर है। यह सही है कि आज मानव-जीवन जिस दिशा में प्रवाहित हो रहा है उसमें शुक्ल जी के आदर्श के प्रति सहानुभूतिपूर्वक विचार होना कठिन है, किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि विकास के उच्च स्तर पर पहुँचा हुआ साहित्य-रसिक यदि प्रकृति का काव्य में उचित से उचित उपयोग न कर सका तो उसकी सहृदयता के प्रति संदेह का एक सबल कारण विद्यमान ही रह जायगा। हिन्दी काव्य की समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि हम उसमें प्रकृति के प्रति पूर्ण प्रीति की प्रतिष्ठापना करें, उसके संहारक और रचनात्मक, असामान्य और सामान्य सभी रूपों के प्रति स्नेह का भाव विकसित करें, संश्लिष्ट चित्रण की ओर अधिक ध्यान दें और केवल उद्दीपन के लिए उसका प्रयोग न करके तथा उसकी अनेक परिस्थिति-वर्णनाओं को स्वभावोक्ति आदि अलंकारों में परिगणित करने का अभ्यास त्याग कर उसके विराट भंडार से अपने भावों के विकास के लिए विषय-संग्रह करें, आलम्बन ग्रहण करें।

शुक्ल जी के समीक्षा सिद्धान्त परस्पर-सम्बद्ध

प्रकृति के सम्बन्ध म शुक्ल जी के विचारों से अवगत होकर अब हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि वे प्रकृति का प्रयोग काव्य में आलम्बन के रूप में क्यों करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में आगे बढ़ने के पहले हमें यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि उनके ये समीक्षा-सम्बन्धी सहायक सिद्धान्त न केवल मूल 'भावयोग' सिद्धान्त से पल्लवित और

विकसित हुए हैं, वरन आपस में भी एक दूसरे से इस प्रकार गुँथे हुए हैं कि उन्हें एक दूसरे से पृथक करना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए अव्यक्त ब्रह्म की समस्त व्यक्त विभूति में, ब्रह्म-दर्शन-प्रयत्न करने के अभ्यास से हम क्रमशः रागात्मिका वृत्ति की ओर ढलते हैं और रागात्मिका वृत्ति हमें ठेलकर सहज ही उस स्थल पर पहुँचाती है जहाँ हम प्रकृति के सरस और मनोहर एवं रुक्ष और अरमणीय रूप को भी प्यार करने लगते हैं, साथ ही ये दोनों अपनी परिपक्वता में हमारे भावयोग को पुष्ट और परिपूर्ण बनाते चलते हैं। यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि शुक्ल जी ने जीवन की पूर्णता पर दृष्टि रखकर तथा समस्त प्रकार की एकदेशीयता से अपने आप को मुक्त रख कर ही अपने साहित्यिक सिद्धान्तों का निर्धारण किया है।

अध्याय २१

शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धांत—४

लोकधर्म

शुक्ल जी ने अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा में लोकधर्म पर जो विशेष बल दिया है, उससे उनके प्रति मिथ्या भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं; अतएव यह आवश्यक है कि हम इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।

मैं पाठक का ध्यान 'विवेचनात्मक पार्श्व' नामक अध्याय की ओर आकृष्ट करता हूँ; वहाँ मैंने कहा है कि क्रौञ्च पक्षी के हत्यारे निषाद के प्रति महर्षि वाल्मीकि के मुख से सहसा जो अभिशाप निकल गया वह उनकी विवशता का परिणाम था। उसके लिए बाद को उन्हें विचार-मग्न भी होना पड़ा; साधना की ऊर्ध्व एवं गतिशील प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उन्हें यह चिन्ता भी करनी पड़ी कि यह कैसे हो गया! वैयक्तिक साधना जब किसी स्वार्थ-मुक्त आवेश से आक्रान्त होकर थोड़ी देर के लिए रुक जाती है और जीवन-गत वैषम्य के निवारण के लिए यथासम्भव प्रयत्न करती है, तब एक ओर तो वह अपनी ऊर्ध्वोन्मुख प्रगति को स्थगित करने के कारण त्यागमयी दीख पड़ती है, दूसरी ओर उसका उक्त प्रयत्न निर्झर की तरह सहज-प्रवाहित और स्वतः चालित होता है, बलात् प्रेरित नहीं होता। जिन त्यागियों ने लोक के लिए त्याग किया है उन्होंने अपनी साधना का थोड़ा सा प्रसाद प्रेमपूर्वक दे दिया है, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य कमल को उत्फुल्लता और चंद्रमा उसके दलों को ओस के कण दे देता है। सूर्य और चंद्रमा से यह कार्य बलपूर्वक नहीं कराया जाता, विश्वधर्म के नाते ही वे यह कार्य करते हैं। वाल्मीकि का शाप और राम का रावण के प्रति क्रोध—दोनों ही प्रेम के प्रसाद हैं, उन गढ़ों के पूरक उद्योग हैं जिन्हें दुर्घटनाओं के रूप में प्रकृति निरंतर खोदती रहती है, साथ ही पूरे किये जाने के लिए साधकों का आह्वान भी करती रहती है। साधक भिन्न-भिन्न परिस्थिति और योग्यता के होते हैं; उसी के अनुरूप आह्वान को श्रवण करके उसके पालन में दत्त-चित्त होते हैं। एक ही आह्वान को गांधी ने भिन्न रूप में ग्रहण किया, टैगोर ने भिन्न रूप में, अरविंद घोष ने भिन्न रूप में। वैयक्तिक साधना द्वारा ब्रह्म में लीन होने की

लोक संग्रहात्मक साधना

आकांक्षा तो सर्वोपरि है; जिसके हृदय में उसके लिए आवेश है वही महान है. किन्तु जो प्रकृति की सेवा करते हैं, उसके आदेशों की पूर्त्ति में लगते हैं वे भी उससे पारिश्रमिक प्राप्त करते हैं और वह पारिश्रमिक भी क्या है? उनकी ब्रह्मविलय-कामना में तीव्रता का आना, तदर्थ उनके आवेश में अधिकाधिक वृद्धि का होना ही तो वह पुरस्कार है जिसका वितरण प्रकृति मुक्तहस्त होकर करती रहती है। स्पष्ट है कि प्राकृतिक आह्वान-पूर्त्ति के रूप में साधक द्वारा लोकसंग्रहात्मक जो प्रयत्न सहज भाव से सम्पन्न होते हैं वे साध्य नहीं हैं, साधन मात्र हैं। उनका महत्त्व इतना अधिक नहीं हो सकता कि वे ब्रह्म-विलय-सम्बन्धी आवेश को जो साध्य है—निरर्थक कर दें। यह भी प्रगट है कि राम के लिए अभिशाप और वाल्मीकि के लिए रावण के प्रति बाण की योजना के रूप में प्रकृति ऐसे प्रयासों में नहीं लगती जो उसके क्षेत्र के भीतर अव्यवस्था और असंगति का प्रचार कर दें।

लोकसंग्रहात्मक साधना जिस वैषम्य-पीड़ित क्षेत्र में समीकरण के प्रयत्न में लगती है उसके अल्प साधना-सम्पन्न समाज में व्यक्तियों के आचरण का एक मानदण्ड स्थापित करती है, जिसकी अनुकूलता प्रशंसा और प्रतिकूलता निंदा का कारण बनती है। प्रशंसा सभी को प्रिय होती है, अतः दुर्बल साधक भी उसके लोभ से स्वीकृत मानदण्ड की अनुकूलता में चलने के लिए सचेष्ट होता है; यहाँ वह ऐसा त्याग करने के लिए पैर बढ़ाता है जो व्यक्तित्व की सम्पन्नता से नहीं, वरन् उसकी रिक्तता के कारण एक मात्र लोभ से प्रभावित और बलात् नियोजित रूप में प्रवाहित होता है। समाज में जो इतना साहस कर सके वे पग-पग पर अपनी सम्माननीयता का आग्रह प्रस्तुत करने लगे; उन्हीं को सन्तुष्ट करने के लिए लोकसंग्रह-विशिष्ट कार्य त्यागमय धर्म कहा जाने लगा, जिससे पृथक् होकर साधारण जन का कार्य-कलाप व्यवहार धर्म के अंतर्गत माना गया। योग-क्षेम का सम्बन्ध व्यवहार-धर्म से रखा गया और योग-क्षेम-भाव से मुक्त समस्त कार्य त्यागमय धर्म के घेरे में लाये गये।

निषाद के प्रति वाल्मीकि के उद्गार में जो धर्म तत्व निहित है, वही विस्तृत रूप में उनके द्वारा रामायण-प्रणयन के मूल में भी है और वही राम-रावण की उस कथा में भी है जिसे तुलसीदास ने रामचरितमानस में अपनी काव्याभिव्यक्ति का साधन बनाया है। शुक्ल जी ने भी कहा है :—

"क्रौञ्च के वध पर वाल्मीकि मुनि के करुण क्रोध का सौन्दर्य एक महाकाव्य का सौन्दर्य हुआ। उक्त सौन्दर्य का कारण है निर्विशेषता। वाल्मीकि के क्रोध के भीतर

प्राणिमात्र के दुःख की सहानुभूति छिपी है—राम के क्रोध के भीतर सम्पूर्ण लोक के दुःख का क्षोभ समाया हुआ है।"

× × ×

"लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द ज्योति, भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमङ्गल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।"

ऋतु-परिवर्त्तनों के मध्य भी शुक्ल जी इसी धर्म का पालन सम्पन्न होते देखते हैं :—

"शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुँधली धुँधली फूटती हुई अन्त में वसंत की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है।"

मैं शिव के दो रूपों की चर्चा कर आया हूँ। उनका एक रूप वह है जिसमें वे अखंड समाधि धारण करते हैं तथा लोक-पीड़ा की समस्त बाधाओं से मुक्त हो जाते हैं; उनका दूसरा रूप वह है जिसमें वे लोक-कल्याण के लिए विष पीते तथा विवाह के लिए सहमत होते हैं। शुक्ल जी जिन्हें आनन्द-मंगल का सिद्ध पक्ष तथा साधना-पक्ष कहते हैं, उनकी शंकर के उक्त दोनों रूपों से पूर्ण अभिन्नता है। किन्तु उन्होंने साधना-पक्ष पर विशेष बल दिया है और ऐसा जान पड़ता है कि यह प्रतीत होने का अवसर भी दिया है कि उनकी समझ में साधना-पक्ष का महत्त्व सिद्ध पक्ष के महत्त्व से अधिक है। मैंने यह समझाने का चेष्टा की है कि आनन्दमंगल का उक्त साधना-पक्ष साधन मात्र है, साध्य नहीं है और यह भी आवश्यक नहीं है कि साधना-पक्ष के किसी विशेष मार्ग पर चले बिना साधक अनिवार्य रूप से अंतिम सिद्धि को प्राप्त ही न हो सके। साथ ही मैंने यह भी कहा है कि ब्रह्म विलय-कामना अथवा सिद्धि-प्राप्ति-सम्बन्धी आवेश के प्रकृत स्वरूप की सदैव यह पहचान रहेगी कि वह न तो जीवन का निषेध करता है और न भ्रान्तियों में मग्न कर के साधक को चारों ओर चक्कर काटने के लिए विवश करता है। इसके सम्बन्ध में विशेष कहने का अवसर आगे आवेगा जहाँ सूर और तुलसीदास की समीक्षा का प्रसंग उपस्थित होगा; यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त है कि आनन्द-मंगल के साधनात्मक स्वरूप में शुक्ल जी ने लोकधर्म का दर्शन किया है।

शिव के दो रूप

कहने की आवश्यकता नहीं कि लोकधर्म में तीन पक्षों की मान्यता

अनिवार्य है—(१) अत्याचारी; (२) अत्याचार का पात्र; (३) स्वार्थ-भावना से मुक्त दण्ड विधायक अथवा उद्धारक। अत्याचारी और दण्ड-विधायक में एक बहुत बड़ा अंतर है—अत्याचारी स्वार्थान्ध होकर दुर्बल पर अनाचार करता तथा दण्ड-विधायक से लड़ता है; इसके विपरीत दण्डविधायक सर्वथा निस्स्वार्थ भाव से केवल लोक-जीवन की रक्षा के उद्देश्य से संघर्ष में प्रवृत्त होता है। अत्याचारी हिंसा ही की भाषा को समझ सकता है, इसलिए दण्ड-विधायक को प्रायः अपने रूप में कटुता, भीषणता और प्रचंडता भी प्रगट करनी पड़ती है। किन्तु अपने अंतिम परिणाम में उसका यह रूप मधुर, मनोहर और आर्द्र ही रहता है। लोकधर्म के सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए स्वयं शुक्ल जी कहते हैं :—

लोक धर्म में तीन पक्ष

"लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्द-कला जो शक्ति-मय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचंडता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता। × × × भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता कटुता और मधुरता, प्रचंडता और मृदुता का समंजस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है।"

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इस लोकधर्म की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है; उनका कहना है—

"इस लोक धर्म की दो विशाल बाहुएँ हैं—सत् की रक्षा और असत् का दलन। साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश-गीता में श्रीकृष्ण ने अपने अवतार का प्रयोजन बताया है। शुक्ल जी इन दोनों पक्षों के पूरे हिमायती हैं × × व्यक्ति की दृष्टि से यह पूर्ण त्यागमय धर्म है। दार्शनिक शब्दावली में इसे अनासक्ति कर्म-योग कहते हैं।"

× × ×

"रामचरित मानस के जिस व्यापक आदर्श की ओर शुक्ल जी सब से अधिक आकृष्ट हैं, वह है लोकधर्म का आदर्श × × × इस त्यागमय धर्म को ही वे व्यवहार धर्म मानने लगे हैं।"

त्यागमय धर्म और व्यवहार धर्म की चर्चा मैं कर आया हूँ। 'त्यागमय धर्म' और 'अनासक्त कर्म योग' का नाम लेकर पाठक को भयभीत करना जितना अनावश्यक है, उतना ही अनावश्यक है व्यवहार धर्म के लिए आग्रह प्रस्तुत करना। 'लोकधर्म' में त्याग की, स्वार्थ-मुक्ति की अनिवार्यता निस्सन्देह है, किन्तु वह उतनी असम्भव चीज नहीं है जितनी

साधारण व्यक्ति भी लोकधर्म के उन्नायक

उद्धृत पंक्तियों के लेखक ने उसे समझ रखा है। लोकधर्म के उन्नायक केवल राम और कृष्ण ही नहीं हैं जो अपने अपने युग के पुरुषोत्तम थे और प्रकृति की प्रेरणा से मानव-समाज के आचार-विचार में विराट् परिवर्त्तनों के लिए अवतरित हुए थे; लोकधर्म की प्रतिष्ठा वाल्मीकि और तुलसीदास के केवल काव्य से भी नहीं है; सच पूछिए तो संसार में सर्वत्र, प्रत्येक पल पर जहाँ कहीं दुर्घटनाएँ संघटित हो रही हैं, साधु, उदार; और महान् पुरुषों और स्त्रियों की सद्भाव-प्रेरित प्रवृत्तियों ही से नहीं, विचित्र और विलक्षण व्यक्तियों की स्वार्थरहित, विशुद्ध भाव-प्रेरित कार्यावली से वह जीवन एवं गौरव-रक्षा प्राप्त कर रहा है—ऐसे विचित्र और विलक्षण व्यक्ति जिन्हें साधारणतया लोग नीच और पापी ही समझते हैं, जिनके बाह्य जीवन की अंधकारमयता के परदे के भीतर से मानवता-ज्योति की छिपी किरणों को खोज लेना सहृदय मानव-शास्त्रियों ही का काम है। ऐसी अवस्था में लोक-धर्म के स्थान में यदि व्यवहार धर्म को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जायगा तो यह उद्योग मनुष्य को केवल एक सुधरे हुए, सुव्यवस्थित पशु मात्र के स्तर पर पहुँचा कर छोड़ देगा; सहृदयता के विकास द्वारा मानव निरन्तर देवत्व की ओर अग्रसर होने के जो क्षीण-सबल प्रयास करता चल रहा है, वह सदा के लिए समाप्त हो जायगा।

लोकधर्म के विरोध में वाजपेयी जी को कुछ और भी कहना है; उनकी आपत्तियों पर विचार करना इसलिए आवश्यक है कि उससे लोकधर्म के प्रकृत स्वरूप को समझ लेने में हमें आसानी होगी। उनका कथन निम्न-लिखित है :—

"शुक्ल जी ने वैराग्यमूलक निष्क्रिय (!) अध्यात्म के मुकाबले इस क्रियाशील लोकधर्म की आवाज उठायी है, जो सुनने में बड़ी सुहावनी मालूम देती है। किन्तु उन्होंने भारतीय लोकधर्म की त्यागमूलक भित्ति का यथेष्ट विवरण हमारे सामने नहीं रखा। वे एक प्रकार से इसकी उपेक्षा भी कर गये हैं, जिसके कारण भारतीय प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग की एक ही भूमि पर खड़ी हुई दार्शनिक शाखाएँ शुक्ल जी द्वारा परस्पर विरोधिनी बना दी गयी हैं। स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल में भी है और निवृत्ति के मूल में भी। दोनों का आधार एक ही है, किन्तु शुक्ल जी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति और प्रवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म दोनों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है। अवश्य ही शुक्ल जी का यह दार्शनिक विपर्यय भारतीय अध्यात्मशास्त्र के लिए अन्यायपूर्ण हो गया है।"

उक्त शिकायत का सारांश यह है कि शुक्ल जी ने प्रवृत्ति मार्ग और

निवृत्ति मार्ग, ज्ञान मार्ग और कर्ममार्ग एवं व्यक्तिगत साधना तथा लोक-धर्म—इन तीनों ही युग्मों की आन्तरिक एकता की ओर ध्यान न देकर उनके प्रगट विभेद को ही बहुत अधिक महत्व दिया है और युग्मों को विरोधी इकाइयों के रूप में उपस्थित किया है। इस सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि विरोध की व्याख्या के साथ साथ आन्तरिक एकता की झलक देना इसलिए आवश्यक है कि वैसा करने से विचाराधीन तत्वों की एक पूरी रूपरेखा हमारी आँखों के सामने आ जाती है। इसके विपरीत केवल भिन्नता का राग अलापने से पाठक को कोई संदेश नहीं प्राप्त होता, प्रगति की कोई दिशा नहीं मिलती, उसकी भ्रान्ति बढ़ती है और इधर-उधर चक्कर काटने लगती है।

सब से पहले हम यही देखने का प्रयत्न करेंगे कि शुक्ल जी ने व्यक्तिगत साधना को लोकधर्म का प्रतिद्वन्द्वी बनाया है अथवा नहीं। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने में शुक्ल जी की कतिपय पंक्तियाँ सहायक होंगी, अतएव वे यहाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं :—

शुक्ल जी सामंजस्यवादी

"जिस प्रकार उन्होंने (तुलसीदास ने) लोक धर्म और भक्ति-साधना को एक में सम्मिलित कर के दिखाया उसी प्रकार कर्म, ज्ञान, उपासना के बीच भी सामंजस्य उपस्थित किया। ××× भक्ति की सीमा पर पहुँचकर भी उन्होंने लोक-पक्ष को नहीं छोड़ा। लोकसंग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अंग था। कृष्णोपासक भक्तों में इस अंग की कमी थी। उनके बीच उपास्य और उपासक के सम्बन्ध की ही गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना हुई; दूसरे प्रकार के लोक-व्यापक नाना सम्बन्धों के कल्याणकारी सौन्दर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई।"

इन पंक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी को व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म का विरोध नहीं अभीष्ट है, वरन् उनका सहयोग ही वांछित है; यदि लोकसंग्रह भक्ति के एक अंग-रूप में गृहीत रहे तो इतने ही में शुक्ल जी को पूर्ण संतोष है।

ब्रह्म में लीन होने का आवेश व्यक्तिगत साधना की सब से बड़ी विभूति हो सकती है। वाल्मीकि, कबीर, सूर तुलसीदास—सभी में यह उमंग बहुत अधिक मात्रा में विद्यमान थी। शुक्ल जी को इस विषय में कोई आपत्ति नहीं है; वे केवल यह चाहते हैं कि उक्त उमंग में लोकधर्म की उमंग का बहिष्कार न हो जाय, उसे भी एक स्वीकृत स्थान मिले और ऐसा वे इस कारण चाहते हैं कि यदि हम अखिल ब्रह्माण्डनायक से प्रेम करेंगे तो उन्हीं

के आंशिक रूप को झलकाने वाले ब्रह्माण्ड के विरोधी कैसे होंगे ? संक्षेप में शुक्ल जी समन्वय चाहते हैं, विच्छेद नहीं।

शुक्ल जी के निम्नलिखित शब्दों से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म में संग्राम नहीं चाहते, केवल अनुरागपूर्ण सामंजस्य चाहते हैं :—

"कुछ कवि और भक्त जिस प्रकार आनन्द-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख सौन्दर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं, उसी प्रकार आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के आचरण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी—पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलाने के पूर्व उस अंधकार को हटाना देख कर भी। वे ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर वे सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं।"

इन पंक्तियों में केवल एक बात है, जिससे वाजपेयी जी ही नहीं, कुछ और लोग भी चौंक सकते हैं। सिद्धि और प्रयत्न दोनों ही पक्षों में सौन्दर्य का अनुभव करना असम्भव नहीं है, शायद ही कोई ऐसा कवि हो जो किसी सहृदयता पूर्ण प्रयत्न से प्रभावित न हो, उसके सौन्दर्य की सराहना न करे। यह भी मान लेने में कठिनाई नहीं है कि वे ही पूर्ण कवि हैं जो दोनों ही प्रकार के सौन्दर्य-दर्शन में रस लें। किन्तु प्रयत्न-पक्ष की सम्पन्नता के लिए, पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन के लिए, उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की आवृत्ति का जो शुक्ल जी का आग्रह है, उसकी चूल बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक युग में कैसे बैठेगी, जब अहिंसात्मक आन्दोलन के द्वारा भारत में बृटिश सामाज्यवाद जैसा राक्षस मारा जा सका ? क्या हम महात्मा गांधी के अथक प्रेम-प्रयत्न और सत्य-संघर्ष को उसी 'प्रयत्न' के साथ समीकृत कर लेंगे जिसके घेरे के भीतर उत्साह के साथ साथ घृणा का भी प्रवेश है ? यह प्रश्न अवश्य ही उलझन में डालनेवाला है।

काव्यगत घृणा

किन्तु 'महाकाव्योचित प्रसंगों' में आनेवाले उक्त शब्दों का स्वरूप तत्काल बदल जायगा जब हम देखेंगे कि उनका प्रयोग किसी व्यक्ति के स्वार्थ-मलिन भावों को व्यक्त करने के लिए नहीं हो रहा है, वरन् किसी ऐसी भाव-धारा को प्रगट करने के लिए किया जा रहा है जो सर्वथा औचित्य पर

आलम्बित है और जिसे संसार के समस्त सहृदय-समाज की नैतिक सहानुभूति प्राप्त है अथवा हो सकती है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि राष्ट्रीय घृणा सदैव शुभ वस्तु होती है; नहीं, मैं यहाँ केवल 'सहृदय' की, सामाजिक की घृणा की बात कर रहा हूँ, जिसमें कल्मष नहीं होता, जो मनुष्य के हृदय को शुद्ध और सुसंस्कृत बनाने की शक्ति से सम्पन्न होती है। अस्तु।

शुक्ल जी द्वारा ज्ञान और कर्म के मध्य में प्रतिद्वन्द्विता की बात भी कही गयी है। किन्तु इस प्रसंग में भी मुझे यही कहना है कि उन्होंने ज्ञान और कर्म के समन्वय ही की चर्चा चलायी है, एक के पक्ष में दूसरे के बहिष्कार की नहीं। पूर्वोद्धृत एक एक अवतरण में ज्ञान, कर्म तथा उपासना के बीच सामंजस्य उपस्थित करने के लिए तुलसीदास की प्रशंसा की गयी है। निम्नलिखित वाक्यों द्वारा इस सम्बन्ध में उनका भाव और भी स्पष्ट हो जायगा। वे कहते हैं।

ज्ञान और कर्म

"धर्म* का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामञ्जस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के अभाव से वह विकलांग रहता है। कर्म के बिना लुला-लँगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदय-विहीन क्या निष्प्राण रहता है।"

कर्म के साथ ज्ञान के समन्वय में उतने वैराग्य और अध्यात्म का तिरस्कार नहीं है जितना जीवन को प्रगति देने वाले धर्म की पूर्त्ति के लिए आवश्यक है। पेड़ की पहचान उसके फल से होती है। वैराग्य और अध्यात्म की भी इसी में सफलता है कि वे जीवन को सन्तुलित, उपयोगी और आत्मनिर्भर बनावें; यदि उनके द्वारा इस कार्य का साधन नहीं होता, यदि

---

*"धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्वस्थिति में मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमंडल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है।"

× × × ×

"धर्म की ऊँची नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं—जैसे गृह धर्म, कुल धर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्ण धर्म। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखायी पड़ता है।"

× × × ×

"ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति को लेकर गोस्वामी जी की भक्ति-पद्धति चली है। उनके राम पूर्ण धर्म-स्वरूप हैं।"

—चिंतामणि, भाग १

वे जीवन को संकुचित और संकीर्ण बनाने ही में प्रवृत्त होते हैं तो समझ लेना चाहिए कि उनके स्वरूप में कहीं न कहीं कोई त्रुटि है। ज्ञानी किसी भी स्थिति में हो उसके लिए यह कदापि उचित नहीं है कि वह कर्म की आसक्ति रखनेवाले अज्ञानी लोगों में बुद्धिभेद उत्पन्न करे, उसके लिए तो यही शोभन है कि वह स्वयं योग-स्थापनपूर्वक कर्म करे तथा औरों से करावे। गीता के निम्नलिखित श्लोक में इसी भाव का समर्थन मिलता है :—

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म संगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।"

इस दृष्टि से यदि वैराग्य और अध्यात्म का कोई शिक्षक कहता है—

"अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये सब के दाता राम।"

तो इसके प्रभाव से कर्म के लिए उत्साह नहीं बढ़ सकता। इस प्रकार के वैराग्य और अध्यात्म की तुलना में वह लोकधर्म कहीं अच्छा है जो निस्स्वार्थ भावना की भूमि पर ले जाकर सत्कर्म में प्रवृत्त करता है तथा वैयक्तिक साधना की प्रगति को भी वेगवती बनाता है।

कर्म की महिमा प्रतिपादित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है *—

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।
यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।
न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि।
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।

---

* जनक आदि ज्ञानी पुरुष भी आसक्ति-रहित कर्म करके ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। अतः लोकसंग्रह की दृष्टि से भी, हे अर्जुन, तुझे कर्म करना ही उचित है।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा जैसा आचरण करता है वैसा ही वैसा अन्य लोग भी करते हैं। वह कर्म का जो मानदण्ड प्रस्तुत करता है, लोग उसी का अनुसरण करते हैं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत !
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्त श्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम् ।"

श्रीकृष्ण के इन वचनों से स्पष्ट है कि कर्म का सर्वथा त्याग किसी के लिए भी सम्भव नहीं, केवल उसके रूप में परिवर्त्तन होता चलता है, वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर तथा सूक्ष्म से सूक्ष्मतम की ओर प्रवाहित होता रहता है। जितने अंशों में यह परिवर्त्तन होता है उतने ही अंशों में कर्म का त्याग प्रतीत होता है और साधारण जन की यह धारणा होती है कि ज्ञान के विकास के साथ साथ कर्म का पतन होता चलता है। कुछ तथाकथित ज्ञानी और अध्यात्मवादी अपनी ज्ञान-प्रगति की घोषणा के लिए कर्म का विरोध भी करने लगते हैं। इस प्रकार कर्म के अभाव की स्थिति में यदि नकली ज्ञानी आलोचना के पात्र बनाये जायँ तो यह कोई अनुचित नहीं। यह आलोचना सच्चे ज्ञानियों को स्पर्श नहीं करती।

महात्मा बुद्ध के लोकसंग्रह-विशिष्ट कार्यों की ओर शुक्ल जी की जो आस्था रही है, उसका परिचय हम उनके 'बुद्धचरित' नामक प्रबन्ध काव्य से प्राप्त कर चुके हैं। कालान्तर में उनके मत से पल्लवित होनेवाली जो शाखाएँ चलीं उनमें क्रमशः लोकसंग्रह के प्रति वैसा भाव नहीं रह गया। वज्रयानी सिद्धों की शाखा ऐसी ही थी; उसमें अश्लील भावनाओं और पाखंड का बहुत अधिक प्रचार हुआ। उनकी अनेक परम्पराओं का प्रचलन नाथपंथवाले भी करते रहे, जिनमें से कर्म के प्रति अनुत्साह की भावना विशेष उल्लेख-योग्य थी। इन्हीं को लक्ष्य करके शुक्ल जी ने लिखा है—

"जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण और लोककल्याण-विधायक सच्चे कार्यों की ओर ले जाने के बदले उसे वे (वज्रयानी सिद्ध और नाथपंथी जोगी) कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गये थे।"

उक्त वाक्य में देखा जायगा कि लोककल्याण-विधायक कार्यों के साथ ही साथ आत्मकल्याण-विधायक कार्यों की भी शुक्ल जी को अपेक्षा है। अतः

हे पार्थ ! मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, कोई भी प्राप्त होने योग्य वस्तु मुझे अप्राप्त नहीं है, फिर भी मैं कर्म में ही वर्त्तमान हूँ।

यदि मैं सजग होकर कर्म में वर्त्तमान न रहूँ तो हे अर्जुन ! मनुष्यगण मेरे ही पथ के पथिक बन जायँ।

यदि मैं कर्म न करूँ तो समस्त लोक भ्रष्ट हो जाय, मैं वर्णसंकर का कर्त्ता हो जाऊँ और समस्त प्रजा के नाश का कारण बनूँ।

कर्मासक्ति रखनेवाले अज्ञानी जन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही कर्मासक्ति-शून्य ज्ञानी जन को भी, लोकसंग्रह के उद्देश्य से कर्म करना चाहिए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि शुक्ल जी आत्मकल्याण, प्रकृत वैराग्य एवं प्रकृत अध्यात्मवादिता के विरोधी होकर लोकधर्म के समर्थक नहीं हैं; वे उसे उनका सहयोगी मानते हैं और उभय पक्षों में सामंजस्य स्थापित करना ही उनका उद्देश्य है। फिर भी, जैसा कि कहा जा चुका है, लोकधर्म के किसी विशेष रूप की ओर झुकाव रखने के कारण, वे लोकधर्म पर आवश्यकता से अधिक आग्रह करते जान पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में दो बातों को स्मरण रखने की आवश्यकता है। (१) लोकधर्म के सक्रिय स्वरूप से लेकर विशेष रूपेण सक्रिय स्वरूप तक, अनेक भेद हो सकते हैं, जो आश्रय की परिस्थिति के अनुसार विविध रूप धारण करेंगे। अतएव, उसकी व्यापकता को कम करने की आवश्यकता नहीं; उसकी विस्तृत सीमा के भीतर उन समस्त लोक-व्यापारों को सम्मिलित कर लेना चाहिए, जिनमें करुणातत्त्व किसी भी रूप में विद्यमान है। (२) शुक्ल जी लोकधर्म की सीमा को संकुचित करते भले ही जान पड़ें, किन्तु वास्तव में उनका वैसा करने का उद्देश्य नहीं है। लोकधर्म के स्वल्प, सक्रिय रूपों के समर्थकों ने अपने स्वीकृत रूपों पर जितना अधिक आग्रह किया है, जितनी मात्रा में बद्धता दिखायी है, उतना आग्रह और उतनी बद्धता * शुक्ल जी ने नहीं दिखायी है।

---

* (१) "योरप का वर्त्तमान लोकादर्शवाद (Humanitarian Idealism) मनुष्य की अन्तः प्रकृति के एक समूचे पक्ष के सर्वथा निराकरण में—केवल प्रेम और भ्रातृभाव की भीतरी शक्ति द्वारा क्रूरता, क्रोध, स्वार्थमद, हिंसा-वृत्ति आदि की चिर शान्ति में—काव्य का परम उत्कर्ष मानता है और उसी के भीतर सौन्दर्य और मङ्गल को बद्ध देखता है। * * यह कहना कि उपर्युक्त आदर्श के भीतर ही सौन्दर्य और मङ्गल की अभिव्यक्ति होती है, काव्य की उच्चता केवल वहीं मिलती है, मङ्गल सौन्दर्य तथा काव्य की उच्चता के क्षेत्र को बहुत संकुचित करना है। * * * * यह स्वप्न सुन्दर अवश्य है, पर जागरण इससे कम सुन्दर नहीं है। स्वप्न और जागरण दोनों काव्य के पक्ष हैं, इन दोनों पक्षों का सामंजस्य काव्य का चरम उत्कर्ष है। काव्य में हम वादों का बाहर से आना ठीक नहीं समझते। पर यदि वाद के बिना किसी पक्ष की पहचान न हो सकती हो तो हमें कहना पड़ेगा कि हमारा पक्ष है 'अभिव्यक्तिवाद' और "सामंजस्यवाद।"

—[चि०, काव्य में रहस्यवाद, पृ० ५२,५३

(२) "सौन्दर्य से, प्रेम से, मङ्गल से पाप को एकदम समूल नष्ट कर देना ही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की एकमात्र आकांक्षा है। * * उच्च साहित्य स्वभाव-निःसृत अश्रुजल से कलङ्क-मोचन करते हैं और स्वाभाविक आनंद से पुण्य का स्वागत करते हैं।"

—[श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर—'प्राचीन साहित्य'

अध्याय २२

शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त–५

रस-मत—(क)

समाधिस्थ होकर आनन्द की परमोत्कृष्ट अवस्था को पहुँचने की योग्यता रखनेवाले वाल्मीकि मुनि ने अपने आनन्द को ही करुणा और क्रोध का रूप देकर लोक-व्यापार की अनादि, अनन्त प्रगति में उसकी प्रतिष्ठा की। यह रूपान्तर किसी आन्तरिक भिन्नता का परिणाम नहीं था; जैसे बीज अंकुर के रूप में और अंकुर वृक्ष के रूप में परिणत होकर भी भिन्नता नहीं ग्रहण करता वैसे ही आनन्द उक्त प्रकार की करुणा और क्रोध आदि भावों के जगत् में प्रसार पाकर भी अपने सहज स्वरूप को बनाये रखता है। न बीज वृक्ष बनना अस्वीकार कर सकता है और न वृक्ष बीज को धारण करने से विरत रह सकता है; इसी प्रकार न आनन्द करुणा और क्रोध के रूप में विकसित हुए बिना रह सकता है और न करुणा और क्रोध ही का अन्ततोगत्त्वा निर्वाह आनन्द में विलीन हुए बिना संभव है।

आनन्द तथा क्रोध-करुणा

महाभारत के अवसर पर वेदव्यास ने विषाद-मग्न अर्जुन को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण का जो चित्र अंकित किया है, उसमें श्रीकृष्ण भी करुणा और क्रोध से प्रेरित दिखलाये गये हैं; करुणा अर्जुन के लिए, जो समर्थ होकर भी मोह-वश अन्याय के निराकरण के निमित्त अपने सम्बन्धियों से लड़ नहीं सकता, और क्रोध उन कौरवों के लिए जो अनीति पर आरूढ़ होकर पाण्डवों के अधिकार को स्वीकार नहीं करते। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—हे अर्जुन कौरवों को मैंने स्वयं मार रखा है, तुम तो केवल निमित्त मात्र बन कर मारने का यश ले लो। यह करुणा नहीं तो क्या है ? भगवान कृष्ण अर्जुन को बहुत थोड़े ही परिश्रम के बदले में अपार कीर्ति देने के लिए तैयार हैं, अर्जुन के पराक्रम से उन्हें कोई लाभ नहीं उठाना है और फिर भी उसे अपरिमित लाभ देना है, उसे पशु के स्तर से उठा कर प्रगतिशील मनुष्य के स्तर पर ला देना है, अनासक्त आचरण के महत्त्व को उसके हृदय पर अंकित कर

समाधि एवं लोक-व्यापार

देना है। रहा श्रीकृष्ण का क्रोध, सो इस सम्बन्ध में उनके वचन ही प्रमाण हैं;वे स्वयं कह रहे हैं कि मैंने समस्त कौरव-पक्षी योद्धाओं को मार रखा के बिना संहार का काम संभव ही नहीं है।

अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि समाधि-मग्नता की शान्ति का त्याग करके करुणा, क्रोधादि भावों के विकास की आवश्यकता ही क्या थी? इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति ने अद्वैत को द्वैत के रूप में शाखान्वित और प्रशाखान्वित होने का अवसर देकर एक ओर तो वैषम्य को बढ़ाया है, दूसरी ओर फल और बीज-धारण के रूप में अपने मूल अद्वैत की खोज के लिए प्रत्येक द्वैत को व्याकुल बनाकर चक्राकार प्रगति का विधान भी किया है। अपने इस नियम के अनुसार यदि वह अव्यक्त सत्य को प्रतिक्षण उद्घाटित करती चलती है तो साथ ही उद्घाटित सत्य को जीवन की एक अवधि देकर अव्यक्त के अंधकारमय अंक में अन्तर्हित भी करती चलती है। ये दोनों ही क्रियाएँ एक दूसरे पर इतनी अधिक आश्रित हैं कि इनमें से केवल एक को ग्रहण करना तथा दूसरे का तिरस्कार कर देना संभव नहीं है, प्रकृति का प्यार दोनों ही पर है। उसके इस मर्म को न समझकर जो लोग उक्त दो पक्षों में से केवल एक पक्ष को ग्रहण करते हैं, उनके प्रमाद से क्रुद्ध होकर प्रकृति उन्हें मृत्युदण्ड देती है। यदि समाधि अव्यक्त सत्य है तो समाधि की अनिवार्य पूर्णता से जीवन प्राप्त करने वाला करुणा और क्रियात्मक क्रोधमय लोक व्यापार उसका उद्घाटित भाग है; दोनों का सामंजस्य और संतुलन प्राप्त करके ही व्यक्ति और समाज दोनों ही स्वस्थ और सुरक्षित बने रह सकते हैं।

निर्गुण और सगुण की गूढ़ भाषा यहीं सुबोध हो जाती है; अव्यक्त, अनुद्घाटित, समाधिस्थ निर्गुण और व्यक्त, उद्घाटित, कर्मशील सगुण—दोनों ही एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। जिस व्यक्ति और समाज ने सत्य के स्थिर (Static) और गतिशील (Dynamic) दोनों रूपों में से किसी एक की भी अवहेलना की है उसकी जीवनी और इतिहास के पन्ने उलटने पर पता चलेगा कि उसने यह भूल करके बहुत कुछ खोया है। अपने सम-सामयिक समाज के घोर असन्तुलन को देख कर सत्य के इन दोनों परस्परानुगामी रूपों का समन्वय स्पष्ट करने ही के उद्देश्य से तुलसीदास जी ने निर्गुण और सगुण का निरूपण किसी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से नहीं, शुद्ध दार्शनिक कवि के दृष्टिकोण से इस प्रकार किया है—

निर्गुण और सगुण

"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि, पुरान, बुध, वेदा।
अगुन, अरूप, अलख, अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई।"

इसी से मिलती-जुलती बात गीताकार ने पहले ही कही है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।*"

भक्त के प्रेम से विवश होकर अथवा सदाचार के लोप एवं दुराचार की वृद्धि के बीच सन्तुलन स्थापित करने के उद्देश्य से यह जो सत्य का निर्गुण स्वरूप सगुण के रूप में अवतीर्ण होता है सो वास्तव में है क्या? क्या बहुत सा कूड़ा इकट्ठा हो जाने के बाद किसी एक दिन उमंग में आकर भगवान स्थूल रूप में प्रगट होते और सारी सफ़ाई का काम समाप्त करके फिर सो जाते हैं? क्या तुलसीदास और वेदव्यास के वचनों का इतना ही अर्थ है, उनकी इतनी ही गति है?

नहीं, प्रत्येक घाव के लिए मलहम-पट्टी लेकर खड़ी रहनेवाली, प्रत्येक गर्त्त को भर कर समतल कर देने के लिए अनवरत रूप से कटिबद्ध प्रकृति दुर्बल पर होने वाले असत् के आक्रमण को रोकने में समर्थ सत् के किसी प्रतिनिधि को संघर्ष करने के लिए प्रस्तुत करती है और जिस समाज में उसके आह्वान को धारण करने की इस प्रकार की क्षमता किसी भी व्यक्ति में नहीं दिखायी पड़ती, उसे वह जीवन से वंचित कर देती है। जब तक यह सृष्टि रहेगी तब तक जान पड़ता है, सबल और निर्बल दोनों संसार में रहेंगे; किन्तु क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि 'सूर्य सिद्धान्त' के अनुसार एक अरब सत्तानवे करोड़ उन्तीस लाख उनचास हजार से भी अधिक सौर वर्षों के व्यतीत हो जाने के अनन्तर 'दुर्बल' नाम की चीज़ आज भी इस दुनिया में बनी हुई है? आज तक बड़ी से बड़ी शक्ति उसे निर्मूल करके एकाधिपत्य नहीं स्थापित कर सकी। यदि प्रकृति अपनी रक्षात्मक प्रेरणा द्वारा सबलों ही की असत् और सत् दो श्रेणियों में से सत् श्रेणी के लोगों को दुर्बलों की शक्ति-वृद्धि करने के लिए उत्साहित न करती तब भी क्या यह परिस्थिति बनी रह सकती थी? केवल 'अवतारवाद' कह देने से प्रकृति के इस अचल नियम की पूर्ण सार्थकता हमें नहीं प्राप्त होती; सच

प्रकृति द्वारा दुर्बल की सहायता

* जब जब मनुष्य-समाज में सद्भाव-परिवर्त्त, लोककल्याणकारक आचरण की कमी होती है और दुर्भाव-प्रसूत, अकल्याणकर दुराचार की वृद्धि, तब तब मैं अपना निर्माण करता हूँ।

बात यह है कि किसी विशिष्ट अवतार के आने की प्रतीक्षा में प्रकृति अपना सारा कार्य रोक नहीं देती, अपने शक्ति-सन्तुलन की सिद्धि के लिए वह उस समय का आह्वान अथवा निर्माण प्रति क्षण करती रहती है जो उसकी प्रजा की रक्षा करे। समुद्र की तूफानी लहरों को सभी लोग स्मरण रखते हैं, किन्तु तालाब की छोटी लहरों को ओर किसी की दृष्टि भी नहीं ठहरती; इसी प्रकार संसार में शान्ति-स्थापन का, भूभार-निवारण का सारा श्रेय महान् 'अवतारों' ही को मिलता है, किसी को यह बात नहीं याद आती कि यदि छोटे से छोटे अवतारों ने प्रजा के रक्षा-भवन की नींव में अपने को खपा न दिया होता तो बड़े अवतारों का कार्यक्षेत्र में पदार्पण करने की आवश्यकता ही न रह जाती, रक्षणीय उसके बहुत पहले ही सबलों के पद-प्रहार से पिस कर मृत्यु के घाट उतर गये होते!

संक्षेप में मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन ने आनन्द में समाधिस्थ रह कर जो अमृत संचित किया था उसी को उसने अपनी जागरण-वेला में समर्थ, निस्स्वार्थ, अनासक्त की करुणा के आँसुओं में प्रगट किया। विराट ब्रह्माण्ड के भीतर करुणा ही सब की जीवन-रक्षा की मूल आराधिका बन कर बैठ गयी। केवल आँसू बहाने से जब काम नहीं चला, तब आँखों को लाल कर के उसने क्रोध का स्वरूप व्यक्त किया। इसी प्रकार करुणा और क्रोध के कंधों पर बैठ कर सांसारिक जीवन अपनी लम्बी यात्रा पर चल पड़ा।

मानव प्रकृति

मानव प्रकृति के तीन भेद हैं—(१) तमोगुणी; (२) रजोगुणी; (३) सतोगुणी। तमोगुणी प्रकृति का मनुष्य 'आहार-निद्रा-भय-मैथुन' में सीमित रह कर बिना सींग-पूछ का पशु बना रहता है; उसका समस्त कर्म सहज ही दुराचार और मिथ्याचार की दिशा में प्रवाहित होता है। स्पष्ट है कि वह वाल्मीकि अथवा श्रीकृष्ण की करुणा एवं क्रोध का अधिकारी नहीं हो सकता। रजोगुणी प्रकृति के मनुष्य में दुराचार और मिथ्याचार अपने स्थूल रूप में तो नहीं रहते, किन्तु सूक्ष्म रूप में वे विद्यमान रहते हैं। काम, क्रोधादि मनोविकारों की परितृप्ति के लिए वह सचेष्ट रहता है। यह स्पष्ट है कि अहम्भाव की इतनी सीमाएँ लिये रह कर वह भी उक्त करुणा और क्रोध की विभूति धारण करने में समर्थ नहीं हो सकता। इन दोनों के विपरीत, सतोगुणी व्यक्ति तमोगुण और रजोगुण दोनों ही से उत्पन्न होनेवाली दुर्बलताओं से मुक्त रहता है। उसका स्वार्थ स्वार्थ नहीं रह जाता, वह परमार्थ के रूप में,

सम्पूर्ण विश्व के अर्थ के रूप में परिणत हो जाता है; उसके कर्म में कमी नहीं होती; किन्तु वह कर्म मनुष्य मात्र के लिए हितकर हो जाता है, केवल कर्त्ता के सम्बन्धियों तक वह सीमित नहीं रह जाता। सात्त्विकता के स्तर पर रह कर ही वाल्मीकि ने क्रौञ्च के प्रति सहानुभूति की थी और सात्त्विकता ही के स्तर पर श्रीकृष्ण अर्जुन को ले आना चाहते थे जहाँ पहुँच कर, वह इस बात को बिलकुल ही भूल जाना कि मैं अपने किसी सम्बन्धी से लड़ रहा हूँ।

'परप्रत्यक्ष'

उक्त स्तर पर अर्जुन को इतना ही भान शेष रहता कि मैं कर्त्तव्य की प्रेरणा से युद्ध कर रहा हूँ। यह मेरा साला है, यह मेरा मामा है—यह सोच कर वह असमजस में पड़ा हुआ था; वह साला और मामा, साले और मामा के सम्बन्ध तथा उनके संबंधी रूप में स्वयं आप, इन तीनों की अलग, अलग धारणा कर रहा था; भगवान कृष्ण चाहते थे कि वह 'परप्रत्यक्ष' अथवा अभिन्नता का बोध कर के भिन्नता की इस भावना से मुक्त हो जाय, इस वितर्क से शून्य हो जाय। वे उसकी बुद्धि को शुद्ध बनाकर उस मधुमती भूमिका में उसका प्रवेश कराना चाहते थे जहाँ आनन्द ही आनन्द है, विषाद का कोई काम ही नहीं है। चित्त की इस सात्त्विकी वृत्ति को अर्जुन साधना के द्वारा ही प्राप्त कर सकता था, किन्तु सहृदय कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा सहज ही उसे उपलब्ध कर सकता है। जिस कवि में इस योग से सम्पन्न होने की शक्ति होती है वही सच्चा कवि है; वही अपने काव्य के द्वारा काव्य के श्रोता अथवा पाठक की चित्तवृत्ति को इतना एकाग्र कर सकता है कि उसे थोड़ी देर के लिए शेष सारा जगत भूल जाय। आत्म-निमग्नता की यही भूमि, जहाँ काव्य के श्रोता और पाठक अपनी समस्त व्यक्तिगत चिन्ताओं और समस्याओं से मुक्त होकर कवि द्वारा कल्पित अथवा सुदूरकालीन ऐतिहासिक नायक और नायिका के संकटों से अभिभूत हो, रोते और आहें भरते हैं, सच्ची सतोगुणी मनोवृत्ति की भूमि है, जहाँ साधक बड़ी साधना के परिणाम-स्वरूप प्रवेश कर पाता है। इस प्रकार काव्य का महत्व स्वयं सिद्ध है। जिस करुणा के अभाव में समाधि में लीन जीवन न अपना रस-कलश प्राप्त कर सकता है और न आगे का विकास और प्रसार वह कितनी दूर तक प्राप्ति कर के क्षमतापूर्वक अपने माध्यम से तथा अन्य केन्द्रों की स्थापना-द्वारा रस का वितरण कर सकी, इसकी चर्चा यहाँ की जायगी।

सतोगुण के उद्रेक से निष्पन्न होने वाला यह रस, यह आनन्द किस

प्रकार मानव जीवन को हरा-भरा बनाता हुआ प्रवाहित हुआ, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। जीवन-क्षेत्र में एक ओर दुर्धर्ष दुराचारी खड़ा था, दूसरी ओर अत्याचार का भाजन पीड़ित दुर्बल। दुर्घटना घटित हो जाने के अनन्तर आँसू बहाना तथा घटित होने के पहले केवल प्रार्थना, अनुनय-विनय तक अपने प्रयत्न को सीमित रखना ऐसी परिस्थिति में यथेष्ट नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में क्रोध-प्रदर्शनपूर्वक संघर्ष करना होगा और आवश्यक होने पर शस्त्र लेकर भी अत्याचारी के संहार के लिए खड़ा होना पड़ेगा। इस प्रसंग में शुक्ल जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

करुण रस का रौद्र और वीर रस से सम्बन्ध

"क्रोध आदि उग्र और प्रचंड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। स्वतन्त्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तनवादी शेली के महाकाव्य (Revolt of Islam) के नायक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देनेवाले, गिड़गिड़ानेवाले, अपनी साधुता, सहनशीलता, और शान्त वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करने वाले नहीं हैं; वे उत्साह की उमंग में प्रचण्ड वेग से युद्धक्षेत्र में बढ़नेवाले, पाषंड, लोक-पीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्विक तेज से तमतमाने वाले, भय या स्वार्थवश आततायियों की सेवा स्वीकार करनेवालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करनेवाले हैं। शेली ने भी काव्यकला का मूलतत्व प्रेमभाव ही माना था, पर ××× स्थिर (Static) और गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य, उपभोगपक्ष और प्रयत्नपक्ष दोनों उनमें पाये जाते हैं?"

इस सिलसिले में टाल्स्टाय के मत का खंडन करते हुए उन्होंने ठीक ही कहा है—

"टाल्स्टाय के अनुयायी प्रयत्न-पक्ष को लेते अवश्य हैं, पर केवल पीड़ितों की सेवा-सुश्रूषा की दौड़-धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिए साधुता के लोकोत्तर प्रदर्शन, त्याग, कष्ट-सहिष्णुता इत्यादि में ही उसका सौन्दर्य स्वीकार करते हैं।"

टाल्सटाय के इस मत को शुक्ल जी ने साम्प्रदायिकता से प्रेरित बतलाया है। ईसाई सम्प्रदाय की झलक तो इसमें अवश्य ही मिलती है। बौद्ध मत तथा उससे प्रभावित ईसाई मत ने जीवन के एक पक्ष की ओर बहुत अधिक झुक कर तथा दूसरे पक्ष की नितान्त अवहेलना करके कर्मसौन्दर्य का जो स्वरूप निर्धारित किया उससे भारत और योरप के साहित्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। भारत में रस-सिद्धान्त का बहुत कुछ विरोध बौद्ध मत के संस्कारों का भी परिणाम है। अस्तु। यहाँ इतना कथन आवश्यक है कि

बौद्ध धर्म के प्रचारात्मक कार्य में तथा टाल्स्टाय के स्वल्प-सक्रिय प्रयत्न में भी लोक संग्रह-भावना का कोई-न-कोई रूप तो है ही।

सतोगुण की भूमि पर हमने करुणा और क्रोध के आधार से करुण और रौद्र रस का उद्रेक होते देख लिया, अब शेष अन्य रसों पर भी दृष्टि-पात कर के हम समझ लें कि उनमें से प्रत्येक का करुणा के साथ क्या सम्बन्ध है। किन्तु आगे बढ़ने के पहले मैं पाठक को एक भ्रम से बचने के लिए सावधान कर देना चाहता हूँ और वह यह कि करुण रस हो अथवा अन्य कोई भी रस हो, उसका कोई भी सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत योगक्षेम की हानि अथवा पूर्त्ति से नहीं है। कवि यदि इन भावों से प्रभावित होकर कोई रचना करेगा तो वह भले ही अन्य कुछ हो, किन्तु रस-सिद्धान्त से सम्मत तो वह कदापि नहीं कही जायगी। खेद है, अपने 'नवरस' नामक ग्रंथ में श्री गुलाबराय† ने इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न होने का अवसर दिया है। 'नवरसेतर रस, नामक अध्याय में पृ० ५५४ पर वे लिखते हैं—

रस व्यक्तिगत स्वार्थ से परे

"करुण का आधार प्रेम में है, क्योंकि प्रेमवस्तु के ही अनिष्ट से करुण की उत्पत्ति होती है। जो वस्तु हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखती उसके अनिष्ट होने से करुण की उत्पत्ति नहीं होती। जब सहानुभूति के कारण करुण रस की उत्पत्ति होती है तब हमसे सम्बन्ध न रखने वाला भी पदार्थ सहानुभूति के कारण हमारा इष्ट व सम्बन्धी बन जाता है।"

इस अवतरण में जो बातें कही गयी हैं वे क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(१) करुण रस का आधार प्रेम में है।

(२) प्रेमवस्तु के अनिष्ट से करुण रस की उत्पत्ति होती है।

‡ श्री गुलाबराय के ढंग पर डाक्टर रांगेय राघव ने भी 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड' नामक पुस्तक में रस के प्रसंग में लिखते हुए कहा है—"रस-प्रक्रिया में उदात्तीकरण की भावना सर्वयुगीन साहित्य को मापने का मानदण्ड बनना चाहती है, वह केवल एक संकुचित दृष्टिकोण है। क्योंकि उदात्त की भावना युगानुरूप होती है। एक युग का उदात्त दूसरे युग का नहीं होता।" रस-प्रक्रिया को ठीक तौर से समझने का प्रयत्न इन वाक्यों में नहीं है। सृष्टि के आदि से ही मनुष्य हंसता और रोता हुआ चला आ रहा है; पशु के सामान्य स्तर से जहाँ पर वह ऊपर उठा है वहां उसे काव्य के क्षेत्र में प्रवेश मिला है। अपने ही तक सीमित रहकर वह पशु है, अपनी 'अहमिति' से मुक्त होकर ही वह 'मनुष्य, 'सहृदय' और 'कवि' है। मनुष्य अनादि काल से अपने ही लिए नहीं, औरों के लिए भी रोता चला रहा है और रोता चलेगा। उसका यह भाव अनादि, अजर और अमर है। युगों और महायुगों का आना जाना इसमें कोई परिवर्त्तन नहीं ला सकता। इसी स्थायी भाव पर रस-प्रक्रिया निर्भर है।

(३) जो वस्तु हम से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती उसके अनिष्ट होने से करुण रस की उत्पत्ति नहीं होती।

(४) सहानुभूति के कारण करुण रस की उत्पत्ति होती है।

(५) करुण रस की उत्पत्ति होने पर हमसे सम्बन्ध न रखनेवाला भी पदार्थ हमारा इष्ट व सम्बन्धी बन जाता है।

मैंने जो विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया है, विचारणीय संख्या एक उसके ठीक विरोध में पड़ता है; मेरे कथन का सारांश यह है कि करुण रस का आधार प्रेम में नहीं, वरन् प्रेम का आधार करुण रस में है। विचारणीय, संख्या २,३ और ४, में करुण रस की उत्पत्ति बतलायी गयी है। इनमें जिस सिद्धान्त का समावेश किया गया है उसके अनुसार जो वस्तु हमारे प्रेम का पात्र नहीं, जिससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, जिसके साथ हमारी कोई सहानुभूमि नहीं, उसका अनिष्ट होने से करुण रस की उत्पत्ति नहीं होती। इस सिद्धान्त को यदि मान्य कर लिया जाय तो इसके अनुसार आदि कवि को क्रौञ्च पक्षी का वध होने पर न करुणा से अभिभूत होना चाहिए था और न उस दुर्घटना से करुण रस की उत्पत्ति होनी चाहिए थी। कारण यह कि उनका क्रौञ्च पक्षी से पूर्व प्रेम या पूर्व परिचय नहीं था। इसी प्रकार यदि हम किसी अज्ञात, अपरिचित स्थान में पहुँच जायँ जहाँ किसी अबोध बालक पर कोई व्यक्ति अमानुषिक अत्याचार कर रहा हो, तो इस कारण कि बालक हमारे लिए प्रेमवस्तु नहीं है, न हममें करुणा उत्पन्न होगी और न करुण रस का उद्रेक हो सकेगा। किन्तु यह मत नितान्त असंगत है; अपरिचित से अपरिचित व्यक्ति पर भी अत्याचार होगा तो हृदयवान व्यक्ति के हृदय पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। उसके हृदय में करुण रस का संचार होगा और करुण रस का परिपाक भी सम्पन्न हो जायगा। सब से विचित्र बात तो विचारणीय संख्या ५ में कही गयी है; उसके अनुसार पहले करुण रस की उत्पत्ति हो लेगी तब कहीं बाद को आलम्बन हमारा इष्ट और सम्बन्धी बन सकेगा। यह बात विचारणीय संख्या २ का खंडन प्रस्तुत करती है, जिसमें कहा गया है कि पहले प्रेमवस्तु उपस्थित हो और उसका अनिष्ट देखने में आवे तब करुण रस की उत्पत्ति होगी। तीन वाक्यों के अवतरण में भी जो विचार आपस में लड़ रहे हैं। उनसे कैसे आशा की जा सकती है कि वे किसी उलझन को सुलझा सकेंगे, पाठक को ठीक रास्ता दिखा सकेंगे?

श्री गुलाबराय के जिस विचार-प्रवाह का परिचय उक्त अवतरण से मिलता है उसकी उत्पत्ति का कारण यह समझ पड़ता है कि उन्होंने आत्म-

रक्षण-प्रयत्न को ही रसों का मूल आधार माना है। वे उसी अध्याय के उसी अनुच्छेद में कहते हैं :—

"वैज्ञानिक दृष्टि से इन सब रसों के मूल आधार आत्म-रक्षण में हैं। हमारी जितनी स्वाभाविक क्रियाएँ और जितने भाव हैं वे सब व्यक्ति और जाति की स्थिति के हेतु हैं। रसों के स्थायी भावों पर क्षणिक दृष्टिपात करने से हमको इस सिद्धान्त की पुष्टि का प्रमाण मिल जायगा। यदि हम कविता के स्वर्ग से उतर कर विज्ञान की दृढ़ भूमि पर थोड़ी देर के लिए पदार्पण करें तो हम को रसों के वे स्थायी भाव सब आत्म-रक्षा के प्रकार दिखायी पड़ेंगे।"

यदि रस-सिद्धान्त को इस तरह कीचड़ में घसीटा जायगा तो आगे चल कर उसकी और भी दुर्गति होना निश्चित है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि सांसारिक आसक्ति-जन्य विषादों को भुलाने ही के लिए तो हम कविता के स्वर्ग में प्रवेश करते हैं, फिर वहाँ से उतरने की उतावली क्यों करें? विज्ञान जहाँ है वहाँ उसकी उपयोगिता सर्वमान्य है, किन्तु यदि वह काव्य के क्षेत्र में भी प्रवेश करके उसे ऊटपटाँग निर्देश देने लगे तो उसका यह टाँग अड़ाना उसकी अनधिकार चेष्टा होगी।

सच बात यह है कि रस-सिद्धान्त आत्म-रक्षण-प्रयत्न पर नहीं, अन्य-रक्षण-प्रयत्न पर आधारित है। जहाँ आत्म-रक्षण की, योग-क्षेम-चिन्तन की इति हो जाती है और मनुष्य की सहृदयता दूसरों की रक्षा और दूसरों की योग-क्षेम-चिन्ता के लिए अधीर हो उठती है वहीं रस का उदय होता है। तमोगुण और रजोगुण-विशिष्ट वृत्तियों से सर्वथा मुक्त शुद्ध सतोगुणी भूमि ही रस की सच्ची भूमि है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। शुक्ल जी की निम्नलिखित पंक्तियों में यह और भी स्पष्ट हो गयी है :—

रस का आधार— अन्यरक्षण-प्रयत्न

"**अपनी इष्टहानि** या अनिष्ट-प्राप्ति से जो **शोक** नामक वास्तविक दुःख होता है वह तो रसकोटि में नहीं आता, पर **दूसरे की पीड़ा**, वेदना देख जो करुणा जगती है उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा सकती है। 'दूसरों' से तात्पर्य ऐसे प्राणियों से है जिनसे हमारा कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। 'शोक' अपनी निज की इष्ट-हानि पर होता है और 'करुणा' दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है। यही दोनों में अन्तर है।"

❀ ❀ ❀ ❀

"यदि किसी झाड़ी से शेर निकलता देख हम भय से काँपने लगें तो यह भय हमारे व्यक्तित्व से इतना अधिक सम्बद्ध रहेगा कि आलम्बन के पूर्ण स्वरूप-ग्रहण

का अवकाश न होगा और हमारा ध्यान अपनी ही मृत्यु, पीड़ा आदि परिणामों की ओर रहेगा। पर जब हम किसी वस्तु की भयंकरता को, अपना ध्यान छोड़, लोक से सम्बद्ध देखेंगे तब रस-भूमि की सीमा के भीतर पहुँचे रहेंगे। इसी प्रकार किसी सड़ी-गली दुर्गन्ध-युक्त वस्तु के प्रत्यक्ष सामने आने पर हमारी संवेदना का जो क्षोभ-पूर्ण संकोच होगा वह तो स्थूल होगा; पर किसी ऐसे घृणित आचरणवाले के प्रति, जिसे देखते ही लोकरुचि के विघात या आकुलता की भावना हमारे मन में होगी, हमारी जुगुप्सा रसमयी होगी।"

शुक्ल जी की उक्त व्याख्या आत्म-रक्षण के स्थान में अन्यरक्षण की रसात्मकता की घोषणा कर रही है!

इस प्रसंग-प्राप्त चर्चा के अनंतर अब हमें अपने मूल विषय पर आ जाना चाहिए। मैं अन्य रसों के साथ करुणरस के सम्बन्ध का उल्लेख कर रहा था। रौद्र रस और वीररस के साथ उसकी चर्चा की जा चुकी है, अब हमें शान्त रस, वात्सल्यरस, शृंगाररस हास्यरस, अद्भुत रस, भयानक रस, बीभत्सरस के साथ उसके सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करना चाहिए।

करुण रस का शान्त रस से सम्बन्ध

सब से पहले शान्त रस को लीजिए। व्यक्तिगत स्तर पर मनुष्य जिस शान्ति का अनुभव करता है उसका सम्बन्ध प्रायः धन-धान्य की पूर्णता, वस्त्र, आवास, कुटुम्ब, मित्र, यश-सम्मान आदि की बहुलता से रहता है, किन्तु ये सब साधन उसकी स्थिति को रसात्मकता की कोटि को नहीं पहुँचाते। परन्तु जब संसार के साथ की कोटि को नहीं पहुँचाते, परन्तु जब संसार के साथ उसके रागपूर्ण सम्बन्ध का विस्तार होता है और वह समरसता के स्तर पर पहुँच कर शान्ति का अनुभव करता है तब उसे सच्ची शान्ति मिलती है और तब शान्त रस का उद्रेक होता है। रागात्मक भाव का विकास प्राणीमात्र के प्रति आश्रय में स्नेह और करुणा का प्रसार करता है; जिससे यह प्रगट होता चलता है कि हृदय में सहानुभूति और दया को स्थान देनेवाला आश्रय उतनी ही मात्रा में शान्त रस के उद्रेक के लिए सक्षम हो सकता है जितनी मात्रा में करुण रस के उद्रेक के लिए वह हो सकता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि लोक-व्यापार से सम्बन्धित अनेक क्षेत्रों में करुण रस और शान्त रस का समानता के स्तर पर सहयोग होता है।

किन्तु जहाँ करुण रस के लिए लोक-व्यापार से सम्बन्धित क्षेत्र अनिवार्य है वहाँ शान्त रस के लिए वह अनिवार्य नहीं है। करुण रस के लिए आलम्बन के रूप में किसी पीड़ित प्राणी का होना आवश्यक है, किन्तु शान्त

रस के लिए ऐसी कोई आवश्यकता बाधक नहीं है। आकाश और पृथ्वी पर शरदपूर्णिमा की अर्द्धरात्रि की नीरवता में शीतल करों द्वारा सुधा-वितरण करने वाले चंद्रमा को देख कर, ग्रीष्म के अत्याचार से पीड़ित लोक के क्लेश-निवारणार्थ दल के दल एकत्र होने वाले काले बादलों के आगमन से हर्षित मोर और मोरनी का कूजन सुनकर सहृदय जन-विशेष करुणा करने की समस्त परिस्थितियों से मुक्त होकर शान्त रस में निमग्न हो सकता है। इस प्रकार कहीं-कहीं शान्त रस का मानदण्ड करुण रस की अपेक्षा ऊँचा उठ जाता है और वहाँ यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि शान्त रस में करुण को गर्भित कर लेने की शक्ति है।

शान्त रस को छोड़ कर शेष सभी रस अल्पाधिक मात्रा में लोक-व्यापार ही से सम्बद्ध हैं और अपने प्रकृत स्वरूप की रक्षा के लिए करुण रस के सहयोग की अपेक्षा करते हैं। उदाहरण के लिए हास्य-

करुण रस का अन्य रसों के साथ सम्बन्ध

रस को ले लीजिए। इसका आलंबन प्रायः मूर्ख होता है, जिसकी बात में, अथवा आचरण में, अथवा अंग-संचालनादि क्रिया में कुछ ऐसी असम्बद्धता, ऐसा बेतुकापन होता है कि उसे देख कर लोग-हँस पड़ते हैं। अब यदि इस परिहास के अन्तर में करुणा की गुप्त धारा न प्रवाहित होती रहे तो सहज ही कवि अथवा कलाकार काव्य की सतोगुणी भूमि के नीचे गिर पड़े और आश्रय काव्य-रस का स्वाद पाने के स्थान में आलम्बन के व्यक्तित्व ही में मनोरंजन खोजने लगे। सच्ची करुणा के अभाव में न रचनाकार को पूर्ण तल्लीनता प्राप्त होगी और न उसके पाठक अथवा श्रोता आश्रय को; रचनाकार आलम्बन की परिस्थितियों का यथार्थ और मार्मिक चित्रण नहीं कर सकेगा, और चित्रण की त्रुटि के कारण आश्रय आलम्बन के प्रति अपना तादात्म्य नहीं स्थापित कर पावेगा। भयानक रस में भयभीत, वीभत्स रस में अत्यन्त कुत्सित परिस्थितियों में मग्न, वात्सल्य रस में बाललीला आदि के लिए चंचल, शृंगार रस में अपने तारुण्य और सौन्दर्य के मद से उन्मत्त आलम्बनों को भी आश्रय के तादात्म्य के योग्य बनाने के लिए करुणा का अवलम्ब लेना ही पड़ेगा, क्योंकि वही उनका सम्बन्ध समाधि की दिशा में उन्मुख सत्य के विभिन्न स्तरों और स्वरूपों के साथ जोड़े रह सकती है। अन्य रसों की अपेक्षा अद्भुत रस करुण रस के प्रभाव से मुक्त प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह भी स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि करुण रस से सर्वथा असम्बद्ध होकर वह आश्रय को संसार के असाधारण, आश्चर्योत्पादक तत्त्वों के प्रति अधिक ममतावान् बनाकर शेष जगत् के प्रति निष्ठुरता का भाव

रखने की प्रवृत्ति दे सकता है, जिसके परिणाम-स्वरूप प्रधान लक्ष्य की ओर आश्रय की प्रगति की आशा क्षीण हो जायगी।

उच्चता की दृष्टि से शान्तरस और अधिकार की दृष्टि से करुण रस का महत्व सिद्ध होने पर भी रसों का राजा शृंगार रस ही है। इसका कारण यह है कि सामान्य कोटि का आश्रय शान्त रस और करुण रस के आलम्बनों के प्रति उतनी सरलता और विवशता के साथ आकर्षित नहीं होता जितनी सरलता और विवशता के साथ शृंगार रस के आलम्बनों के प्रति आकर्षित होता है। शृंगार रस का आलम्बन सुन्दरी नारी, सम्मोहन के समस्त साधनों से सुसज्जित होकर तरुण पुरुष के हृदय को आह्लाद से भर देती है; इसी प्रकार युवा पुरुष रक्षण और पोषण की शक्तियों से समन्वित होकर युवती रूपी लोहे के लिए चुम्बक बन जाता है। अन्य रसों के आलम्बन और आश्रय में अन्योन्य तन्मयता के लिए इतना आग्रह, इतना उन्माद सम्भव नहीं है। इस शृङ्गार रस पर करुण रस का कितना प्राधान्य है, इसे समझने के लिए यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि सहृदय पुरुष के पराक्रम एवं उसकी सहृदयतामयी करुणा ही ने नारी के प्रणय को अर्जित किया; क्योंकि जंगली लोगों के आक्रमण से नारी स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त शृङ्गार रस का संयोग पक्ष जितना मधुर है, उससे कहीं अधिक मधुर उसका वियोग पक्ष है, जिसे विप्रलम्भ शृंगार कहते हैं; इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी मनोहर विशेषताओं के लिए शृङ्गार रस करुण रस का कम ऋणी नहीं है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि करुण रस का जितना प्रभाव शृङ्गार रस पर है क्या उतना ही प्रभाव शृङ्गार रस का करुण रस पर नहीं है? इसके उत्तर में इतना स्वीकार किया जा सकता है कि शृंगार रस के आलम्बन के प्रति आश्रय में करुणा का भाव सहज ही जाग्रत हो जाता है। किन्तु इतना होने पर भी सच बात यह है कि यदि करुण रस आम्र वृक्ष का मूल है, तो शृंगार रस उसका सुकोमल, रसमय पल्लव है, जिसमें सुरभित मंजरियाँ हवा के झोंकों से हिल हिल कर भ्रमरों के गुंजार को आमंत्रित करती रहती हैं। मूल की महत्ता निर्विवाद है, उसके बिना वृक्ष का विकास सम्भव नहीं, किन्तु आँखों ने तो केवल प्रसार का सौंदर्य देखा है और यदि वे उसी के ऐश्वर्य पर मुग्ध हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

अगले अध्याय में रस-सिद्धान्त के विभिन्न अवयवों का एक संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

———

अध्याय २३

शुक्ल जी की समीक्षा का सहायक सिद्धान्त—५

रस-मत [ख]

रस-सिद्धान्त के अतिरिक्त अलंकार-मत, ध्वनि-मत, वक्रोक्तिमत और रीति-मत—ये चार अन्य साहित्यिक विचार-धाराएँ भारत में फैलीं, जिनके प्रवर्त्तकों ने सामान्यतः रस-सिद्धान्त को अमान्य नहीं ठहराया, किन्तु फिर भी अपने मत का महत्व प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। इनकी ओर आकर्षित न होकर शुक्ल जी ने विशेष रूप से रस-सिद्धान्त ही का पृष्ठपोषण किया और उसी के आधार पर योरोपियन साहित्य में प्रचलित तथा अनुकरण वृत्ति की प्रेरणा से हिन्दी के, नयी पीढ़ी के, साहित्यकारों द्वारा प्रशंसित अनेक वादों का खंडन किया। इसकी विशेष चर्चा आगे की जायगी। यहाँ रस-सिद्धान्त की दो विशेषताओं का उल्लेख करना ही यथेष्ट होगा, जिससे शुक्ल जी के तत्सम्बन्धी आग्रहों को पाठक आसानी के साथ हृदयंगम कर सकें।

रस-सिद्धान्त की पहली विशेषता यह है कि काव्य के कल्पना और अनुभूति नामक दो अंगों में से वह अनुभूति को साध्य तथा कल्पना को साधन-रूप में ग्रहण करता है। कल्पना और अनुभूति की कुछ चर्चा की जा चुकी है, उसके आधार पर पाठक जानते हैं कि काव्य में कल्पना को मनुष्य की सम्पूर्ण सत्ता की अभिव्यक्ति करने का काम देना उचित नहीं है; यह काम तो वास्तव में अनुभूति ही का है। कल्पना का दायित्व घर की उस लड़की का सा है जो बाहर की सब सामग्री लाकर घर में रख देती है और अनुभूति का कर्त्तव्य उस वधू का सा है जो प्राप्त सामग्री की सहायता से सुस्वादु भोजन तैयार करके सामने परोस देती है। सत्य की अनेक अज्ञात परिस्थितियों को झलका देने से लेकर साक्षात्कार के रूप में परिणत करने तक का काम कल्पना का है और उसे हृदयंगम करने का काम अनुभूति का। बढ़ई का काम सोनार से और सोनार का काम बढ़ई से कराया जायगा तो काम अवश्य ही बिगड़ेगा। योरप ही में नहीं, हमारे देश में भी

रस-सिद्धान्त में कल्पना संयत्

जो तरह तरह के साहित्यिक मत फैले, उनके प्रसार का कारण कल्पना को उचित से अधिक महत्व देना ही रहा है।

विश्व-जीवन की विशाल प्रदर्शिनी में हम सत्य के उतने ही रूपों का दर्शन कर पाते हैं जितने के लिए हमारे पास कल्पना का निर्देश प्रस्तुत रहता है। थोड़ी-बहुत कल्पना और अनुभूति तो पशु में भी होती है जिसकी सहायता से वह अपने शत्रु और मित्र को पहचानता है। तथा शत्रु से लड़ने और मित्र की रक्षा करने के लिए तैयार रहता है। किन्तु पशु कितना भी प्रबुद्ध हो, न उसे भूतकाल का स्मरण होता है और न भविष्य का चिन्ता इस स्मरण और चिन्ता की शक्ति से सम्पन्न होते ही वह मनुष्यता की प्रथम स्थिति को प्राप्त होता है। मनुष्य अपने भोजन, वस्त्र और निवास की समस्या को हल करता हुआ निरन्तर प्रगति करता रहता है।

जीवन में विभिन्न तथ्यों को अपने सामने पाकर मानव की कल्पना कभी चकित, कभी स्तम्भित और कभी चमत्कृत होती चलती है। विभिन्नता के अन्तर में निहित अभिन्नता की खोज में तत्पर रहने के अनन्तर सत्य-विशेष की स्थापना करके वह अपने विश्राम-स्थल पर पहुँचती है। यहाँ प्राप्त विश्राम की पूर्ण उपभुक्ति करा कर अनुभूति मानव व्यक्तित्व के उस विकास की पूर्णता उपस्थित करती है, जिसको झलकाना और झलकाने के अनन्तर स्पष्ट कर देना भर कल्पना काम रहा है। यदि अनुभूति के द्वारा यह कार्य सम्पन्न न हो तो विकास के नये नये स्तरों की माँग न हो, कल्पना को नवीन भ्रमण के लिए प्रेरणा न मिले और मानव की प्रगति का सारा कार्य रुक जाय। अकेली कल्पना केवल विज्ञान के क्षेत्र के लिए पर्याप्त हो सकती है; इसके विपरीत काव्य के क्षेत्र में कल्पना और अनुभूति दोनों का सहयोग आवश्यक है। कल्पना की उच्च कोटियों के साथ जब अनुभूति के समस्तरीय प्रखर रूपों का समन्वय होता है तब उच्च कोटि के काव्य की सम्भावना होती है।

कल्पना में भी कुछ रचनात्मक तत्त्व होता है; इसी प्रकार अनुभूति में भी कुछ भ्रमणात्मक तत्त्व पाया जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में कल्पना नवीन सत्य स्वरूपों की स्थापना कर के रचना का ही कार्य करती है, इसी प्रकार काव्य की प्रकृत भूमि से नीचे की तलहटियों में उतर कर जब अनुभूति व्यक्तिगत स्वार्थों और कामनाओं आदि में रमण करती है तब उसका यह रमण प्रसरणशील अधिक और केन्द्रगत अथवा निर्माणात्मक कम हो जाता है। इस प्रकार की व्यक्ति-सीमित अनुभूति उच्च श्रेणी के, अथवा प्रकृत, काव्य को अनुप्राणित नहीं कर सकती; आगे की प्रगति से सर्वथा शून्य होकर वह

पीछे की ओर खिसक आती है और वहाँ पहुँचती है जहाँ रचनात्मक कल्पना के अन्तिम स्वरूप से वह अधिक दूर नहीं होती। इस प्रकार की अनुभूति में विचित्रता यह होती है कि न तो इसमें काव्यात्मक अनुभूति की सी सरसता पायी जाती है और न द्रुतगामिनी कल्पना की सी चंचलता ही इसमें दिखायी पड़ती है। अनुभूति की यह शोचनीय स्थिति उस श्रमिक-बाला की अवस्था से भिन्न नहीं होती जो एक ओर तो अपने घर से बहुत दूर चली आयी, दूसरी ओर अभीष्ट कर्म-व्यवसाय के क्षेत्र में भी प्रवेश नहीं करने पायी। अभिव्यंजनावादी क्रोचे ने साधारणीकृत अनुभूति को न ग्रहण कर के उक्त दुर्बल अनुभूति ही को मान्यता दी है और उसे अपनी विचार-व्यवस्था में एक साधारण स्थान देकर ठीक ही किया है। स्वभावतः उनके यहाँ कल्पना का स्थान सर्वोपरि हो गया है।

प्रकृत काव्य में नियोजित होने के योग्य, साधारणीकृत अनुभूति में जिस विधायक कल्पना-तत्त्व का समावेश स्वतः रहता है उसके द्वारा उक्त अनुभूति की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य की सृष्टि होती है। संस्कार-सम्पन्न होने के कारण उक्त अनुभूति में सहज लावण्य का संचार हो जाता है, फिर जब उसको अलङ्कार, गुण आदि के माध्यम से भी कल्पना का एक सहयोग प्राप्त होता है तब उसकी रमणीयता का कहना ही क्या! इसका अर्थ यह है कि अलङ्कार, गुण आदि के अभाव में भी, कल्पना द्वारा स्पष्टीकृत आलम्बनों और उद्दीपनों के आधार पर खड़ी होने वाली साधारणीकृत अनुभूति की सहज सुषमा के स्वरूप में कोई त्रुटि हो जायगी। यदि कल्पना के किसी रूप की अनिवार्यता मानी जा सकती है तो यह उसका विधायक स्वरूप ही है, क्योंकि अत्यन्त स्पष्ट रूप विधान के तथा प्रत्यक्ष, स्मृत और अनुमानित आकृतियों का मानसिक दृष्टि के सामने प्रस्फुटन कर के वही अनुभूति को स्वाद-ग्रहण की क्रिया से समन्वित होने का अवसर देती है।

कल्पना का अनुचित प्राधान्य

कल्पना का अनुचित महत्त्व तभी बढ़ता है जब युग-विषयक जीवन-दर्शन में परिवर्त्तन काव्य-सम्बन्धी आदर्श अधःपतन की ओर उन्मुख होता है। स्वस्थ साहित्य में काव्य का आदर्श भावयोग ही हो सकता है; विकृति का संचार होने पर एकमात्र मनोरञ्जन ही उसका लक्ष्य रह जाता है। ऐसे समय में चमत्कारों की सृष्टि के लिए अलङ्कारों और सूक्तियों की माँग बढ़ जाती है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि अलङ्कार और सूक्तियाँ, दोनों ही साध्य नहीं हैं, साधन मात्र हैं।

'भावयोग' को हम काव्य के लक्ष्य रूप में स्वीकार करेंगे। तभी उनका

यह कथन माना जा सकेगा उस उद्देश्य को तिरस्कृत कर देने पर अलङ्कार और सूक्ति स्वयं ही साध्य हो जाती हैं। इसीसे अलङ्कार-मत के प्रवर्त्तक उद्भट, दण्डी और रुद्रट् आदि आचार्यों ने अलङ्कार को प्रधान स्थान देकर उसी में रस का निवास घोषित किया है।

सौन्दय-भावना का विकृत होकर ऐसे निम्न स्तरों पर उतरना जहाँ से काव्य की प्रकृत भूमि पर उसकी पहुँच न हो सके तथा भाव अथवा रस की तुलना में अलंकार और सूक्ति का महत्व बढ़ जाय, प्रकारान्तर से अनुभूति पर कल्पना की विजय घोषित करना है। इटली निवासी क्रोचे (Benedetto croce) ही कल्पना के पृष्ठपोषक नहीं हैं, स्वयं भारत में, कल्पना को प्राप्त होनेवाले इस अमर्यादित सत्कार से संस्कृत काव्य की अधःमुखी प्रवृत्ति हो गयी थी।

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुंतक ने अलंकार-मत से घनिष्टता रखनेवाले वक्रोक्ति-मत का प्रतिपादन किया, किन्तु जो बात अलंकार-मत के सम्बन्ध में कही गयी है, वही वक्रोक्ति-मत के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, अर्थात् वक्रोक्ति भी कल्पना-पीड़ित ही होती है। विशिष्ट पद-रचना को काव्य की आत्मा घोषित करनेवाले आचार्य वामन ने गुणों पर अधिक बल दिया, जैसा कि अलंकार-मत के पोषक उद्भट, रुद्रट्, दण्डी आदि ने किया है। गुणों के अधिक प्रयोग के कारण रीतिमत भी अलंकार-मत के बहुत समीप पहुँच गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि रीतिमत भी अन्य मतों ही की तरह कल्पना से आक्रान्त है। इस प्रकार जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, यह देखा जाता है कि भारत में भी रस-सम्प्रदाय को छोड़ कर अन्य विभिन्न साहित्य-मतावलम्बियों ने भाव और अनुभूति की अपेक्षा कल्पना ही का अधिक समर्थन किया।

भारतीय काव्य मतों में रस की मान्यता

किन्तु कल्पना को अधिक प्रश्रय देकर भी भारतीय विभिन्न काव्य-मतों ने रस-सिद्धान्त का मूलोच्छेद करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। अलंकारवादी आचार्य रुद्रट् स्पष्ट रूप से कहते हैं कि काव्य को यत्नपूर्वक रस से सम्पन्न बनाना चाहिए; ध्वनि मत के समर्थक आचार्य अभिनव गुप्त ने रस और भाव का तिरस्कार नहीं किया, क्योंकि ध्वनि की प्रधान विशेषता व्यंजना के दो भेदों में वस्तु व्यंजना के साथ-साथ भावव्यंजना भी है, रस-व्यंजना जिसका पर्यायवाची सा है। कहा जा सकता है कि ध्वनि में कल्पना का प्राधान्य केवल वस्तु-व्यंजना तक परिमित है, भाव-व्यंजना के, क्षेत्र के पास पहुँचते ही 'रस' की उपयोगिता झलकने लगती है। 'रीति-मत

का गुणों को महत्त्व प्रदान करना ही 'रस' की प्रयोजनीयता को प्रगट कर देता है, क्योंकि गुण अपनी स्थिति के लिए किसी आधार की अपेक्षा करते हैं। ओज, उदारता, श्लेष, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, समाधि, अर्थव्यक्ति, प्रसाद और कान्ति—ये दस गुण वीर, रौद्र, शृङ्गार, अद्भुत आदि रसों का सहयोग पाकर ही सार्थकता प्राप्त करते हैं। रहा वक्रोक्तिमत, सो उसका गँठबन्धन अलंकार-मत के साथ ही है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

विलायती काव्यमत

परन्तु नव निर्माणमयी कल्पनावाद, व्यक्तिवैचित्र्यवाद, कलावाद, प्रभाववाद और अभिव्यंजनावाद आदि विभिन्न काव्य-मतों में रस-सिद्धान्त पर सीधा आक्रमण है, क्योंकि लौकिक भाव-स्तर से ऊपर उठ कर रस सिद्धान्त जिस अलौकिक भाव और रस को प्रवाहित करता है, उसके उद्गम-स्रोत—करुणा-तत्त्व—को ही अस्वीकृत करने का प्रयत्न इनमें अग्रसर हुआ है। एक विलायती समीक्षक महाशय ने कल्पना की उपयोगिता विशेष रूप से इस बात में मानी है कि वह सर्वथा नवीन और मौलिक चरित्रों की सृष्टि करे, जो किसी प्रकार के वर्गीकरण के अधीन न आ सकें। कुछ पात्रों से परिचित होने पर उनके प्रति हमारे हृदय में स्वभावतः श्रद्धा उत्पन्न होती है और कुछ के प्रति घृणा। उक्त समीक्षक का मत है कि रचनाकार श्रद्धास्पद और घृणास्पद चरित्रों की सृष्टि के रूप में वास्तव में अपने ही पक्षपात को व्यक्त करता है, और यह पक्षपात उसकी कल्पना की हीनता को प्रकट करता है न कि उत्कृष्टता को। वह उसी कल्पना को ऊँची मानता है जिसके द्वारा रचनाकार सर्वथा निरपेक्ष भाव से वर्गीकरण की समस्त संभावनाओं से मुक्त चरित्रों की अवतारणा कर सके। उसने शेक्सपीयर के हैम्लेट नामक पात्र को इसी प्रकार की नव निर्माण करनेवाली कल्पना का उदाहरण माना है। आचार्य शुक्ल यहाँ सहमत नहीं हैं। वे इस बात को नहीं स्वीकार करते कि श्रद्धास्पद और घृणास्पद चरित्रों की अवतारणा करनेवाले कवियों की कल्पना हीन श्रेणी की है। रही हैम्लेट की बात, सो उसे वे वर्गीकरण के अयोग्य अथवा उससे परे नहीं मानते। उन्होंने कहा है—

"विचारपूर्वक देखा जाय तो हैम्लेट का मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्ध विक्षिप्त सा हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसके वचनों का असामंजस्य उसकी बुद्धि की अव्यवस्था का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी एक वर्ग-विशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है।"

यदि कौतूहल की तृप्ति को, मनोरंजन को ही काव्य का उद्देश्य मान

लिया जाय तो कवि-कल्पना का भाँति-भाँति के व्यक्ति-वैचित्र्य को उपस्थित करना भी स्वाभाविक ही है, किन्तु क्या काव्य के ऐसे हनके लक्ष्य को स्वीकार करके भी -जिसमें मानव-हृदय के संस्कार-सम्पन्न हो सकने की, जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाने की सम्भावना रह ही नहीं जाती— हम स्वयं को प्रगतिशील कह सकेंगे ? हैम्लेट के मानसिक विक्षेप को ऐसे रूप में देखने का प्रयास करना जो उसे विश्व में एक नूतन, अज्ञात, अचिन्तित व्यक्तित्व से सम्पन्न कर दे, शेक्सपीयर का सच्चा सम्मान करना नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतिष्ठा तो इसीलिए है कि उसने मानव के गूढ़ हृदयगत भावों के भीतर पैठ कर उन्हें समझने की चेष्टा की है और उनको साधारणीकरण के स्तर पर पहुँचाया है।

पाश्चात्य साहित्य में जब तक कल्पना का गठबन्धन जड़वादी प्रवृत्ति के साथ नहीं हुआ था तब तक काव्य की उससे कोई विशेष क्षति नहीं हुई थी किन्तु डारविन और कार्लमार्क्स के विचारों के प्रचार से जब से कवियों में जड़वादी मनोवृत्ति का प्रसार हुआ है तब से क्रमशः काव्य की प्रवृत्तियाँ भोगवाद की ओर उन्मुख हुई हैं और कल्पना उसके नग्न स्वरूप के अन्तस्पर्शी अनुसंधान में लग रही है। हिन्दी के कोई कोई श्रेष्ठ कलाकार भी इसी पथ के पथिक होकर ऐसी कविताएँ* लिख रहे हैं, जिनमें काव्यानुभूति का विकास करने के स्थान में अनियन्त्रित कामुकता ही को गौरवान्वित करने का प्रयास दिखायी पड़ता है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी कविताओं को लेकर 'नयी कविता' के नयेपन का ढिंढोरा पीटा जा रहा है और उन्हें सम्पादन और प्रकाशन की समस्त सुविधाएं प्राप्त हैं। अस्तु।

जड़वादी प्रवृत्ति से प्रभावित कल्पना

---

*"कौंगड़े की छोरियाँ
कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ
लाला जी जेवर बनवा दो
खाला करो तिजोरियाँ
कौंगड़े की०
पुतलियाँ चंचल कालियाँ
कानों झुमके बालियाँ
हम चौड़े में खड़े लुट गये
बनी न हमसे चोरियाँ
कौंगड़े की०

जड़वादी प्रवृत्ति के साथ कल्पना के गँठबंधन का अर्थ यह है कि कल्पना की पूरी दौड़ मनुष्य के शारीरिक स्तर तक सीमित हो गयी, शरीर केवल भोग का साधन मान लिया गया, भोग के साधनों और रूपों की संख्या बढ़ायी गयी और वे सब द्वार बन्द कर दिये गये जिनके माध्यम से करुणा-प्रसूत धर्म और आनंद-प्रसूत मोक्ष के प्रस्तुत होने की संभावना हो सकती थी। कल्पना स्वभावतः व्यक्ति को भोगपरक आवश्यकताओं की वृद्धि में लगी और प्रत्येक क्षण उसे अपनी अपूर्णता की भावना में मग्न रख कर बुद्धि-विशिष्ट पशुता के घेरे के भीतर ही चक्कर काटने के लिए विवश करने लगी। मानव के अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष के समन्वित जीवनोद्देश्य-पूर्त्ति के स्थान में केवल अर्थ, काम तक वह सीमित हुई, यही नहीं, उस संकीर्ण सीमा को ही जीवन की सम्पूर्ण मर्यादा, समस्त विस्तार मानने के लिए भी बाध्य हुई। कल्पना की स्वतंत्रता छिन गयी; उसे कठोर कारावास मिल गया।

मानव-जीवन के उद्देश्य अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष

जीवन की परिपूर्णता तो अर्थ, काम धर्म और मोक्ष के चतुर्वर्ग से ही आती है और चारों ही में सामंजस्य की स्थापना का साक्षात्कार कर के ही वह काव्य के लिए गेय बनता है, किन्तु साधारण इतिवृत्त की चरितार्थता के लिए अर्थ और काम का सामंजस्य तो अनिवार्यतः आवश्यक है; और, यह सामंजस्य उसी सीमा तक सफल और सार्थक समझा जायगा जिस सीमा तक वह अपने को धर्म और मोक्ष की संगति में खड़ा करेगा। शुक्ल जी ने काम को 'सुखेच्छा' के रूप में ग्रहण करते हुए कहा है :—

"मनुष्य की सुखेच्छा कितनी प्रबल, कितनी शक्तिशालिनी निकली। न जाने कब से वह प्रकृति को काटती-छाँटती, संसार का कायापलट करती चली जा रही है। वह शायद अनन्त है, 'आनन्द' का अनन्त प्रतीक है। वह इस संसार में न समा सकी तब कल्पना को साथ लेकर उसने कहीं बहुत दूर स्वर्ग की रचना की। चतुर्वर्ग में इसी सुख का नाम 'काम' है। यद्यपि देखने में 'अर्थ' और 'काम' अलग अलग दिखायी पड़ते हैं, पर सच पूछिए तो 'अर्थ' काम का ही एक साधन ठहरता है, साध्य रहता है 'काम' या सुख ही।"

जब कल्पना जड़वादी प्रवृत्ति के साथ साठ-गाँठ कर लेती है तब अर्थ और काम दोनों ही का सामंजस्य तो रहता है, किन्तु इन दोनों का समन्वय धर्म

जड़वादी कल्पना केवल अर्थ, काम की पोषक

और मोक्ष, करुणा और आनन्द के साथ न होने के कारण इनका विकृत रूप ही हमारे सामने उपस्थित होता है। इस प्रकार एक ओर तो कल्पना का दुरुपयोग होता है, दूसरी ओर उसकी प्रगति कुंठित हो जाती है। यदि हम चाहते हैं कि कल्पना का सदुपयोग हो और वह सामान्य जीवन के स्तर से ऊपर उठ कर कविकर्म की सहायिका बने, उसे निरन्तर अनुभूति द्वारा अनधिकृत, अनुपभुक्त नवीन सत्य के क्षेत्रों का प्रत्यक्षीकरण कराती चले तो सब से पहले हमें अप्रगतिशील, संकीर्ण जड़वादी प्रवृत्ति से छुटकारा लेना होगा।

जड़वादी प्रवृत्ति ने कल्पना की गति अर्थ और काम की चार दीवारों के भीतर बद्ध कर के यत्रतत्र तरह-तरह के काव्य-सिद्धान्तों का जन्म दिया है। उनमें से दो हैं - स्वप्नवाद और वासनावाद। इनका उल्लेख आगे 'शुक्ल जी का वाद-विवेचन' शीर्षक अध्याय में किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि इन वादों के रूप में विकृत कल्पना ने काव्य को भी अधः-पतन की ओर ले जाने में कोई कोर-कसर नहीं की है।

अभी तक कल्पना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उससे उसका एक निश्चित रूप पाठकों के सामने स्पष्ट हुआ—उसके द्वारा ही सौन्दर्य की झलक एवं क्रमशः साक्षात्कार प्रस्तुत होने पर अनुभूति उसके उपभोग में संलग्न होती है। यह कल्पना किस प्रकार उद्दीप्त होती है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक अपने निबन्ध में कल्पना के क्रियाशील होने के तीन कारण बतलाये हैं—(१) प्रत्यक्ष सम्पर्क-स्थापन; (२) स्मरण; (३) स्मृत्याभास कल्पना। संसार के किसी मनोहर रूप, मार्मिक परिस्थिति अथवा तथ्य के सम्पर्क में आकर हम किसी भाव से प्रेरित होते हैं; इन आलम्बनों के साथ उद्दीपक सामग्री की संयोजना से व्यक्तिगत भाव का विभावन-व्यापार, साधारणीकरण अर्थात् उस व्यक्ति-सीमित भाव को समस्त सहृदय जन के लिए संवेद्य बनाने का कार्य सम्पन्न होने लगता है। उक्त तीनों आधारों पर यह सम्पर्क स्थापित होता है।

कल्पना की क्रियाशीलता के तीन कारण

प्रत्यक्ष सम्पर्क-स्थापन के अंतर्गत आलम्बन का दिखायी पड़ना, उसकी वाणी अथवा शब्द का सुनायी पड़ना, उसकी सुगंधि का सूँघा जाना, उसके जलतत्त्व से सिक्त होना, उसके स्पर्श का अनुभव होना आदि सभी कुछ सम्मिलित है। अभिव्यंजनावादी आचार्य क्रोचे 'प्रत्यक्ष' में कोई सौंदर्य नहीं

स्वीकार करते; उनका मत है कि स्मरण और अनुमानमयी कल्पना की नियोजना ही से प्रत्यक्ष में सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है। किन्तु रागात्मिका वृत्ति के समर्थक शुक्ल जी प्रत्यक्ष में भी सौन्दर्य की स्थापना करते हैं। इस सिलसिले में पाश्चात्य समीक्षकों के मत की आलोचना करते हुए वे कहते हैं :—

"कोरे शब्द-व्यवसायी केशवदास जी को कमल और चन्द्र को प्रत्यक्ष देखने में कुछ भी आनन्द नहीं आता था; केवल काव्यों में उपमा उत्प्रेक्षा आदि के अंतर्गत उनका वर्णन या उल्लेख ही भाता था। ×× यही बात पद्य में भी बढ़ती बढ़ती बुरी हद को पहुँची। कलागत अनुभूति को वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभूति से एक दम पृथक् और स्वतन्त्र निरूपित कर के वहीं कवि का एक अनंग 'काल्पनिक जगत्' कहा जाने लगा।"

[चिन्तामणि, पृ० २४६]

विभावन-व्यापार द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत भाव का सर्व सामान्य स्तर पर ले जाने से वे तंतु टूट जाते हैं जो उसकी वैयक्तिक भावनाओं के बन्धन का निर्माण करते हैं; इन तंतुओं का टूटना मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास का एक श्रेष्ठ साधन है। इस संस्कार का स्वीकार न करने के कारण ही पाश्चात्य समीक्षा में अनुभूति उभड़ नहीं सकी और कल्पना आकाश तक उड़ चली। रस-सिद्धान्त में मनुष्य में उत्तरोत्तर मानवता की वृद्धि की व्यवस्था है, क्योंकि इसमें तो किसी प्रकार के विवाद की गुंजाइश नहीं कि अनुभूति में निर्माण करने की शक्ति कल्पना की अपेक्षा कहीं अधिक है और वह उसी के परिष्कार का प्रयत्न करता है।

शुक्ल जी ने स्मरण दो प्रकार का माना है—(१ विशुद्ध स्मरण; (२) प्रत्यक्ष का सहारा लेकर स्थित होने वाला स्मरण। इन दोनों प्रकारों में अंतर यह है कि विशुद्ध स्मरण में तत्काल किसी प्रत्यक्ष सम्पर्क-स्थापन की आवश्यकता नहीं रहती; इसके विपरीत द्वितीय प्रकार के स्मरण में किसी प्रत्यक्ष सम्पर्क की आवश्यकता रहती है, जिसके बिना स्मरण का जगना संभव नहीं होता। उदाहरण के लिए आलम कवि की निम्नलिखित पंक्तियों को देखिए :—

"जाचल कीन्हें बिहार अनेकन ताचल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।"

❀ ❀ ❀

"याही कुंज पुंजन तर गुंजत भँवर भीर,
याही कुंज पुंजन तर अब सिर धुनत हैं।"

यहाँ प्रथम तथा तृतीय पंक्ति में वियोगिनी ने जो भाव व्यक्त किया है, उससे स्पष्ट है कि उसका स्मरण 'बहार-स्थलों में जाने से ही दर्द प्रारंभ हुआ

है। प्रथम प्रकार के स्मरण में इस सहारे की आवश्यकता नहीं रहती। अवकाश के क्षणों में जब अचानक हमारा ध्यान कहीं पहुँच कर टिक जाता है, तब इस प्रकार का स्मरण जाग्रत होता है। उदाहरण के लिए—

"हे मानस के मोती, ढलक चले तुम
कहाँ बिना कुछ जाने!
प्रिय हैं दूर गहन में, पथ में
है कौन जो तुम्हें पहचाने।"

—[साकेत, नवमसर्ग

प्रत्यक्ष सम्पर्क-सहायक एवं स्मरण की चर्चा की जा चुकी. अब कल्पना को क्रियाशील बनाने वाले उसके उस स्वरूप की चर्चा शेष है जो स्मृतियों पर आधारित होकर चलता है। ये स्मृतियाँ दो प्रकार की हैं—(१) इतिहास पर आधारित; (२) अनुमान पर आधारित।

(१) इतिहास पर आधारित स्मृति के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है:—

"इतिहास का कोई भावुक और कल्पना-सम्पन्न पाठक यदि पुराना दिल्ली, कन्नौज, थानेसर, चित्तौड़, उज्जयिनी, विदिशा इत्यादि के खंडहरों पर पहले-पहल भी जा खड़ा होता है तो उसके मन में सब बातें आ जाती हैं, जिन्हें उसने इतिहास में पढ़ा था या लोगों से सुना था।"

—[रसात्मक बोध के विविध स्वरूप

(२) स्मृत्याभास कल्पना का अनुमान पर आधारित स्वरूप वह है जिसमें आलम्बन कोई ऐसा वस्तु नहीं होता जिसके सम्बन्ध में हमने कहीं पढ़ा हो, या जिससे हमारा किसी प्रकार का परिचय हो। वैसे तो इतिहास पर आधारित स्मृति में भी अनुमान का सहयोग आवश्यक हो जाता है, किन्तु अनुमान पर आधारित स्मृति में तो यह अनिवार्य ही होता है। ऐसे आलम्बन प्रायः उच्च अट्टालिकाओं के ध्वंसावशेष, भग्न देवस्थान और उजड़े हुए नगर ग्राम आदि होते हैं।

उक्त समस्त साधनों का अवलम्ब लेकर कल्पना आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव और अनुभाव की सामग्री प्रस्तुत करती है और इनमें से प्रत्येक को व्यक्ति-सीमित अवस्था से मुक्त कर के लोक-संवेदनशीलता के संस्कारों से सम्पन्न बनाती तथा उसका सम्बन्ध उस स्थायी भाव से जोड़ती है जो अपनी पूर्णता को प्राप्त होकर रस की संज्ञा ग्रहण करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आश्रय के वैयक्तिकता एवं देश-काल की संकीर्णता से मुक्त अनुभूति के रस-साक्षात्कार में जिस प्रकार हो जाता है, उसी अचल समाधि ले लेना ही, तपोमयी कल्पना का जीवन-लक्ष्य है। जिन काव्य-

स्वीकार करते; उनका मत है कि स्मरण और अनुमानमयी कल्पना की नियोजना ही से प्रत्यक्ष में सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है। किन्तु रागात्मका वृत्ति के समर्थक शुक्ल जी प्रत्यक्ष में भी सौन्दर्य की स्थापना करते हैं। इस सिलसिले में पाश्चात्य समीक्षकों के मत की आलोचना करते हुए वे कहते हैं :—

"और शब्द—व्यवसायी केशवदास जी को कमल और चन्द्र को प्रत्यक्ष देखने में कुछ भी आनन्द नहीं आता था; केवल काव्यों में उपमा उत्प्रेक्षा आदि के अंतर्गत उनका वर्णन या उल्लेख ही भाता था। ×× यही बात यथा न भी बढ़ती बढ़ती बुरी हद को पहुँची। कलागत अनुभूति को वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभूति से एक दम पृथक् और स्वतन्त्र निरूपित कर के वही कवि का एक अलग 'काल्पनिक जगत्' कहा जाने लगा।" [चिंतामणि, पृ० २४६]

विभावन-व्यापार द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत भाव का सर्व सामान्य स्तर पर ले जाने से वे तंतु टूट जाते हैं जो उसकी वैयक्तिक भावनाओं के बन्धन का निर्माण करते हैं; इन तंतुओं का टूटना मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास का एक श्रेष्ठ साधन है। इस संस्कार का स्वीकार न करने के कारण ही पाश्चात्य समीक्षा में अनुभूति उभड़ नहीं सकी और कल्पना आकाश तक उड़ चली। रस-सिद्धान्त में मनुष्य में उत्तरोत्तर मानवता की वृद्धि की व्यवस्था है, क्योंकि इसमें तो किसी प्रकार के विवाद की गुंजाइश नहीं कि अनुभूति में निर्माण करने की शक्ति कल्पना की अपेक्षा कहीं अधिक है और वह उसी के परिष्कार का प्रयत्न करता है।

शुक्ल जी ने स्मरण दो प्रकार का माना है—(१) विशुद्ध स्मरण; (२) प्रत्यक्ष का सहारा लेकर स्थित होने वाला स्मरण। इन दोनों प्रकारों में अंतर यह है कि विशुद्ध स्मरण में तत्काल किसी प्रत्यक्ष सम्पर्क-स्थापन की आवश्यकता नहीं रहती; इसके विपरीत द्वितीय प्रकार के स्मरण में किसी प्रत्यक्ष सम्पर्क की आवश्यकता रहती है, जिसके बिना स्मरण का जगना सम्भव नहीं होता। उदाहरण के लिए आलम कवि की निम्नलिखित पंक्तियों को देखिए :—

"जाचल कीन्हें बिहार अनेकन ताचल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।"

❀ ❀ ❀

"याही कुंज पुंजन तर गुंजत भँवर भीर,
याही कुंज पुंजन तर अब सिर धुनत हैं।"

यहाँ प्रथम तथा तृतीय पंक्ति में वियोगिनी ने जो भाव व्यक्त किया है, उससे स्पष्ट है कि उसका स्मरण 'बहार-स्थलों में जाने से ही दर्द प्रा हुआ

है। प्रथम प्रकार के स्मरण में इस सहारे की आवश्यकता नहीं रहती। अवकाश के क्षणों में जब अचानक हमारा ध्यान कहीं पहुँच कर टिक जाता है, तब इस प्रकार का स्मरण जाग्रत होता है। उदाहरण के लिए—

"हे मानस के मोर, ढलक चले तुम
कहाँ बिना कुछ जाने!
प्रिय हैं दूर गहन में, पथ में
है कौन जो तुम्हें पहचाने।"

—[साकेत, नवमसर्ग

प्रत्यक्ष सम्पर्क-सहायक एवं स्मरण की चर्चा की जा चुकी, अब कल्पना को क्रियाशील बनाने वाले उसके उस स्वरूप की चर्चा शेष है जो स्मृतियों पर आधारित होकर चलता है। ये स्मृतियाँ दो प्रकार की हैं—(१) इतिहास पर आधारित; २) अनुमान पर आधारित।

(१) इतिहास पर आधारित स्मृति के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है :—

"इतिहास का कोई भावुक और कल्पना-सम्पन्न पाठक यदि पुराना दिल्ली, कन्नौज, थानेसर, चित्तौड़, उज्जयिनी, विदिशा इत्यादि के खँडहरों पर पहले-पहल भी जा खड़ा होता है तो उसके मन में ये सब बातें आ जाती हैं, जिन्हें उसने इतिहासों में पढ़ा था या लोगों से सुना था।"

—[रसात्मक बोध के विविध स्वरूप

(२) स्मृत्याभास कल्पना का अनुमान पर आधारित स्वरूप वह है जिसमें आलम्बन कोई ऐसा वस्तु नहीं होता जिसके सम्बन्ध में हमने कहीं पढ़ा हो, या जिससे हमारा किसी प्रकार का परिचय हो। वैसे तो इतिहास पर आधारित स्मृति में भी अनुमान का सहयोग आवश्यक हो जाता है, किन्तु अनुमान पर आधारित स्मृति में तो यह अनिवार्य ही होता है। ऐसे आलम्बन प्रायः उच्च अट्टालिकाओं के ध्वंसावशेष, भग्न देवस्थान और उजड़े हुए नगर ग्राम आदि होते हैं।

उक्त समस्त साधनों का अवलम्ब लेकर कल्पना आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव और अनुभाव की सामग्री प्रस्तुत करती है और इनमें से प्रत्येक को व्यक्ति-सीमित अवस्था से मुक्त कर के लोक-संवेदनायता के संस्कारों से सम्पन्न बनाती तथा उसका सम्बन्ध उस स्थायी भाव से जोड़ती है जो अपनी पूर्णता को प्राप्त होकर रस की संज्ञा ग्रहण करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आश्रय की वैयक्तिकता एवं देश-काल की संकीर्णता से मुक्त अनुभूति के रस-साधारण में विलीन हो जाना ही, उसकी अचल समाधि ले लेना ही, तपोमयी कल्पना का जीवन-लक्ष्य है। जिन काव्य-

है, किन्तु यह सम्पूर्ण विस्तार पोषण की दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं है, अपना पोषण वह मूल ही से प्राप्त करता है। पत्तियाँ जीर्ण होकर झड़ जाती हैं, आँधी-तूफान में शाखाएँ भी टूट कर धराशायी होती हैं, किन्तु पृथ्वी के गर्भ में सुरक्षित रह कर मूल नये रूप में उनकी फिर सृष्टि कर लेता है।

मनुष्य ने देखा कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे बार-बार संघर्ष करना पड़ता है और उसकी शान्ति बारम्बार खो जाती है। उसने यह भी देखा कि शान्ति कभी-कभी हर्ष, प्रेम आदि रूपों में प्रगट होती है और क्रोध कभी-कभी घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि के माध्यम से भी प्रत्यक्ष होता है। भयानक को देख कर भय से भागना और विराट संसार के आश्चर्यजनक व्यापारों और दृश्यों को देखकर अचरज में डूबना भी उसकी प्रकृति के अंग के रूप में दिखायी पड़ा। अपने बच्चों के लिए दया भी उसमें अन्य पशुओं और जन्तुओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में पायी गयी। इन मूल और मूल के आनुषंगिक भावों को लेकर मनुष्य बहुत दिनों तक अपनी शान्ति को स्थायी बनाने की मृगतृष्णा में पड़ा रहा। जीवन की अनुभूतियाँ उसे अनंत-काल तक विकल और चंचल बनाये रहीं। अपनी अधीरता के अतिरेक में ही उसे परम शान्त, अविचल, समाधिस्थ स्वरूप से मिलनेवाले सुख की कल्पना प्राप्त हुई। किन्तु समस्या यह थी कि यह कल्पना जीवन में चरितार्थ किस प्रकार हो? किसी प्रभावशाली साधन के अभाव में मनुष्य बहुत दिनों तक उसके सौन्दर्य को देख कर ललचता ही रहा, उसके पास पहुँच कर उस पर अधिकार नहीं कर सका। कालान्तर में उसकी साधना सफल हुई और उसे उपयुक्त प्रकाश मिला। यह प्रकाश क्या था?

शान्ति और क्रोध– जो मनुष्य के हृदय में मूलीभूत होकर अनादि-काल से चले आ रहे हैं के समस्त चिन्तनीय स्वरूपों से परे कहीं एक ऐसा अनिर्वचनीय बिन्दु भी है जहाँ से शान्ति और क्रोध, दोनों ही, यात्रा पर चल पड़े हैं; उस बिंदु की ओर उन्मुख होना उक्त मूल भावों की तथा उनके आनुषंगिक अन्य भावों की सार्थकता है। स्थूल सूक्ष्म में, सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम में तथा सब कुछ निर्विकार, निराकार, निर्गुण में लीन होता चलेगा– यही वह प्रकाश था जिसे मनुष्य ने प्राप्त किया। इस प्रकाश ने यह बोध दिया कि अपने मूल की खोज के लिए उमंग, तड़प बढ़ाकर सच्ची काव्यानुभूति का विकास करो।

हम देखते हैं कि रस-प्रवाह का उद्गम मूल ही से होता है; अपने लिए कुछ बचाकर शेष वह तने को दे देता है, तना अपने लिए कुछ रख कर शेष डालियों को बाँट देता है, इसी प्रकार डालियाँ पल्लवों को और पल्लव

पत्तियों को मूल से ही प्राप्त रस वितरित करते हैं। नव-प्राप्त प्रकाश ने मनुष्य को यह शिक्षा दी कि वैयक्तिक आसक्ति से पीड़ित, एवं इस कारण अशान्ति-जनक, अपने भावों को लोकसामान्य स्तर पर ले जाकर, उन्हें देश-काल की सीमा से मुक्त मानवता का मूल रस प्रदान करो। उसके अनुसार वैयक्तिक भाव पत्तियों के समकक्ष, गतिशील सौन्दर्य के आराधक, साधारणीकृत भाव डालियों की कोटि में, और स्थिर सौन्दर्य के उपासक, साधारणीकृत भाव मूल के रूप में गृहीत हुए। जैसे वृक्ष में पत्तियों का वैसे ही काव्य में व्यक्तिगत भावनाओं का बहिष्कार नहीं किया गया, खेत में शस्य के साथ-साथ घास की तरह उनका अस्तित्व अनिवार्य था; किन्तु यह प्रयत्न किया गया कि वे पृष्ठभूमि में रहें, अनुचित महत्त्व न प्राप्त कर लें। इस प्रकार ज्ञान की नयी ज्योति ने मनुष्य को आत्मर बनानेवाली भावनाओं के वैयक्तिक अंश से मुक्त कर के जहाँ उसे अनासक्ति योग प्रदान किया वहाँ उसी के स्तर पर पहुँचे हुए काव्य ने उस के हृदय को भावयोग की उच्चाकांक्षा देकर सरसता एवं सौन्दर्य से सम्पन्न बनाया।

जैसे वैयक्तिकता के लिए साधारणीकरण मूल है वैसे ही आधुनिक सभ्यता पर आधारित अधिकांश में कृत्रिम जीवन को स्वीकार करनेवाले समाज के लिए मानव का वह रूप मूल है जिसमें उसका जीवन प्रकृति के प्रति अधिक समीप पहुँचता है और जो देश तथा काल की बाधाओं से कम प्रभावित होता है। यदि वैयक्तिकता से पीड़ित भाव काव्य को प्राणान्वित नहीं कर सकता तो सामूहिक स्तर पर उसी रोग से बाधित भावधारा काव्य की प्रकृति में विकार उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती। अतएव, जहाँ हमने शान्ति और क्रोध को मनुष्य के दो मूल भाव तथा घृणा, भय, आश्चर्य, उत्साह, करुण, शोक, हास्य, वात्सल्य आदि को उनके आनुषंगिक भाव माने हैं, वहाँ भाव-संख्या-प्रसार की पूर्ण स्वतंत्रता लेकर तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान की समस्त सुविधाओं से लाभ उठा कर जब हमारे समीक्षक भावों का वर्गीकरण करने लगें तो व्यापक और व्याप्त के भेद को अवश्य ही ध्यान में रखें। यदि वे ऐसा करेंगे तो उन्हें यह स्वीकार करने में कठिनाई न होगी कि मनुष्य के मूल भाव प्रायः वे ही हैं जो रस सिद्धान्त में स्थायी भावों के नाम से प्रसिद्ध हैं। लोकसामान्य स्तर पर परिपाक-सम्पन्न इन्हीं स्थायी भावों में यदि समस्त तरंगित भावनाएँ पराजित होकर विलीन होंगी तो सभी का साधारणीकरण और परिष्कार हो जायगा। इसी प्रकार आधुनिक जीवन के विस्तृत एवं जटिल कार्य-कलाप को काव्य में अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए भी उसको मनुष्य के कृत्रिमता-वर्जित स्वरूप में निमग्न

रस दशा के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की चर्चा की जा चुकी, अब उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी कुछ कथन आवश्यक है।

रस के परिपाक के लिए चार तत्त्वों की आवश्यकता होती है। ये हैं—
विभाव, अनुभाव सञ्चारी भाव और स्थायी भाव।

रस-परिपाक की प्रक्रिया

प्रथम तीन के मिलने से स्थायी भाव का विकास होता है और उसके आधार पर ही रस अपनी स्थिति को प्राप्त होता है।

विभाव की दो श्रेणियाँ हैं - (१) आलम्बन विभाव; (२) उद्दीपन‡ विभाव। संसार की कोई मर्मस्पर्शिनी परिस्थिति, मनोरम व्यक्ति, तथ्य अथवा व्यापार जिसके सम्पर्क में आने पर आश्रय (वह सहृदय व्यक्ति जो भाव को अपने हृदय में आश्रय दे, उसे धारण करे) के हृदय में कोई भाव उत्पन्न हो आलम्बन विभाव कहा जाता है। आलम्बन के प्रगट हो जाने पर उसे विशेष रूप से आकर्षक और प्रभावशाली बनाने का काम उद्दीपन विभाव करता है। आलम्बन और उद्दीपन के सम्मिलित प्रभाव से आश्रय के शरीर में जो चिन्ह प्रगट होते हैं वे अनुभाव कहे जाते हैं। शृंगार रस के अंतर्गत

† रस उपजै आलम्बन जेहि, सो आलम्बन होय।'

उदाहरण—"ना जानौं मोहि प्रगट भौ कौन पुण्य को पुंज।
गुंज मालधर हरि लखे आजु गँवरी कुंज।"
(यहाँ श्रीकृष्ण आलम्बन हैं और गोपी आश्रय है।)

‡ रसै जगावै दीप ज्यों उद्दीपन कहि सोय।'

\+ \+ \+

'जाहि समागम होत है उर में उदित अनंग।
तासों उद्दीपन कहैं सतबादि सरस प्रसंग।
सखा सखी दूती चतुर षटऋतु उपवन पौन।
इनहि आदि औरौ बरत रसमुत्तेजन भौन।"

इन पंक्तियों में की गयी 'उद्दीपन विभाव' की परिभाषा केवल शृंगार रस को लक्ष्य करके लिखी गयी है। अन्य रसों में भाव को उद्दीप्त करनेवाली सामग्री का रूप भिन्न होगा। शृंगार रस के उद्दीपन विभाव का उदाहरण—

'आयो री बसन्त कूकि कोकिला पुकारै लगी
हम भी सरबना को गात गारि डारैंगी।
मंद मंद मारुत सुगन्ध बरसन लागा
ज्वाल को जगाइ के जरूर जारि डारैंगी।
नंदराम बागन में फूलै लगी बेली बन
कर के अधीरनी अधीर डारि डारैंगी।
ए री तसवीर तौ दिखा दै मोहि मोहन की
आखिर कदम्बन की डारै मारि डारैंगी"

अनुभावों* में ही नायिकाओं के २८ अलंकार हैं जिनमें से कुछ आचार्यों के मत से १०, कुछ के मत से १२ और १८ हाव † माने गये हैं।

विभाव और अनुभाव के क्रियाशील होने के साथ ही साथ सञ्चारी भाव का उदय होता है, जिससे स्थायी भाव को पोषण मिलता है और वह परिपक्व होकर रस की संज्ञा प्राप्त करता है। संचारी‡ भाव संचारी इस

* 'जिनसों दम्पति के हिये रति को होत विकास।
ते अनुभाव सिंगार के बरनत करत प्रकास।
स्तंभ स्वेद रोमांच अरु आँसू विवरन जान।
कंप पुलकता लीनता सात्त्विक आठ प्रमान
आयतर अनुभाव मैं आठौ सात्त्विक होत।
भौम कहत जुग्ना सुकवि जे नग सुमति निमोत।'

† (क) 'लीलादिक दस हाव जे अनुभावों में जानु
यातें प्रगट सिंगार में दसौ अंग बखानु।
लीला ललित विभ्रम विच्छित्ति बोधु विलास।
विलोकित मोट्टायितो पुनि विब्बोक प्रकास।
बहुरि कुट्टमित साहित दस रस ग्रथन में गाव।
हेला धीरक जुत कोऊ बरनत बारह हाव।'

(ख) शुक्ल जी ने हावों को अनुभाव के अन्तर्गत नहीं माना है; उनका कहना है कि वे किसी भाव का व्यंजन नहीं करते, नायिका के सौन्दर्य को बढ़ाते भर हैं, जिससे उन्हें उद्दीपन विभाव ही के घेरे में रखना उचित है। दास ने 'साहित्य दर्पण' के अनुसार २८ हाव माने हैं।

‡ 'विभावादनमुख्येन व्यभिचारणं दृढाभिनिवेशगतः।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्ना ह्लादयंश्चराश्च तद्भेदाः।'
—आचार्य विश्वनाथ

× × × ×

'सदा सदा सनमुख रहै थाई भावन आनि।
नौ रस मह मंचरैं संचारी ते जानि।
याही विधि प्रगटत दुरत थाई भावन मांहि।
बार बीचि लौं जानिए बरनत कवि कविनाहि।
रस मह थिर थाई रहत संचारी थिर नाहि।
थाई संचारीन को इतना भेद सदाहि।'

'निरवेद, ग्लानि, संका, आलस, असूया, मद,
श्रम, दैन्य, चिन्ता, मोह, सुमृति बखानिए।
धृति, व्रीड़ा, हरष, चपलताई, जड़ता है,
गरब, विषादहिं, औग्र पहिचानिए।
उतकंठा, निद्रा है स्वपन औ अमर्ष,
अवहित्था, औमरष, उग्रताहि मानिए।
व्याधि मति, उनमाद, मरन, बितोष, त्रास,
बहुरि वितर्क व्यभिचारी नाम जानिए।'

रस दशा के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की चर्चा की जा चुकी, अब उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी कुछ कथन आवश्यक है।

रस-परिपाक की प्रक्रिया

रस के परिपाक के लिए चार तत्त्वों की आवश्यकता होती है। ये हैं—विभाव, अनुभाव सञ्चारी भाव और स्थायी भाव। प्रथम तीन के मिलने से स्थायी भाव का विकास होता है और उसके आधार पर ही रस अपनी स्थिति को प्राप्त होता है।

विभाव की दो श्रेणियाँ हैं - (१) आलम्बन विभाव; (२) उद्दीपन विभाव। संसार की कोई मर्मस्पर्शिनी परिस्थिति, मनोहर व्यक्ति, तथ्य अथवा व्यापार जिसके सम्पर्क में आने पर आश्रय (वह सहृदय व्यक्ति जो भाव को अपने हृदय में आश्रय दे, उसे धारण करे) के हृदय में कोई भाव उत्पन्न हो आलम्बन विभाव कहा जाता है। आलम्बन के प्रगट हो जाने पर उसे विशेष रूप से आकर्षक और प्रभावशाली बनाने का काम उद्दीपन विभाव करता है। आलम्बन और उद्दीपन के सम्मिलित प्रभाव से आश्रय के शरीर में जो चिन्ह प्रगट होते है वे अनुभाव कहे जाते हैं। शृंगार रस के अंतर्गत

† 'रस उपजै आलम्ब जेहि, सो आलम्बन होय।'

उदाहरण—"ना जानौं लखि प्रगट कौ कौन पुन्य को पुंज।
गुंज मालधर हार लखे आजु मोहिरी कुंज।"
(यहाँ श्रीकृष्ण आलम्बन है और गोपी आश्रय है।)

‡ 'रसै जगावै दीप ज्यों उद्दीपन कहि सोय।'

\+ \+ \+

'जाहि समागम होत है उर में उक्ति अनंग।
ताको उद्दीपन कहै सतवादि सरस प्रसंग।
सखा सखी दूती चतुर षटरितु उपवन पौन।
इनहि आदि औरौ बहुत समुझ लेहु मति कौन।"

इन पंक्तियों में की गयी 'उद्दीपन विभाव' की परिभाषा केवल शृंगार रस को लक्ष्य करके लिखी गयी है। अन्य रसों में भाव को उद्दीप्त करनेवाली सामग्री का रूप भिन्न होगा। शृंगार रस के उद्दीपन विभाव का उदाहरण—

'आयो री बसन्त कूकि कोकिला पुकारै लगी
हम भी गरबना को गान गारि डारैंगी।
मंद मंद मारुत सुगन्ध बरसन लागा
ज्वाल को जगाइ कै जरूर जारि डारैंगी।
नंदराम बागन मैं फूलै लगी बेली बन
कर के अधारनी मधोर डारि डारैंगी।
ए री तसवीर तौ दिखा दै मोहि मोहन की
आखिर कदम्बन की डारै मारि डारैंगी"

अनुभावों* में ही नायिकाओं के २८ अलंकार हैं जिनमें से कुछ आचार्यों के मत से १०, कुछ के मत से १२ और १८ हाव † माने गये हैं।

विभाव और अनुभाव के क्रियाशील होने के साथ ही साथ सञ्चारी भाव का उदय होता है, जिससे स्थायी भाव को पोषण मिलता है और वह परिपक्व होकर रस की संज्ञा प्राप्त करता है। संचारी‡ भाव संचारी इस

---

* 'जिनमों दम्पति के हिये रति को होत विकास।
ते अनुभाव सिंगार के बरनत बुद्धि प्रकास।
स्तंभ स्वेद रोमांच अरु आँसू स्वरभंग जान।
रंग पुलकता लीनता सात्त्विक आठ प्रमान
आयंतर अनुभाव में आठौ सात्त्विक होंत।
नौम कहत जुम्भा सुकवि जे नग सुमति निमोल।'

† (क) 'लीलादिक दस हाव जे अनुभावों में जानु।
याँ प्रगट सिंगार में दीपत अंग बखानु।
लीला ललित विभ्रम विच्छित्ति बोधता बहुरि विलास।
विलोकिता मोट्टायिता पुनि मिब्बोक प्रकास।
बहुरि कुट्टमित साहित दस रस ग्रथन में गाव।
हेला बोधक जुत कोऊ बरनत बारह हाव।'

(ख) शुक्ल जी ने हावों को अनुभाव के अन्तर्गत नहीं माना है; उनका कहना है कि वे किसी भाव को व्यंजन नहीं करते, नायिका के सौन्दर्य को बढ़ाते मात्र हैं, जिससे उन्हें उद्दीपन विभाव ही के घेरे में रखना उचित है। दास ने 'साहित्य दर्पण' के अनुसार १८ हाव माने हैं।

‡ 'निर्वेदग्लानिशङ्कालस्यदैन्यश्रमादयः।
स्युस्त्रयस्त्रिंशदित्येते व्यभिचारिणः।'
—आचार्य विश्वनाथ

× × × ×

'सदा सदा सनमुख रहै थाई भावन आनि।
नौ रस मह संचरैं संचारी ते जानि।
याही विधि प्रगटत दुरत थाई भावन मांह।
बारि बीचि लौं जानिए बरनत कवि कविनाह।
रस मह थिर थाई रहत संचारी थिर नाहिं।
थाई संचारीन को इतनो भेद सदाहिं।'

'निरवेद, ग्लानि, संका, आलस, असूया, मद,
श्रम, दैन्य, चिन्ता, मोह, सुमृति बखानिए।
धृति, व्रीड़ा, हरष, चपलताई, जड़ता है,
गरब, विषादहिं, अवग पहिंचानिए।
उतकंठा, निद्रा है स्वपन औ अपसमार,
अवहित्था, आमरष, उग्रताहिं मानिए।
व्याधि मति, उनमाद, मरन, बितोष, त्रास,
बहुरि वितर्क व्यभिचारी नाम जानिए।'

कारण कहे जाते हैं कि इनमें संचरणशीलता, चंचलता विशेष होती है, स्थायी भाव के अंग होकर ये नियमित रूप से सामने नहीं आते, उसमें डूबते-उतराते ही रहते हैं। किन्तु प्रत्येक अवस्था में इनसे स्थायी भाव को विकसित होने में सहायता ही मिलती है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के पारस्परिक सहयोग से जिन †स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है वे हैं रति, शोक, हास्य, उत्साह, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य, क्रोध, निर्वेद। इनके आधार पर शृंगार, करुण, हास्य, वीर, भयानक बीभत्स, अद्भुत, रौद्र और शान्त – ये नौ रस‡ माने गये हैं। कुछ आचार्यों ने वात्सल्य को भी एक स्थायी भाव माना है और उसके आधार पर वात्सल्य रस की कल्पना की है। किन्तु यह सर्वानुमोदित नहीं है; इसके विरोध में कुछ आचार्यों का कहना है कि 'रति' में 'वात्सल्य' का भी अंतर्भाव हो जाता है और यह आवश्यक नहीं है कि 'रति' केवल नायक-नायिका के प्रेम को व्यक्त करे।

रस-परिपाक के वातावरण और प्रक्रिया का एक संक्षिप्त विवरण यहाँ

†. 'प्रगट होत हिय बीच जो रस अनुकूल विकार।
तेई थाई भाव हैं कहत सुमति आगार।
इनहिं बिगत नहिं होत है रस परिपूरन जान।
अचल रहत निज निज रसन तिनको नाम बखान।
प्रथम रति पुनि हास त्यों शोक क्रोध पहचान।
तथा हरष भय ग्लानि कहि अरु आचर्ज बखान।
येई आठ प्रमान है थाई नाटक साथ।
कहि निर्वेद समेत नव काव्य रीति कविराज।'

‡. 'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावाः सचेतसाम्।'

* * * *

'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपिच'।

—आचार्य विश्वनाथ

* * * *

'जहँ विभाव अनुभाव अरु संचारिन को भौर।
ह्वै पूरन थिर भाव जुत सरस रूप तेहि ठौर।
जैसे इच्छुविकार तें होत सरकरा कंद।
तैसे ही थिर भाव तें सरस रूप आनन्द।
सो रस कवि जन कहत हैं नव निधि आठ प्रकार।
काव्य मते नाटक मते दोऊ मत निरधार।'

इस उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है कि पाठक काव्य के स्वरूप-विधान में अनुभूति की उपयोगिता समझ लें। आगे अभिव्यंजनावाद-सम्बन्धी चर्चा के प्रसंग में इसका कुछ उल्लेख पुनः आवश्यक होगा। अतएव, इस विषय का यहाँ विस्तार न कर के रस के सम्बन्ध में ही यहाँ कुछ और कथन किया जायगा। भिन्न भिन्न आचार्यों ने यह प्रश्न उठाया है कि रस का निवास किस में मान्य किया जाना चाहिए? आश्रय में, अथवा आश्रय के अनुकर्त्ता नट में, अथवा नाटक के दर्शक सहृदय में? इस प्रश्न के जो उत्तर दिये गये हैं और उत्तरों के सम्बन्ध में भी जो शंकाएँ की गयी हैं उनसे भी अनुभूति ही का महत्व प्रतिपादित होता है।

रस का निवास

पहले आचार्य भट्टलोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' को लीजिए। उनका कहना है कि भाव आलम्बन, उद्दीपन आदि की सामग्री के आधार पर अनुभावों में व्यक्त और संचारियों से पुष्ट होकर नायक-नायिका के हृदय में स्थायी भाव के रूप में विकसित होता है और वही स्थायी भाव रस की संज्ञा प्राप्त करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रसोद्रेक की यही शास्त्रीय विधि है। किन्तु इसके आगे वे यह भी कहते हैं कि मूल नायक-नायिका के अनुकर्त्ता नट में रस का आरोप होता है, क्योंकि वह उनके वस्त्राभूषण आदि को धारण कर स्वयं को उन्हीं की परिस्थिति में डाल लेता है। इससे भी आगे बढ़कर वे यह कहते हैं कि नट में आरोपित रस की प्रतीति दर्शक के हृदय में होती है। इसके सम्बन्ध में आपत्ति की गयी—रस की प्रतीति कैसे सम्भव है? उसकी तो अनुभूति ही हो सकती है।

'अनुमितिवाद' के प्रचारक आचार्य शंकुक कहते हैं कि रस तो वास्तविक नायक-नायिका ही के हृदय में रहता है, किन्तु न्यायशास्त्र के चित्र-तुरग-न्याय के अनुसार, जिसमें तुरंग के न रहने पर चित्र-तुरंग ही उसके स्थान में मान्य होता है, मूल नायक-नायिका के अभाव में उनका अनुकारी नट ही दर्शक के लिए उसी रूप में ग्रहण-योग्य हो जाता है। वह यह जानता रहता है कि नट नायक नहीं है, फिर भी वह उसे नायक रूप में मानता चलता है। एक अत्यन्त रमणीय कल्पना, अनुमान, के वशीभूत होकर ही वह ऐसा करता है। यदि कल्पना का प्राधान्य अन्य आचार्यों को स्वीकार होता तो इस सिद्धान्त का प्रचार होता, किन्तु अनुभूति के समर्थकों ने आपत्ति की—अनुमान में कितनी ही मनोहरता क्यों न हो, यह कैसे सम्भव है कि रस का अनुमान किया जाय? उसकी तो अनुभूति ही की जा सकती है।

आचार्य भट्टनायक ने 'प्रतीत' और 'अनुमान' में निहित का कल्पनावाद को हटा कर अपने भुक्तिवाद द्वारा अनुभूति को प्रतिष्ठित करने का उद्योग किया। उन्होंने कहा कि भावकत्त्व वृत्ति के द्वारा आलम्बन की मूल विशेषता का साधारणीकरण सम्पन्न होने पर नायक नायिका की रति उन्हीं तक सीमित नहीं रह जाती; भोजकत्त्व वृत्ति के द्वारा अन्य व्यक्ति भी उसका स्वाद ले सकते हैं। उन्होंने स्थापित किया कि जिस काव्य में भावकत्त्व के आधार पर भोजकत्त्व की सम्भावना न हो, जिसमें केवल अभिधा से शब्दार्थ-ज्ञान मात्र का व्यापार प्रस्तुत होता हो वह काव्य नहीं, वह व्यक्ति-सीमित भाव का प्रतिनिधित्व करने के कारण अपने स्थान से नीचे गिर पड़ता है। इस मत के विरोधियों ने उत्तर दिया कि इसका क्या प्रमाण कि मनुष्य में भावकत्त्व और भोजकत्त्व वृत्तियाँ उपस्थित ही रहती हैं। इन विरोधियों में आचार्य अभिनवगुप्त थे, जिन्होंने ध्वनि और व्यंजना की महत्ता प्रतिष्ठापित की।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' के रूप में अपना एक पृथक् मत चलाया। उन्होंने कहा कि साधारणीकरण आलम्बन की मूल विशेषता का नहीं होता, काव्य के पाठ-श्रवण अथवा नाटक के दर्शन से सहृदय के व्यक्तित्व ही में ऐसी विशेषता का उदय होता है जो आलम्बन को सामान्य स्तर पर उतार लेती है। उनके अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व में कुछ संस्कार और वासनाएँ निहित रहती हैं; मनोहर कविता सुनने अथवा सुन्दर अभिनय देखने से नायक की परिस्थितियाँ पाठक अथवा दर्शक के हृदय के अव्यक्त भावों को व्यक्त कर देती हैं और सतोगुण के उद्रेक से वह अलौकिक आनन्द-रस-पान करने लगता है। इस मत के द्वारा भी अनुभूति की उपयोगिता प्रमाणित हुई!

शुक्ल जी ने आचार्य भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त ही को मान्यता दी है। उनका मत भी यही है कि साधारणीकरण आलम्बन की मूल विशेषता ही का होता है।

———

अध्याय २५

शुक्ल जी का वाद-विवेचन—१

अभिव्यंजनावाद

शुक्ल जी की साहित्यिक रुचि परिमार्जित

शुक्ल जी की समीक्षा के मूल सिद्धान्त 'भावयोग' तथा 'परोक्ष सत्ता का सगुण स्वरूप', 'रागात्मिका वृत्ति', 'प्रकृति आलम्बन रूप में', 'लोकधर्म' एवं 'रस-मत'—इन पाँच सहायक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में जो कुछ कहा गया है तथा उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के विवेचनात्मक पार्श्व की जो झलक प्रस्तुत की गयी है, उसके आधार पर शुक्ल जी के कार्यक्षेत्र का तथा वह किन दिशाओं में स्वभावतः अपना प्रसार प्राप्त करेगा, इस विषय में अनुमान कर लेना कठिन न होगा। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र और गोस्वामी तुलसीदास के 'लोकधर्म' की सराहना करते-करते जैसा कि कहा जा चुका है, वे समसामयिक समीक्षक के रूप में भी उतरने के लिए, सेवाभाव की सच्ची प्रेरणा से, विवश हुए। यदि वे अपने समीक्षा-सिद्धान्तों का विवेचन ही कर के रह जाते, उन्हें अपनी बारीक जाँच की खरी कसौटी बनाकर प्राचीन और आधुनिक हिंदी-काव्य को तौलने की चेष्टा न करते, अपनी रुचि-अरुचि का विशेष प्रदर्शन न करते, तो उनके ये व्यवहारिक बुद्धिग्राह्य सिद्धान्त सर्वमान्य हो सकते थे; प्रातःकालीन सूर्य की किरणों में कितनी मधुरिमा होती है, किन्तु जब सूर्य, विशेष कर वैशाख-ज्येष्ठ का, दोपहर को सिर पर आकर खड़ा हो जाता है तब उसका खलना स्वाभाविक है! लेकिन सूर्य भी क्या करे; उसे अपनी यात्रा तो करनी ही है।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक रस्किन ने रुचि के सम्बन्ध में कहा है*:—

"जिन भौतिक साधनों की ओर हमारी विशुद्ध और सुविकसित नैतिक प्रकृति

---

*"Perfect taste is the faculty of receiving the greatest possible pleasure from those material sources which are attractive to our moral nature in its purity and perfection- He who receives little pleasure from those sources; wants taste; he who receives pleasure from any other sources, has false or bad taste."

आकर्षित होती है उनसे अधिक से अधिक आनन्द प्राप्त करने की शक्ति ही पूर्ण, सुसंस्कृत रुचि है। जिस व्यक्ति को उन साधनों से कम आनन्द मिलता है, वह सुरुचि-हीन है; जो व्यक्ति अन्य किन्हीं साधनों से आनन्द प्राप्त करता है, वह मिथ्या रुचि अथवा कुरुचि से युक्त है।"

उक्त सुरुचि को रस्किन बुद्धिप्रयास से प्रसूत नहीं मानते। वे कहते हैं :—

"निर्णय* एक व्यापक शब्द है, उससे बुद्धि की निश्चित क्रिया प्रगट होती है और उसके अधीन प्रस्तुत प्रत्येक प्रकार के विषय के लिए उसका प्रयोग हो सकता है। × × किन्तु बुद्धि के ये सभी प्रयत्न रुचि के उस समुचित स्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं जो दो पदार्थों में से एक की विशेषता को सहज और अविलम्ब रूप से पहचान लेता है और फिर भी उसके लिए कोई कारण नहीं प्रस्तुत करता, केवल इतना ही निर्दिष्ट करता है कि अपने शुद्ध रूप में पहुँची हुई मानव-प्रकृति के लिए यह उचित ही है।"

सुरुचि के लिए रस्किन ने जितनी बड़ी छूट दी है उतनी बड़ी छूट शुक्ल जी को देने की आवश्यकता नहीं है। एक ओर तो उनकी सैद्धान्तिक समीक्षाएँ उनकी परिमार्जित रुचि की घोषणा करती हैं, दूसरी ओर व्यावहारिक समीक्षाएँ यह प्रगट करती हैं कि अपने सिद्धान्तों-द्वारा निर्दिष्ट घेरे के बाहर उन्होंने कदम नहीं रखा है, अप्रमाणपूर्वक, केवल अपनी निरंकुश रुचि का सहारा लेकर उन्होंने कहीं एक बात भी नहीं कही है। इन समीक्षाओं की चर्चा आगे की जायगी। यहाँ अभी हमें उनके वाद-विवेचन को समझ लेना है। पिछले अध्याय में 'अनुभूति' के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका सिलसिला बनाये रखने के लिए पहले अभिव्यंजनावाद ही के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचारों का परिचय हम प्राप्त करें।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

'अभिव्यंजनावाद' के प्रवर्त्तक इटली के निवासी क्रोचे महोदय वर्त्तमान शताब्दी (ईसवी) के प्रमुख योरपीय साहित्य-विचारकों में से हैं। आपका आशय यह है कि काव्य में 'अभिव्यंजना' अर्थात् अभिव्यक्ति (Expression) ही मुख्य है; उसी का सुन्दर और मनोहर होना आवश्यक है। यदि अभिव्यक्ति

"Judgment is a general term, expressing definite action of the intellect and applicable to every kind of subject which can be submitted to it. * But all these excertions of the intellect are totally distinct from taste properly so called which is the instintive and instant preferring of one material object to another without any obvious reason except that it is proper to human nature in its perfection so to do."

रमणीय होगी तो काव्य-प्रेमी को आनन्द देने के लिए वही पर्याप्त होगी। उसमें और कोई तत्त्व खोजने की आवश्यकता नहीं।

'अभिव्यंजनावाद' का प्रसार इटली से क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में शुक्ल जी ने महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं :—

(१) "योरप में कला और काव्य-समीक्षा के बड़े बड़े सम्प्रदाय इटली और फ्रांस से चलते रहे हैं। इटली बहुत दिनों से चित्रकारी, मूर्त्तिकारी नक्काशी, बेलबूटों की इमारती सजावट आदि के लिए प्रसिद्ध चला आ रहा है। इन्हीं कलाओं के बीच काव्य की भी गिनती की गयी। फल यह हुआ कि काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी नक्काशी और बेलबूटों की-सी भावना जड़ पकड़ती गयी। काव्य का प्रभाव भी उसी प्रकार का समझा जाने लगा जिस प्रकार का बेलबूटों की सजावट और नक्काशी का पड़ता है। इससे अधिक गम्भीर श्रेणी का प्रभाव ढूँढ़ने की आवश्यकता धीरे-धीरे दूर सी होने लगी।" × × ×

(२) "अब यह देखिए कि उक्त वाद के भीतर प्रकृति की नाना वस्तुओं, दृश्यों और व्यापारों तथा हृदय के रति, क्रोध, शोक इत्यादि अनेक भावों का क्या स्थान ठहरता है। वे केवल उपादान मात्र रह जाते हैं। × × ×

(३) "उपर्युक्त वाद बेलबूटों और नक्काशियों के सम्बन्ध में तो बिलकुल ठीक घटता है, पर काव्य को सच्ची मार्मिक भूमि से दूर रहता है। उक्त वाद के प्रभाव से प्रस्तुत की हुई रचनाओं को देख कर कोई पूछ सकता है कि क्या कवि के लिए अनुभूति सचमुच आवश्यक है। यदि काव्य की तह में जीवन का कोई सच्चा मार्मिक तथा, सच्चा भावानुभूति नहीं, तो उसका मूल्य मनोरंजन करनेवाली सजावट या खेल-तमाशे के मूल्य से कुछ अधिक नहीं।"

शुक्ल जी के काव्य-सिद्धान्तों और उनकी आधार-भूमि की चर्चा के सिलसिले में मैं कह चुका हूँ कि काव्यानुभूति या तो स्थिर, समाधिस्थ सौन्दर्य के चित्र अंकित करने की ओर बढ़ती है या गतिशील सौन्दर्य का गौरव-गान करती है, साथ ही इन दोनों में से किसी भी मार्ग पर आरूढ़ होकर वह दोनों का सामंजस्य ही प्रस्तुत करती है, उनको विरोधी रूप में झलकाने का प्रयत्न नहीं करती। स्थिर सौन्दर्य स्थिरता का कोई भी स्वरूप धारण करे और गतिशील सौन्दर्य गति के किसी भी प्रवाह में बहे, इस समन्वय-सिद्धान्त की अवहेलना होने पर काव्य एकांगी हो जायगा और अपने धर्म का पालन नहीं कर सकेगा। वास्तव में स्थिर सौन्दर्य के किसी स्वरूप को लेकर अग्रसर होने वाली काव्य-रचना की स्वस्थता का यह प्रमाण है कि वह गतिशील सौन्दर्य के विकास को कहीं भी बाधा न पहुँचावे; यही

नहीं, एक की प्रफुल्लता के भीतर द्वितीय की प्रफुल्लता यदि घोषित नहीं हो सकती तो न सही, किन्तु अनुभवगम्य तो होनी ही चाहिए।

शुक्ल जी की जो पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की गयी हैं, उनसे यह शंका होती है कि 'अभिव्यंजनावाद' में तराजू का पलड़ा एक ओर को बहुत झुक गया है, उसमें स्थिर सौन्दर्य की उपासना के लिए अधिक आसक्ति बढ़ गयी है। यदि बादल स्थिर सौन्दर्य का प्रतीक है तो बिजली गतिशील सौन्दर्य का। बिजली की अपार अग्नि को धारण करके ही बादल अपने महत्त्व की घोषणा कर सकता है; बिजली से शून्य होकर वह निकम्मेपन की वायु में विलीन हो जायगा। हमें देखना चाहिए कि हमारी शंका कहाँ तक उचित हैं; यदि 'अभिव्यंजनावाद' के बादल में बिजली का कोई भी रूप हमें मिल सके तो हमारी शंका का उचित समाधान प्राप्त हो जायगा।

अभिव्यंजनावाद की चार विशेषताएँ

'अभिव्यंजनावाद' की जिन अनेक विशेषताओं का उल्लेख शुक्ल जी ने अपने निबन्ध में किया है, उन्हें भी जान लेना चाहिए। वे निम्नलिखित हैं :—

"१—अन्तः संस्कार (Impressions)

२—अभिव्यंजना, अर्थात् कलापरक आध्यात्मिक योजना या कल्पना (Expressios or spiritual aesthetic synthesis)

३—सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनन्द (Hedonistic accompaniment or pleasure of the beautiful)

४—कलापरक आध्यात्मिक वस्तु (कल्पना) का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण (शब्द, स्वर, चेष्टा, रङ्ग, रेखा आदि)"

इन चारों विशेषताओं के क्रमिक उत्थान एवं परिणति में अभिव्यंजनात्मक कृति का पूर्ण इतिहास दिया गया है। प्रत्यक्ष जगत् के तथ्य, कार्यव्यापार, मानसिक भाव से सौन्दर्य का चित्रण अभिव्यंजनावादी नहीं करता, वास्तव में उसके लिए इनमें कोई सौन्दर्य ही नहीं है, इनका उपयोग केवल उपादान, सामग्री के रूप में हो सकता है, इनसे प्राप्त अन्तःसंस्कार ही किसी काम में आ सकते हैं। इन अन्तः संस्कारों पर आत्मा की क्रिया होती है, अर्थात् ये कल्पना के साँचे में ढाले जाकर कलात्मक रूप में परिणत होते हैं, यही सौन्दर्य-सृष्टि है, जिससे कवि आनन्द का अनुभव करता है। मुख्य कार्य द्वितीय विशेषता के अंतर्गत है और तृतीय के पास पहुँचने पर उसकी पूर्त्ति हो जाती है। इस पूर्त्ति को क्रोचे ने अनुभूति (Inturition कहा है। यहीं तक पहुँचना अभिव्यंजना का चरम उद्देश्य है। अभी सब कुछ कवि के व्यक्तित्त्व के भीतर ही बन्द है, काव्य भाषाबद्ध नहीं हो सका है, किन्तु उक्त अनुभूति

के साथ एकाकार स्थापित करके अभिव्यंजना की यात्रा समाप्त हो गयी। यह एक संयोग की बात है कि कवि चेतना विशेषता को भी प्रगट होने का अवसर देता है। इस विशेषता के अधीन जो कार्य सम्पादित होता है वह है उपर्युक्त अनुभूति का शब्दों के रूप में अवतरण यदि अवतरण का माध्यम काव्य है। माध्यम की भिन्नता होने की अवस्था में यह अवतरण गान, चित्र, मूर्त्ति, स्थापत्य का रूप भी ग्रहण कर सकता है।

मैं अन्यत्र कल्पना की चर्चा के प्रसंग में क्रोचे की 'अनुभूति' को दुर्बल कह चुका हूँ; अब यह उचित स्थान है जहाँ हम उनकी 'अनुभूति' के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त कर लें। और तब निश्चय करें कि उसे दुर्बल कहना ठीक है या नहीं।

क्रोचे ने ज्ञान के दो विभाग किये हैं—(१) कला-सम्बन्धी ज्ञान; (२) तर्क-सम्बन्धी ज्ञान। कला-सम्बन्धी ज्ञान को उन्होंने 'स्वयं प्रकाश ज्ञान' (Intuition) बताया है, जिसमें वैयक्तिक अर्थात् प्रत्येक वस्तु को पृथक रूप में ग्रहण करनेवाला ज्ञान-सम्पादन होता है। तर्क-सम्बन्धी ज्ञान को उन्होंने 'प्रमा' (Concept) कहा है, जिससे जातीय अर्थात् वस्तुओं को उनके सामूहिक रूप में देखने वाला ज्ञान उपलब्ध होता है।

ज्ञान के क्रोचे कृत दो विभाग

उक्त कला सम्बन्धी अथवा स्वयंप्रकाश ज्ञान किस प्रकार क्रियान्वित होता है, इसे पाठक देख चुके हैं। दृश्य जगत के प्रस्तुत तथ्यों, व्यापारों मानसिक भावों से उसे कोई मतलब नहीं, चाहे वह वाल्मीकि का करुणा-प्रसूत अभिशाप हो, चाहे रामचन्द्र का लोकरक्षक क्रोध। विश्व में सर्वत्र स्थूलता का दर्शन करना, किसी प्रकार के भी रूप, भाव और कर्म के सौन्दर्य को न स्वीकार करना आत्मा की उस आध्यात्मिक क्रिया के प्रति भी हमें सन्देहशील बना देता है, जिसका सहारा लेकर क्रोचे महाशय कच्चे माल को पक्के माल में परिणत करते हैं। शुक्ल जी को यह बात मान्य नहीं है कि दृश्य जगत् से प्राप्त सामग्री वास्तव में आत्मा के किसी कारखाने में सँवारी और सुधारी जाकर 'स्वयंप्रकाश ज्ञान' का स्वरूप धारण करती है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं :—

"जिन्हें क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकला हुआ रूप कहता है, वे वास्तव में बाह्य जगत से प्राप्त किये हुए रूप हैं। इन्द्रियज ज्ञान के जो संस्कार (छाप) मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी भाव के धक्के से, कभी यों ही, भिन्न-भिन्न ढंग से अन्वित होकर जगा करते हैं। यही मूर्त्त भावना या कल्पना है। यह अन्विति या योजना बाह्य जगत से प्राप्त रूपों के ढंग पर होती है जिसमें एक-एक

रूप की सत्ता अलग अलग बनी रहती है। इस अन्वित रूप-समूह को आध्यात्मिक 'साँचा' कहना और पृथक् पृथक् रूपों को उस साँचे में भरा जानेवाला 'मसाला' बताना वितंडावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है! किसी साँचे में जो वस्तुएँ भरी जायँगी, वे घुल पिस कर गीली मिट्टी या गारा हो जायँगी, उनके पृथक्-पृथक् रूप कहाँ रह जायँगे?"

इस सम्बन्ध में क्रोचे की दो बातें विशेष रूप से स्मरणीय हैं—(१) 'आत्मा से केवल सूक्ष्म 'साँचे' निकला करते हैं'; (२) 'बाह्य जगत् से प्राप्त मूर्त द्रव्य के भराव के बिना ये व्यक्त ही नहीं हो सकते।' यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि सूरदास जैसे कवि, जो जन्मान्ध न हों तो कम से कम काव्य-रचना के समय तो अवश्य ही अंधे थे, किस प्रकार दृश्य जगत् से उपादान-संग्रह कर के 'साँचे' में भराव के लिए दे सके होंगे! सम्भव है, इसके उत्तर में यह कहा जाय कि सूरदास ईसा की सोलहवीं शताब्दी में हुए थे और अभिव्यंजनावाद की उत्पत्ति बीसवीं शताब्दी में हुई है, दोनों में सम्बन्ध और संगति क्या है? अस्तु।

क्रोचे के सूक्ष्म आध्यात्मिक 'साँचे' का अनावरण करने के उद्देश्य से शुक्ल जी ने उसके इतिहास में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है और उसके उद्गमस्थल की खोज करते हुए वहाँ पहुँचे हैं जहाँ योरप के प्राचीन कालीन ईसाई सन्त ईश्वरानुराग की उन्मत्तावस्था में तरह तरह के आध्यात्मिक 'आभासों' से आक्रान्त हुआ करते थे। शुक्ल जी का कहना है कि 'इसी मज़हबी रहस्यवाद का संस्कार क्रोचे के निरूपण में छिपा है, जिसके कारण वे कल्पना को 'ज्ञान' कहते हैं।

भाव की शुक्ल जी कृत व्याख्या

शुक्ल जी ने कल्पना की इस अस्वाभाविक परिस्थिति को हृदयंगम कराने के लिए भाव के सम्बन्ध में भी विचार किया है। वे कहते हैं:—

"मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव' कोई एक अकेली वृत्ति नहीं, एक वृत्ति-चक्र (system) है जिसके भीतर (१) बोधवृत्ति या ज्ञान (Cognition), (२) इच्छा या संकल्प (Conation), (३) प्रवृत्ति (Tendency) और (४) लक्षण (symptoms) ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती हैं। अतः भाव का एक अवयव प्रतीति या बोध भी होता है। रस निरूपण में जो विभाव कहा गया है वही कल्पनात्मक या ज्ञानात्मक अवयव है जो भाव का संचार करता है। इससे यह स्पष्ट व्यंजित है कि भावानुभूति के योग में ही कल्पना का स्थान काव्य के विधान में हमारे यहाँ स्वीकार किया गया है। अतएव काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो

किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्त्तन और संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती है।"

क्रोचे के सिद्धान्त के मूल में ही यह बात जड़ जमाकर बैठी हुई है कि मनुष्य का मन ही दृश्य जगत का निर्माण करता है और मन की क्रियाशीलता से भिन्न संसार का कहीं अस्तित्व नहीं है; मन ही की सत्ता का तर्क-गत रूप संसार का स्वरूप-दान करता है और कला-गत रूप काव्य एवं अन्य कलाओं की सृष्टि करता है। इस प्रकार मनुष्य का मन और उसकी उत्पत्ति जगत, एवं मनुष्य का मन तथा जगत् और दोनों ही के सहयोग से निर्मित काव्यानुभूति—क्रोचे ने इसी ढंग पर सोचा है। उन्हें सहसा जड़वादी भी नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मा का, आध्यात्मिकता का कम से कम नाम तो वे लेते ही हैं। अतएव, उनके सिद्धान्त में समाज की क्यों नितान्त अवहेलना कर दी गयी है, इसका कारण और कहीं, सम्भवतः योरपीय समीक्षा की परम्परा में ढूँढ़ना पड़ेगा। जो हो, यह सम्भावना हो सकती है कि यथार्थवाद और ईसाई रहस्यवाद के सम्मिलन से 'अभिव्यंजनावाद' का यह स्वरूप संगठित हुआ हो, जिसमें मनुष्य के स्वार्थ-मुक्त, करुणा प्रेरित आचरण का महत्त्व भी स्वीकार नहीं किया गया।

शुक्ल जी सही हैं या क्रोचे, इस विवाद* में न पड़ कर हमें दोनों ही की समताओं और विषमताओं को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

शुक्ल जी और क्रोचे की पहली समता यह है कि साधारणीकृत अनुभूति के द्वारा शुक्ल जी सहृदय को जिस भाव-भूमि पर पहुँचाते हैं, ऐंद्रिय संस्कारों और बुद्धिप्रसूत निश्चयों का तिरस्कार कर उनसे परे, उसी भावभूमि के स्तर पर क्रोचे भी उसे पहुँचाने का उद्योग करते हैं, क्योंकि उक्त स्तर पर पहुँच कर अपनी परा-काष्ठा को प्राप्त करनेवाली मानसिक क्रियाशीलता दृश्य जगत के जिन प्रतिबिम्बों को ग्रहण करती है उन्हीं की अभिव्यंजना को वे काव्य घोषित करते हैं। वेदांत की शब्दावली से यदि हम शब्द लें तो

शुक्ल जी और क्रोचे के मत में समताएँ

---

*"दूसरी बात यह कि पढ़ कर क्रोचे उलटे मुझे शुक्ल जी से सही और सूक्ष्म लगे। मुझे तब खयाल हुआ था कि क्रोचे महाशय अगर खुद परिषद में मौजूद होते तो भी शुक्ल जी को उत्तर देने की उन्हें अपने लिए आवश्यकता न जान पड़ती। संक्षेप में क्रोचे की मूलस्थिति की पहचान शुक्ल जी को हुई है—भाषण से मुझे ऐसा नहीं लगा।

यह मेरी धृष्टता भी हो सकती है, क्योंकि क्रोचे महाशय को मैंने तो बिलकुल नहीं पढ़ा है।"

—जैनेन्द्र कुमार

कह सकते हैं* कि शुक्ल जी और क्रोचे दोनों ही काव्य को मनोमय कोश के स्तर पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। शुक्ल जी और क्रोचे में दूसरी समता यह है कि साधारणीकरण की क्रिया सम्पन्न हो जाने पर सत्त्व के उद्रेक से शुक्ल जी रस की निष्पत्ति मानते हैं। क्रोचे सतोगुण के स्थान पर आध्यात्मिक क्रिया ×को लाकर प्रस्तुत करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिसे शुक्ल जी सतोगुण कहते हैं, वही पाश्चात्य चिन्तकों की भाषा में 'आध्यात्मिक' कहलाता है। उनके यहाँ प्रकृति के तीन विभाग नहीं हैं, वे केवल दो ही विभाग जानते हैं– तमोगुण और रजोगुण; इन दोनों के परे उनकी दृष्टि में सब कुछ 'आध्यात्मिक' है। शुक्ल जी और क्रोचे में तीसरी समता यह है कि जहाँ शुक्ल जी सामान्य व्यक्तिगत अनुभूति को काव्यानुभूति नहीं मानते वहाँ क्रोचे भी मनुष्य अथवा पशु के आत्मरक्षण-प्रयत्न से सम्बन्धित प्रतिक्रियाओं को कलात्मक नहीं मानते। शुक्ल जी को साधारण करण का संस्कार अपेक्षित है और क्रोचे को उदात्तीकरण का। कहने की आवश्यकता नहीं कि आत्मरक्षण के क्षेत्र में आकर साधारणीकरण को उदात्तीकरण का स्वरूप ही धारण करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए किसी मनुष्य पर आक्रमण किये जाने पर उसकी जो साधारण मानवोचित प्रतिक्रियाएँ होंगी, वे अपनी स्थूलता के कारण शुक्ल जी के लिए रसात्मक न होंगी तो क्रोचे के लिए कलात्मक न होंगी। किन्तु आसाधारण तत्त्व के समावेश के द्वारा दोनों ही के उद्देश्य की सिद्धि हो जायगी।

---

* वेदान्तियों ने मनुष्य में पाँच कोशों की कल्पना की है। ये हैं—(१) अन्नमय कोश; (२) प्राणमय कोश; (३) मनोमय कोश; (४) विज्ञानमय कोश; (५) आनन्दमय कोश। इनमें अन्नमय कोश सबसे निम्नस्तर पर तथा आनन्दमय कोश सब से उच्च स्तर पर है।

पंच ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा) तथा मन—इन छः तत्वों के संगठन से मनोमय कोश का निर्माण होता है। पंच ज्ञानेन्द्रियों को बाह्यकरण तथा मन को अंतःकरण कहते हैं। 'मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है,' यह कह कर शुक्ल जी ने काव्य की प्रतिष्ठा उतनी ही सीमा के भीतर की है जितनी उक्त छः तत्वों के प्रसार एवं आनन्दमय कोश की झलक से निर्धारित होती है।

×(क) इस शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में शुक्ल जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखने योग्य हैं—

"××× साधुता की इस मृदुल गति को 'वे 'आध्यात्मिक शक्ति' कहते हैं। पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति—मनुष्य की अन्तःप्रकृति की सात्विक विभूति—मानते हैं।

—[चिंतामणि, भाग १, पृ० २२५

(ख) "स्थूल आकार मात्र हटाकर दया, अनुग्रह, प्रेम, सौन्दर्य इत्यादि में योरपवाले चाहे अभौतिक, अगोचर, अव्यक्त, या परा सत्ता की प्राप्ति समझ लें; पर सूक्ष्म भारतीय दार्शनिक दृष्टि

शुक्ल जी और आचार्य क्रोचे में पहली विषमता यह है कि जहाँ शुक्ल जी जगत् के प्रत्यक्ष, स्मृत एवं कल्पित सभी रूपों में ऐसी परिस्थितियाँ पाते हैं जिनके आधार पर सतोगुण का विकास होना और लोकोत्तर आनन्द की उपलब्धि होती है, वहाँ क्रोचे का मत यह है कि प्रत्यक्ष में कोई सौन्दर्य है ही नहीं, कल्पित किये जाने पर ही वह सुन्दर हो सकता है और कल्पना के सहारे ही, 'आध्यात्मिक' अथवा सतोगुणी साँचे में ढल कर आह्लाद प्रवाहित कर सकता है। यह त्रुटि, यदि हम इसे त्रुटि मानने को तैयार हो जायँ तो, क्रोचे की निजी वस्तु नहीं है; यह वस्तु-स्थिति तो प्रायः पाश्चात्य समीक्षा मात्र में देखने को मिलेगी कि, अधिकांश में, रजोगुणी प्रवृत्तियों से परे सतोगुणी भावनाओं की सामूहिकता में प्रतीत होने वाली अव्यक्त, अज्ञात सत्ता एवं मानव व्यक्तित्व के बीच में ही सम्बन्ध स्थापित और सीमित रखने का प्रयत्न वहाँ किया गया तथा पुनरुत्थान आन्दोलन-काल में काव्यगत न्याय-प्रतिष्ठापन का सिद्धान्त मान कर भी पाश्चात्य समीक्षकों ने सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त करुणातत्त्व को मनुष्य के जीवन में सौन्दर्य के एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं किया। अस्तु।

शुक्ल जी और क्रोचे के मत में विषमताएँ

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखने योग्य है कि स्थूल रूप जितने ही समीप से देखा जायगा उतना ही कुरूप एवं जितने ही दूर से देखा जायगा उतना ही सुन्दर प्रतीत होगा, जब कि कल्पना की दूरी प्राप्त करके वह सुन्दरतम हो सकता है। नदी की धारा को निकट और दूरी से देख कर अथवा केवल कल्पना में लाकर हम इस कथन की यथार्थता की परीक्षा कर सकते हैं। किन्तु मनुष्य-जीवन की पूर्णता से प्रवाहित होनेवाले करुण भाव के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती; वह निकट से, दूर से एवं कल्पना में प्रस्तुत होकर—सभी प्रकार सुन्दर और सरस ही दिखायी पड़ेगा। अतएव शुक्ल जी तथा आचार्य क्रोचे की यह मत-विभिन्नता साधारण से अधिक महत्त्व रखती है।

इन सब को प्रकृति के भीतर ही लेगी। दया, अनुग्रह, औदार्य आदि मन की वृत्तियाँ हैं जो प्रकृति का ही विकार है।"

(ग) 'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म उच्यते'

—[श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ८

आशय यह है कि अक्षर अर्थात् अनश्वर परम ब्रह्म की स्वरूपाभिव्यक्ति को, जो अपनी सहज स्थिति में न केवल तमोगुण और रजोगुण से, वरन सतोगुण से भी परे होती है, आध्यात्मिकता कहते हैं।

अन्य-रक्षण-प्रयत्न में निहित क्रोध और करुणा के समन्वित सौन्दर्य को पक्के माल के स्थान में कच्चा माल समझ कर उसे पक्के माल में परिणत करने का सा जो प्रयास क्रोचे के तर्क में दिखायी पड़ता है, वह अगर रेशमी कपड़े पर जबर्दस्ती होली के कीचड़ फेंकने के ढंग का जान पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं अस्तु ! शुक्ल जी और क्रोचे में दूसरी विषमता यह है कि शुक्ल जी काव्यानुभूति को भाषा बद्ध रूप में पाकर ही उसे काव्य की संज्ञा देंगे वहाँ क्रोचे को इतने ही से संतोष है कि आध्यात्मिक क्रिया के द्वारा हृदय में काव्यानुभूति सम्पन्न हो गयी; उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं कि वह शब्दों का बधन स्वीकार करती है या नहीं; वास्तव में वे उसे काव्यानुभूति कहते भी नहीं; वे तो उसे अनुभूति मात्र मानते हैं और यह छूट दे रखते हैं कि वह कलाभिव्यक्ति के किसी भी माध्यम को स्वीकार करे।

उक्त दोनों विषमताओं के होते हुए यह कैसे आशा की जा सकती है कि क्रोचे के सिद्धान्त में लोक-कल्याण-प्रवृत्ति का समावेश हो सकेगा ? काव्य नीतिपरक हो या न हो, इस पर शुक्ल जी का आग्रह नहीं है, किन्तु उनका पक्ष यह है कि काव्य रसात्मक होना चाहिए। यहीं करुणा-तत्त्व का प्रवेश हो जाता है और काव्य से यह आशा की जाने लगती है कि अपनी समस्त सरसता को अपने अंतरतम में छिपाये रख कर भी वह परीक्षा-काल में, ईख के दण्ड की तरह, अपेक्षित रस दे सके। प्रफुल्ल जीवन से प्रसूत करुणा की माँग केवल शुक्ल जी की माँग नहीं है, वह सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति और सभ्यता की माँग है, पीड़ित मानव ही की नहीं, संतप्त प्राणी-मात्र की माँग है। और, इस करुणा-तत्त्व को स्वीकार करते ही अभिव्यंजनावाद का सारा रूप ही बदल जायगा; वैयक्तिकता में संकुचित हो जाने की उसकी समस्त प्रवृत्ति ही समाप्त हो जायगी।

शुक्ल जी और क्रोचे में तीसरी विषमता यह है कि जहाँ शुक्ल जी काव्यानुभूति को भावानुभूति के रूप में ग्रहण करते हैं, वहाँ क्रोचे उसे भावानुभूति के रूप में ग्रहण नहीं करते, क्योंकि उनकी समझ में भाव सुखात्मक या दुःखात्मक होने के कारण काव्य की विशुद्ध आनन्दमयता में

*(१) कविता वही सार्थक है जो दूसरे के हृदय में जाकर प्रकाश कर सके।'

—[चितामणि, पृ० २०४

(२) इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत भी द्रष्टव्य हैं—

(क) वाक्यं रसात्मकं काव्यं

(ख) रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्

(ग) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्

बाधा पड़ सकती है। यहाँ भी करुणा-तत्त्व के प्रभाव और अभाव पर ही यह सारी मत-भिन्नता निर्भर है। करुणा का करावलम्बन प्राप्त कर शुक्ल जी की भावानुभूति लोकोत्तर काव्यानुभूति के रूप में परिणत होती है और सामान्य वैयक्तिक सुख-दुःख के पर लोकोत्तर आनन्द की उपलब्धि कराती है। और, करुणा का बहिष्कार करने पर क्रोचे के पास वह यन्त्र ही नहीं रह जाता जिससे वे भावानुभूति के कच्चे माल को पक्के माल में परिणत कर सकें।

क्रोचे काव्य में अलंकार की कोई आवश्यकता नहीं मानते, उनकी दृष्टि में उक्ति ही में समस्त सौन्दर्य है। यही चौथी विषमता है जो शुक्ल जी के मत में और उनके मत में हमें दिखायी पड़ती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी भावों की अभिव्यक्ति में तीव्रता लाने के लिए अलंकारों की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

शुक्ल जी और क्रोचे में पाँचवीं विषमता समीक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में है। क्रोचे का कहना है कि अलंकार आदि का उपयोग वैज्ञानिक समीक्षा में होना चाहिए, न कि कलानिरूपिणी समीक्षा में; इसके विरोध में शुक्ल जी का मत है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कलानिरूपिणी समीक्षा है; वे 'कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली' को समीक्षा मानने के लिए तैयार नहीं।

शुक्ल जी के काव्य-विषयक निर्देश

हिन्दी साहित्य में जब द्विवेदी-कालीन काव्य-प्रवृत्ति से छायावादी और रहस्यवादी काव्य-धारा ने उत्तराधिकार ग्रहण किया तब उस समय शुक्ल जी को दिखायी पड़ा कि उक्त विषमताओं पर आधारित अनेक दूषण हिन्दी काव्य को आक्रान्त कर रहे हैं। इनके सम्बन्ध में हिन्दी के साहित्यकारों को सावधान कर देना शुक्ल जी ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस उद्देश्य से उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे संक्षेप में निम्न-लिखित हैं :—

(१) केवल उक्ति में विलक्षणता लाने का प्रयत्न न किया जाना चाहिए।

(२) काव्य में केवल अप्रस्तुत रूपविधान बहुत अधिक मात्रा में न होना चाहिए, प्रस्तुत मार्मिक रूप-विधान भी अपेक्षित है।

(३) प्रबन्ध काव्य की ओर से ध्यान हटा कर केवल प्रेम-सम्बन्धी मुक्तक अथवा प्रगीत मुक्तक न लिखना चाहिए।

(४) प्रेम-सम्बन्धी मुक्तक अथवा प्रगीत मुक्तक में 'अनंत', 'असीम'

जैसे कुछ शब्दों का प्रयोग कर के उस पर आध्यात्मिकता की कलई न चढ़ानी चाहिए।

(५) हलका मनोरंजन काव्य का उद्देश्य न समझना चाहिए।

(६) समालोचना कल्पनात्मक अथवा भावात्मक न होनी चाहिए।

शुक्ल जी के ये निर्देश उचित दिशा में हैं और हमारे साहित्य-निर्माण पर इनका यथेष्ट प्रभाव पड़ने की आशा है; प्रस्तुत समय तक भी इन्होंने जो संस्कार उत्पन्न किये हैं उनकी प्रगति असंतोषजनक नहीं है।

क्रोचे का मत और शुक्ल जी की आपत्ति दोनों ही पर विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक है कि जिसे रस-सिद्धान्त काव्यानुभूति के रूप में ग्रहण करता है उसे भी केवल द्रव्य (matter), अथवा कच्चे माल के रूप में स्वीकार कर के क्रोचे ने अनुभूति को दुर्बल ही नहीं बनाया है, काव्य के अंग के रूप में उसकी सत्ता ही समाप्त कर दी है। अभिव्यंजनावाद में अकेली कल्पना का बोलबाला हो गया है और काव्य के स्वरूप की उसके द्वारा घोषणा के स्थान में क्षति ही अधिक मात्रा में प्राप्त हुई है। इस प्रकार असमर्थ, केन्द्रच्युत काव्य मनुष्य का कल्याण करने में सर्वथा अशक्त हो जाता है, और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वह आनन्द के प्रकृत रूप की झलक देकर मनोमय कोश से उसकी नाना प्रकार की उन्मुक्ति के लिए ही मानव लोक में अवतीर्ण हुआ है।

———

अध्याय २६

शुक्ल जी का वाद-विवेचन—२

छायावाद और रहस्यवाद

सं० १९६० के लगभग पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथ में लिया। द्विवेदी जी के सामने एक नया प्रश्न खड़ा हुआ, जो पूर्ववर्त्ती साहित्यकारों के ध्यान में नहीं आया था। वह यह था कि गद्य और पद्य दोनों ही की भाषा में एकता हुए बिना साहित्य-निर्माण की प्रगति में जिस बाधा का पड़ना सर्वथा स्वाभाविक है उसका निवारण किस प्रकार किया जाय? उन्होंने निश्चय किया कि जैसे गद्य खड़ी बोली में लिखा जाता है, वैसे ही पद्य भी खड़ी बोली में लिखा जाय। उन्होंने 'सरस्वती' का द्वार खड़ी बोली के कवियों के लिए खोलकर शेष सभी कवियों के लिए बन्द कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कवियों की एक बड़ी श्रेणी, जिसे अपनी कविता का प्रचार अभीष्ट था, खड़ी बोली काव्य को माँजने-सँवारने में लग गयी। शीघ्र ही कवियों ने यह समझ लिया कि खड़ी बोली में कविता लिखना 'सरस्वती' के पृष्ठों में प्रवेश पाने ही के लिए आवश्यक नहीं है, उस ओर प्रवृत्त होना प्रगतिशीलता का लक्षण भी है। यह उल्लेख-योग्य है कि अवधी या ब्रजभाषा में लिखित कोई भी ऐसा काव्य विक्रम की बीसवीं शताब्दी में प्रस्तुत न किया जा सका जो किसी भी रूप में क्रान्तिकारी कहा जा सके। यह लिखते समय मेरे ध्यान में 'प्रियप्रवास' और 'पल्लव' हैं, जिन्होंने न केवल खड़ी बोली को सहारा दिया, वरन हिन्दी काव्य को भी आगे ठेल दिया।

छायावाद की पृष्ठभूमि

लोक हितैषी मनोवृत्ति को प्रधानता देने के कारण द्विवेदी जी ने स्वभावतः शृङ्गाररस-परक कविताओं को प्रकाशित करने की रुचि नहीं दिखायी। राष्ट्रीय महासभा के विकास से देश में क्रमशः देशभक्ति का एक आकर्षक वातावरण निर्मित हो रहा था, द्विवेदी जी ने साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों के सुरुचिपूर्ण निर्वाचन-द्वारा उसी को और भी आकर्षक बनाने की दिशा में सहयोग किया। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि

द्विवेदी जी ने सब प्रकार की शृङ्गारिक कविताओं पर रोक नहीं लगायी,—'प्रियप्रवास' का भ्रमरगीत और उर्मिला-लक्ष्मण के प्रेमपूर्ण मिलन के चित्रण प्रस्तुत करनेवाले 'साकेत' के सर्ग तो उन्होंने छापे ही—प्रवेश-निषेध की आज्ञा उन्होंने वास्तव में रीतिकालीन शृङ्गार रस ही के लिए जारी की थी। जो हो, खड़ी बोली के कवियों की सफलता द्विवेदी जी की सफलता थी और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि भाषा का गद्य-स्वरूप स्थिर करके भारतेन्दु ने ऐतिहासिक महत्त्व का काम किया तो गद्य और पद्य की भाषा में एकरूपता लाकर द्विवेदी जी ने उसके शेषांश को पूर्णता प्रदान की। श्री श्रीधर पाठक, श्रीहरिऔध, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री मुकुटधर पांडेय, श्री रामनरेश त्रिपाठी आदि का नाम द्विवेदी कालीन काव्य-प्रवृत्तियों की चर्चा के प्रसंग में लिया जा सकता है।

किन्तु जिस खड़ी बोली काव्य की नींव द्विवेदी जी ने डाली वह इतनी तेजी से प्रगति करने लगा कि प्राचीन साहित्य मान्यताओं में दीक्षित उन जैसे साहित्याचार्य भी उसकी सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या में असमर्थ होने लगे। जिस इतिवृत्तात्मक काव्य-धारा को उन्होंने प्रवाहित किया था, उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो रही थी और अनेक कविगण हृदय के भावों को व्यक्त करने के लिए प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे। किन्तु अचानक ही 'गीतांजलि' पर रवीन्द्र बाबू को नोबेल पुरस्कार मिलने से 'गीतांजलि' की शैली को प्रोत्साहन मिल गया। इस शैली पर लिखी जानेवाली कविताएँ छायावाद शैली की कही गयीं।

छायावाद के सम्बन्ध में हिन्दी के भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। किसी-किसी ने उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा है। यह तो सही है कि हिन्दी काव्य में सहज गति से प्रवेश करने-वाली अन्तर्मुखी वृत्ति को छायावाद ने एक धक्का देकर आगे बढ़ा दिया। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह बिलकुल ही नयी चीज थी। कबीर, जायसी आदि कवियों के रहस्यवाद में, सूरदास और तुलसीदास के भक्ति-परक पदों में, मीरा की मधुरोपासना में उसके दर्शन हुए थे। उस सूक्ष्म के प्रति विद्रोह करके ही स्थूल प्रस्तुत हुआ था और यदि उस स्थूल के प्रति विद्रोह करके सूक्ष्म पुनः आया तो इससे काव्य-प्रवाह की निरन्तर प्रगति-शील, परिवर्त्तनशील प्रकृति ही की सूचना मिलती है। छायावाद के विषय में एक मत यह भी है कि काव्य के लावण्य ही को छाया कहते हैं और काव्य में लालित्य-संचार के आग्रह ही को, जो वक्रता-साधन के विविध

छायावाद-सम्बन्धी विविध मत

उपचारों द्वारा संभव है, छायावाद की संज्ञा दी जा सकती है। छायावादी कविताओं की दुरुहता के कारण एक मत यह भी प्रचलित हुआ कि जब भाव का मूल रूप स्पष्ट नहीं होता और उसकी केवल छाया सामने आती है तो कविता का छायावादी होना सहज ही सिद्ध है। छायावादी कविताओं में प्रायः यह देखा गया कि प्रकृति के बाह्य रूपों को साधन बनाकर कवि ने अपनी ही भावनाओं का चित्रण किया, जिसमें मूल, वर्णनीय पदार्थ का वर्णन नहीं किया गया, उसका केवल छाया-ग्रहण हुआ। इस आधार पर भी इस प्रवृत्तिवाली कविताओं को 'छायावाद' के अन्तर्गत लाना सार्थक हुआ। यह भी कहा जाता है कि 'छायावाद' द्विवेदी युग के आलोचकों द्वारा नयी कविता का उपहास-सूचक नामकरण मात्र है। 'छायावाद' के मूल में कोई आध्यात्मिक प्रेरणा है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों के भिन्न मत हैं। किसी का कहना है कि 'छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद है और किसी का कहना है कि छायावाद के मूल में कोई आध्यात्मिक प्रेरणा है, यह मानना भ्रान्ति होगी *।

शुक्ल जी ने 'छायावाद' के सम्बन्ध में एकाङ्गी मत नहीं ग्रहण किया है। उन्होंने उसके घेरे को बहुत विस्तृत कर दिया है, जिसके भीतर आध्यात्मिक भाव-विशिष्ट रहस्यवाद का भी समावेश हो सकता है तथा भौतिक स्तर पर उतर कर 'प्रियप्रेयसि' की प्रणय-भावनाओं का चित्रण भी गर्भित किया जा सकता है। उन्होंने 'छायावाद' शब्द का उद्गम-स्थान बङ्गाल को बतलाया है, जहाँ ब्रह्मसमाज में उन आध्यात्मिक गीतों की रचना की गयी जो 'छायावाद' कह कर प्रसिद्ध किये गये। प्राचीन ईसाई भक्तों में यह परिपाटी चली आती थी कि वे समाधि की अवस्था में, किसी अदृष्ट, अज्ञात शक्ति से संदेश के रूप में आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया करते थे; उद्गम का मूल सुनिश्चित, सुस्पष्ट न होने के कारण वह ज्ञान भी सुनिश्चित और सुस्पष्ट नहीं हो सकता था, उसकी एक छाया ही, उसके रूप का एक आभास मात्र ही (Phantasmata) सामने आ सकता था। उस ज्ञान-रूपाभास को ईसाई सन्त तरह तरह के रूपकों के रूप में उतारा करते थे। ब्रह्मसमाज में ईसाई संतों की इसी परिपाटी का अनुसरण किया गया था। वहीं से रवीन्द्रबाबू की प्रसिद्ध 'गीतांजलि' का मार्ग पकड़ कर 'छायावाद' हिन्दी काव्य के क्षेत्र में आया। अपने इस रूप में छायावाद निस्संदेह रहस्यवाद का पर्यायवाची हो सकता है।

---

* डा० नगेन्द्र

किन्तु बात यहीं तक नहीं रही। छायावाद ने रहस्यवाद की चोटी पर से उतर कर लौकिक प्रेम और वासना की तलहटियों का भी निरीक्षण किया। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि कहीं तो उसने लौकिक प्रणय के सरस और मानपूर्ण चित्रण किये और कहीं असमर्थ, असंस्कृत रचनाकारों के हाथ में पड़ कर मनमाने दूषित चित्रों की भी अवतारणा की।

उक्त दोनों श्रेणियों में से छायावाद की प्रथम श्रेणी की चर्चा करते हुए शुक्ल जी डाक्टर नगेन्द्र के बहुत निकट पहुँच गये हैं। उनका कथन है:—

"मैं कई बार कह चुका हूँ कि आजकल जितनी कविताएँ 'छायावाद' की कही जाती हैं, उनमें से अधिकांश का 'रहस्यवाद' से कोई सम्बन्ध ही नहीं। × × श्रीयुत पं० सुमित्रानन्दन पन्त की प्रायः सब कविताएँ जगत् और जीवन के किसी न किसी मार्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखती हैं। श्री जयशंकर प्रसाद जी की वाणी भी या तो वेदना की विवृति में अथवा सुख-सौन्दर्य और रमणीयता की अनुभूति उत्पन्न करने में लीन देखी जाती है। इधर-उधर 'स्वप्न', 'छाया', 'मद' 'मंदिर' आदि रहस्यवाद के कुछ रूढ़ शब्दों और कहीं कहीं अनन्त, असीम की ओर संकेतों के रहने से ही कविता रहस्यवाद की नहीं हो जाती। नई पद्धति की कविताओं की सामान्य आकर्षक विशेषता व्यंजना की प्रणाली में है। यह प्रणाली हमारे कुछ नवीन कुशल कवियों के हाथ में स्वतन्त्र विकास कर रही है।"

छायावाद की उक्त द्वितीय श्रेणी की कविताओं के लेखकों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है:—

"अन्योक्ति-पद्धति को कवीन्द्र रवीन्द्र ने आजकल अपने विस्तृत प्रकृति-निरीक्षण के बल से और अधिक पल्लवित कर के जो पूर्ण और भव्य स्वरूप प्रदान किया है वह हमारे नवीन हिन्दी साहित्य क्षेत्र में 'गाँव में नया नया आया ऊँट' हो रहा है। बहुत से नवयुवकों को अपना एक नया ऊँट छोड़ने का हौसला हो गया है। जैसे भावों या तथ्यों की व्यंजना के लिए श्रीयुत रवीन्द्र प्रकृति के क्रीड़ास्थल से लेकर नाना मूर्त स्वरूप खड़ा करते हैं वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखनेवाले बहुतेरे ऊटपटाँग चित्र खड़ा करने और कुछ असम्बद्ध प्रलाप करने को ही 'छायावाद' की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गये हैं। चित्रों के द्वारा बात कहना बहुत ठीक है, पर कहने के लिए कोई बात भी तो हो। कुछ तो काव्य-रीति से सर्वथा अनभिज्ञ, छन्द, अलंकार आदि के ज्ञान से बिलकुल कोरे देखे जाते हैं। बड़ी भारी बुराई यह है कि अपने को एक 'नये सम्प्रदाय' में समझ अहंकारवश वे कुछ सीखने का कभी नाम भी नहीं लेना चाहते और अपनी अनभिज्ञता को एक चलते नाम की ओट में छिपाना चाहते हैं। मैंने कई एक से, उन्हीं की रचना लेकर कुछ प्रश्न किये, पर उनका मानसिक विकास बहुत साधारण कोटि का—कोई गम्भीर

तत्व ग्रहण करने के अनुपयुक्त—गाया। ऐसों के द्वारा काव्यक्षेत्र में भी, राजनीतिक क्षेत्र के समान, पाखंड के प्रचार की आशंका है।"

छायावाद की विशेषताएँ

इस द्वितीय श्रेणी के कवियों की ओर ध्यान न देकर जब हम प्रथम श्रेणी के कवियों की रचनाओं पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि उनमें कई नवीन तत्त्व हैं, जिनके कारण उनका आकर्षण बढ़ गया है। ये निम्नलिखित हैं :—

(१) बाह्य प्रकृति के पदार्थों का प्रचुर मात्रा में मानवीकरण;
(२) लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता;
(३) अप्रस्तुत चित्र-विधान अथवा अन्योक्ति-पद्धति;
(४) अमूर्त्त उपमान;
(५) सूक्ष्म भावना का मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण।

इन पाँच विशेषताओं से विभूषित होकर छायावाद ने अपने अपूर्व लावण्य की वृद्धि की। अब विचारणीय यह है कि क्या 'गीतांजलि' के प्रकाशन एवं प्रसिद्धि-लाभ के पूर्व भी हिन्दी में कोई ऐसा काव्य बताया जा सकता है, जिनमें इनकी योजना की गयी हो? अन्योक्ति-विधान तो कबीर से लेकर 'प्रियप्रवास' के रचना-कालीन कवियों तक में मिलेगा, लाक्षणिक प्रयोगों की प्रवृत्ति घनानन्द जैसे कवियों में दिखायी पड़ेगी, किन्तु काल-विशेष के भीतर उक्त समस्त अलङ्करण-साधनों का उपयोग हिन्दी काव्य-क्षेत्र में एक घटना थी और उसे गीतांजलि ही से प्रेरणा मिली थी।

शुक्ल जी ने छायावाद की एक अन्य विशेषता यह बतायी है कि जहाँ उसमें उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की अधिकता दिखायी पड़ी, वहाँ प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों के बीच साम्य-स्थापन के प्रयत्न में ऊपरी सादृश्य या शब्द-साम्य पर ही ध्यान न देकर धर्म-साम्य अथवा प्रभाव-साम्य की ही अधिक नियोजना की गयी। हिन्दी काव्य में यह आग्रह इतने दिनों के बाद प्रगट हुआ कि इसमें भी नूतनता का एक सौन्दर्य देखने में आया।

बँगला के 'मेघनादवध' की देखादेखी अतुकान्त काव्य लिखने की ओर हिन्दी कवियों की प्रवृत्ति गत विक्रमी शताब्दी के तृतीय चरणारम्भ ही से हो गयी थी, गीतों की, नये छन्दों की योजना निरन्तर चल रही थी, किन्तु छन्द की लगाम को बिलकुल ही तोड़ फेंकने का काम छायावाद-युग में हुआ। शुक्ल जी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि छन्द-विहीन कविता लिखने का पहला प्रयत्न अपनी पहली रचना के रूप में अमेरिका के एक कवि, वाल्ट ह्विटमैन ने किया, उसका अनुकरण बँगला में हुआ और वहाँ से

हिन्दी जगत् में इसने प्रवेश किया। वाल्ट ह्विटमैन की इस रचना का नाम था 'घास की पत्तियाँ' (Leaves of grass), कुछ लोगों का यह विचार हो सकता है कि बाहर से हिंदी काव्य पर कोई प्रभाव नहीं आया, जो कुछ प्रेरणा उसे मिली वह उस राजनैतिक स्वाधीनता-आन्दोलन से प्राप्त हुई, जो महात्मा गांधी के नेतृत्त्व में चल रहा था *। निस्सन्देह स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए बढ़ते हुए उद्योग के वातावरण में हिन्दी कवि को, सब ओर हाथ-पैर फेंकने की एक मानसिक तैयारी उपलब्ध हो गई थी, किन्तु क्षेत्र-विशेष में प्रवेश करके कार्य को स्वरूप देने के लिए उसे अपने सामने कोई नमूना, कोई आदर्श भी तो चाहिए ही था। यही नमूना अंगरेजी से बँगला को मिला और बँगला से हिन्दी ने पाया।

छायावाद की जिन पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया जा चुका है, उन्हें भी कोई चाहे तो राजनैतिक गांधीयुग की देन कह सकता है, किन्तु यह कथन कितना असंगत होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। गांधीयुग यदि किसी प्रकार की कविता को प्रेरणा दे सका होगा तो वह सीधी-सादी, गूढ़ अलंकारिक सजावटों से रहित, वक्रताहीन, अनुभूति-विशिष्ट कविता ही होगी।

स्वयं 'गीतांजलि' अपनी विशेषताओं के लिए यदि एक ओर कबीर के भावात्मक रहस्यवाद के प्रति ऋणी है तो दूसरी ओर, शुक्ल जी के कथनानुसार उस 'प्रतीकवाद' * से प्रभावित है, जिसका प्रचार फ्रांस में सन् १८८५ में शुरू हुआ था।

कहा गया है कि शुक्ल जी छायावाद की सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या नहीं

---

* "साहित्य का छायावाद-युग राजनीति के गाँधी-युग के साथ प्रगति कर रहा था। देश के वातावरण में स्वतन्त्रता की छटपटाहट आई हुई थी। कवि का मन उसी वातावरण में साँस ले रहा था। अतः यदि उसकी प्रगतिशीलता ने छन्दों के बन्धन से मुक्त होने की उत्सुकता व्यक्त की तो इसे बाहरी साहित्य का प्रभाव कहना कहाँ तक उचित होगा ?" —श्री विनयमोहन शर्मा

"सन् १८८५ ई० में प्रतीकवादियों (symbolists or decadents) का एक सम्प्रदाय फ्रांस में खड़ा हुआ, जिसने अनूठे रहस्यवाद और भावोन्मादमयी भक्ति का सहारा लिया। हमारे यहाँ के श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गीतांजलि का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित करके इसी सम्प्रदाय के सुर में सुर मिलाया था। बंग भाषा के काव्य-क्षेत्र के तो एक कोने ही में इस रहस्यवाद या छायावाद की तन्त्री बजी, पर हिन्दी में तो इसकी नकल का तूफान सा आ गया।"

—[चिं०, भा० २, पृ० ११६

कर सके। इस आपत्ति में सत्य का अंश न हो, सो बात नहीं; यद्यपि यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने उसके प्रति सद्भाव प्रदर्शित करने की पूर्ण चेष्टा की है। सहानुभूति का अभाव उनमें क्यों था ?—इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के पहले उनके उन समीक्षा-सिद्धान्तों पर एक दृष्टि डालनी चाहिए, जिनकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। इन सिद्धान्तों पर विचार करके हमें स्वयं इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए कि उन पर टिके रह कर क्या वे 'छायावाद' के प्रति अनुकूलता बढ़ा सकते थे अथवा प्रतिकूलता कम कर सकते थे ? 'अनुकूलता' शब्द का प्रयोग देख कर पाठक चौंक नहीं। छायावाद अथवा रहस्यवाद के प्रकृत स्वरूप के वे कदापि विरोधी नहीं थे। 'स्वाभाविक रहस्यभावना' की रमणीयता और मधुरता के वे प्रशंसक थे और श्रेष्ठ कवि अपने रसानुभवशील हृदय में जिन अनेक माधुर्यमयी, रमणीय वृत्तियों को स्थान देते हैं, उन्हीं के मध्य में उसे भी प्रतिष्ठापित करते थे। किन्तु उनकी कठिनाई यह थी कि किसी 'वाद' अथवा सिद्धान्त के प्रचार के साथ उसका लगाव मानने के लिए वे तैयार नहीं थे। उन्होंने स्वयं कहा है :—

शुक्ल जी स्वाभाविक रहस्योन्मुखता के प्रेमी

"यहाँ पर हम यह बहुत स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हिन्दी काव्य-क्षेत्र में हम रहस्यवाद की भी एक शाखा चलने के विरोधी कभी नहीं हैं। हमारा कहना केवल यही है कि वह वाद के रूप में न चले; स्वाभाविक रहस्य भावना का आश्रय लेकर चले। छायावाद का रूपरंग बनाकर आजकल जो बहुत सी कविताएँ निकला हैं उनमें कुछ तो बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और सच्ची रहस्य-भावना लेकर चली हैं; कुछ वादग्रस्त और कृत्रिम हैं और अधिकांश कुछ भी नहीं हैं।"

—[चिं० भा० २ पृ० १६६

"सन् १८८५ में फ्रांस में उठा हुआ रहस्यवाद, मलार्मी प्रतीकवाद, जिसमें कुछ वस्तुओं, शब्दों और ध्वनियों में रंगों के ढङ्ग पर विशेष-विशेष अर्थों का आरोप किया गया था, ब्रह्म समाज की साम्प्रदायिक कविताओं में गृहीत हुआ, फिर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से और व्यापक होकर हिन्दी में आया।"

—[चिं०, भा० २, पृ० २१०

"इस बात के विशेष विवरण की आवश्यकता न होगी कि जो छायावाद नाम प्रचलित है वह वेदान्त के पुराने 'प्रतिबिम्बवाद' का है। यह 'प्रतिबिम्बवाद' मुसलमानों के यहाँ से होता हुआ योरप में गया जहाँ कुछ दिनों तीन प्रतीकवाद से संघर्ष होकर धीरे-धीरे बंगसाहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहा जाने लगा।"

स्वाभाविक रहस्य-भावना क्या है, इसे भी शुक्ल जी ने समझाया है। उनका कहना है कि जिस कवि के काव्य में रहस्योन्मुखता के साथ-साथ प्रकृति के किसी भाग से सम्बन्धित 'वस्तु-व्यापार की संश्लिष्ट और शृङ्खला-बद्ध योजना की जाती है तथा इस प्रकार जिसके द्वारा पूर्ण दृश्य का विधान सम्पादित होता है, उसे स्वाभाविक रहस्य-भावना-सम्पन्न कवि कहते हैं। शुक्ल जी के मतानुसार स्वाभाविक रहस्य-भावना-सम्पन्न कवि की 'रूप-योजना विस्तीर्ण और जटिल होती है तथा कुछ दूर तक अखण्ड चलती है', उसकी रचना में दृश्य का प्रसार एक संश्लिष्ट क्रम से दिखायी पड़ता है तथा विचार और भावों का सिलसिला बड़ा दूर तक अपना अखंडता को सँभाले हुए चलता है। उनकी मान्यता है कि जिस रहस्यान्मुख काव्य में देश, काल, मत की बाधा से मुक्त मानव का रचनात्मक व्यक्तित्व स्वयं को प्रतिबिंबित देखता है, जो जीवन-प्रवाह के विरोध में खड़ा होकर अपने को असम्बद्ध, एकाकी नहीं बनाता उसी को स्वाभाविक रहस्यवाद कहना चाहिए। इसके उदाहरण-स्वरूप में शुक्ल जी ने कबीर के निम्नलिखित पद उपस्थित किये हैं :—

मेरा हार हिरानो मैं लजाउँ।
हार गुह्य मेरो राम तागु, बिच बिच मानिक एक लाग।
पञ्च सखी मिली हैं सुजान चलहु त जइए त्रिवेनी न्हान।
न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, ना जानूँ हार किनहिं लीन्ह।
हार हिराना जन बिलम कीन्ह, मेरा हार परोसिन आदि लीन्ह।

इन पंक्तियों में किसी वाद का प्रचार नहीं है, इनमें मनुष्य के हृदय की सच्ची व्यथा अंकित है। पञ्च सखी पंचेन्द्रियाँ हैं, जिनके कारण मनुष्य अपनी प्रगति में सदैव कठिनाइयाँ अनुभव करता आया है और करता रहेगा। ये कठिनाइयाँ किसी एक देश के मनुष्य ही के सामने खड़ी हों, ऐसी बात भी नहीं। 'त्रिवेनी' में भी कोई साम्प्रदायिकता नहीं है, क्योंकि वह तो तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण—इन तत्त्वों से युक्त जीवन-प्रवाह की ओर हमारा ध्यान ले जाता है। भाव यह है कि जीवन को स्वीकार कर लेने पर आसक्ति बढ़ी और मेरा सुन्दर मन-रूपी हार खो गया। यह हार 'परोसिन' ने चुरा लिया है, अर्थात् माया ने मन पर अधिकार कर लिया है। कबीर कहते हैं कि हार के खो जाने से, मन के बहक जाने से मैं लज्जित हूँ।

प्रत्येक प्रगतिशील मनुष्य के लिए इन पंक्तियों में बेधक भाव विद्यमान है, जिससे वह अपनी आसक्ति के बन्धनों को तोड़ सकता है अथवा तोड़ने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त कर सकता है। जहाँ प्रगति और शक्तिलाभ की

प्रेरणा लेकर लोकजीवन रहस्योन्मुखी काव्य के दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ है, वहाँ शुक्ल जी को पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ है, इसमें सदेह नहीं। प्रेमाश्रयी शाखा के निर्गुणवादी मुसलमान कवियों की भी इसी विशेषता के कारण, उन्होंने प्रशंसा की है।

साम्प्रदायिक रहस्यवाद

स्वाभाविक रहस्योन्मुख काव्य में जहाँ प्रसार और अखंडता पायी जाती है, वहीं साम्प्रदायिक रहस्यवादी काव्य में संकीर्णता और बद्धता दिखायी पड़ती है। शुक्ल जी ने स्वयं ही कहा है:—

"साम्प्रदायिक या सिद्धान्ती रहस्यवादी कुछ बँधे हुए और इनी-गिनी वस्तुओं की ठीक उसी प्रकार अलग अलग झलक दिखा कर रह जाते हैं जिस प्रकार हमारे पुराने शृङ्गारी कवि ऋतुओं के वर्णन में उद्दीपन-सामग्री दिखाया करते हैं। (इन) कवियों में यह अन्विति (Unity) और मनोहर प्रसार अत्यन्त अल्प या नहीं के बराबर होता है।"

—चि० भा० २, पृ० १५२, १५३

साम्प्रदायिक रहस्यवाद के उदाहरण-रूप में शुक्ल जी ने कबीर के निम्नलिखित दो पद उद्धृत किये हैं:—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यह तत कथौ गियानी।"

जल में घड़ा है, घड़े में जल है, घड़े के बाहर भी पानी है, भीतर भी पानी है। जब तक घड़े का अस्तित्व है तब तक एक व्यवधान उसके भीतर के जल को बाहर के जल से पृथक् करता है। यह व्यवधान ही माया है, घड़े के फूटते ही यह माया-रूप व्यवधान समाप्त हो जायगा और घड़े के जल और बाहर के जल में अभिन्नता, अद्वैतता स्थापित हो जायगी। इन दोनों पदों में मायावाद और अद्वैतवाद की व्याख्या की गयी है। काव्य के इस प्रकार के उपयोग के सम्बन्ध में शुक्ल जी को आपत्ति यह है कि यदि एक 'वाद' के प्रचारार्थ कविता लिखी जायगी तो यह भी संभव है कि उसके विरोधी-वाद के पोषण के निमित्त भी कविता लिखी जाय; इस प्रकार विरोधी 'वादों' की व्याख्या के संघर्ष में पड़ कर काव्य अपने प्रकृत स्वरूप को खो देगा। काव्य की इस प्रकार की संकुचित प्रवृत्ति शुक्ल जी को सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी* में नहीं दिखायी पड़ी है।

छायावादी काव्य के प्रसंग में शुक्ल जी ने आधुनिक कालीन चार कवियों की चर्चा की है—(१) पं० सुमित्रानन्दन पंत; (२) श्री जयशंकर 'प्रसाद' (३) श्री निराला'; (४) श्री महादेवी वर्मा। इनमें से 'प्रसाद' जी और महादेवी

जी के काव्य को उन्होंने कुछ साम्प्रदायिक रूढ़ि-ग्रस्त माना है, किन्तु पन्त जी के रहस्योन्मुख काव्य को स्वाभाविक रहस्य-काव्य के रूप में स्वीकार किया है।

इस सम्बन्ध में शुक्ल जी की एक प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है—उक्त कवियों के काव्य की स्वरूप-व्याख्या करते समय कहीं तो वे काव्य-वस्तु को महत्त्व दे देते हैं और कहीं केवल अभिव्यंजना को। उदाहरण के लिए उन्होंने प्रसाद जी में एक ओर तो साम्प्रदायिक रहस्यवाद-गत रूढ़ियों का निर्देश किया, दूसरी ओर उनके काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष को बहुत अधिक महत्त्व दे दिया पन्त जी के काव्य में कल्पनावाद, कलावाद और अभिव्यंजनावाद का प्रभाव उन्होंने 'छाया', 'वीचि विलास', और 'नक्षत्र' में देखा है। अँगरेजी के कुछ लाक्षणिक प्रयोगों को पन्त जी ने अनुवाद के रूप में ग्रहण कर के भी (कनक प्रभात, स्वर्ण स्वप्न, स्वर्णिल आभा, बच्चों की साँस आदि एक-एक ऐसी प्रवृत्ति का परिचय दिया था जो शुक्ल जी के मत के अनुकूल नहीं पड़ती थी। सम्भवतः शुक्ल जी के मानसिक नेत्रों के सामने प्रसाद जी और पन्त जी की अभिव्यक्ति-सम्बन्धी विशेषताएँ अधिक मात्रा में विद्यमान थीं, जब उन्होंने लिखा :—

• प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जिस रूप में जगत् हमारे सामने है उस रूप में ब्रह्म तो नहीं है, हाँ उसकी छाया या प्रतिबिम्ब अवश्य है। सूफियों ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में तो अद्वैतवाद ग्रहण किया, पर जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतिबिम्बवाद को अपनाया। इस प्रतिबिम्बवाद को लेकर सिद्धान्तपक्ष में उन्होंने 'कल्पनावाद' की उद्भावना की। सूफियों ने अपने उस 'कल्पनावाद' को केवल ध्यान के लिए साधना या सिद्धान्तपक्ष में ही रखा, काव्यक्षेत्र में नहीं घसीटा। काव्य क्षेत्र में उन्होंने प्रतिबिम्बवाद के साथ अभिव्यक्तिवाद का मेल किया, जिससे उनकी कविता का रङ्ग वैसा ही स्वाभाविक और हृदयग्राही रहा जैसा और कविता का।

—[चिं०, भा० २, पृ० १५४

• "पन्त जी की रहस्यवाद-भावना प्रायः स्वाभाविक ही रही; वाद का साम्प्रदायिक स्वरूप उसने शायद ही कहीं ग्रहण किया हो।"

—इति०, पृ० ६६४

× × × ×

"पन्त जी की स्वाभाविक रहस्य-भावना को प्रसाद और महादेवी वर्मा की साम्प्रदायिक रहस्य-भावना से भिन्न समझना चाहिए।

—इति०, पृ० ७०६

× × × ×

"पल्लव में रहस्यात्मक रचनाएँ हैं 'स्वप्न' और 'मौन निमंत्रण'। •• पन्त जी की रहस्य-भावना स्वाभाविक है, साम्प्रदायिक नहीं।"

—[इति०, पृ० ६६२

"इसी छायावाद के भीतर कुछ लोगों की कविताएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनका स्वरूप विलायती नहीं होता, जो कुछ थोड़ा-सा बँगलापन लिये हुए सूफ़ियों के तर्ज़ पर होती हैं। इनमें लाक्षणिकता भी पूरी रहती है, पर वह अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार होती है, अँगरेज़ी से उठायी हुई नहीं होती। × × × इनकी 'छायावाद' की रचनाओं में भी भावुकता और रमणीयता रहती है। थोड़ा खटकने वाली बात जो मिलती है वह है फ़ारसी शायरी के ढंग पर वेदना का अरुचिकर और अत्युक्त विवृति। शरीरधर्मों का अधिक विन्यास (Animality) काव्य-शैष्ठ्य के विरुद्ध पड़ता है। + + जो हो, कोरे विलायती तमाशे से हम इसे सौ दर्जे अच्छा समझते हैं।"

—[चि, भा० २, पृ० १६३

यह उल्लेख-योग्य है कि कल्पनावाद, कलावाद और अभिव्यंजनावाद का प्रभाव प्रसाद जी पर भी शुक्ल जी द्वारा स्वीकार किया गया है (इति० पृ० ६७४)। तो फिर अंगरेज़ी से लाक्षणिक शब्दों का अनुवाद मात्र रह जाता है, जिससे प्रसाद जी को काव्य-भाषा मुक्त है। ऐसी अवस्था में यह विचारणीय हो जाता है कि साम्प्रदायिक रूढ़ि-विशिष्ट रहस्यवादी काव्य को, स्वाभाविक रहस्य-भावनामय काव्य की अपेक्षा; समीक्षक की अधिक अनुकूलता क्यों प्राप्त हुई? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अंगरेज़ी की काव्य शैलियों का जितना परिचय पंत जी को प्राप्त रहा है उतना प्रसाद जी को नहीं प्राप्त था और उक्त पंक्तियाँ लिखते समय शुक्ल जी के ध्यान में प्रसाद जी द्वारा भाषा-प्रवृत्ति रक्षा की प्रवृत्ति विशेष रूप से उभर कर आयी; साम्प्रदायिक रहस्यवाद का समर्थन यहाँ नहीं किया गया है और न स्वाभाविक रहस्यवाद का महत्त्व कम करने का प्रयत्न ही इन पंक्तियों में ध्वनित है। यह बात शुक्ल जी के निम्नलिखित कथन से पुष्ट होती है :—

छायावाद की कविताओं की अपेक्षा हमें रहस्यभावनापूर्ण जो दो एक गद्य-काव्य निकले हैं वे अधिक भावुकतापूर्ण और रमणीय जान पड़ते हैं, विशेषतः राय-कृष्ण दास जी की 'साधना'। इसमें न तो साम्प्रदायिक रहस्यवाद के शाबर मंत्र हैं, न अभिव्यंजनावाद का अभिनय और न शब्दों की विलायती कलाबाज़ी। इसका हृदय भी भारतीय है, वाणी भी भारतीय है और दृष्टि भी भारतीय है। जिन अनुभूतियों की व्यंजना है वे कहीं भी से आती हुई जान पड़ती हैं, आसमान से उतारी जाती हुई नहीं।"

—[चि०, भा० २, पृ० १६५

यह अवतरण हमारी समस्त दुविधा का अन्त कर देता है—शुक्ल जी न साम्प्रदायिक रहस्यवाद चाहते हैं, न अभिव्यंजनावाद चाहते हैं; न शब्दों की विलायती कलाबाज़ी चाहते हैं। उन्हें भारतीय हृदय, भारतीय वाणी

और भारतीय दृष्टि चाहिए। वे बाहर से आरोपित अनुभूतियाँ नहीं चाहते; वे हृदय के भीतर से उमड़ने वाली अनुभूतियों के पक्ष में हैं।

किन्तु विश्ववादियों की ओर से यह प्रश्न किया जा सकता है—काव्य के सार्वभौम और सर्वकालीन क्षेत्र में भारतीयता का यह आग्रह क्यों? क्या यह आग्रह स्वयं ही साम्प्रदायिकता का एक रूप न भारतीयता शब्द का ध्यान हो जायगा? इसका उत्तर चाहनेवालों को यह स्मरण रखना चाहिए कि साम्प्रदायिकता सदैव पार्थक्य की, विभेद की सूचना देती है, दीवाल खड़ी करके विभाजन के लिए उत्सुक रहती है। यदि भारतीयता का अर्थ पार्थक्य, विभेद, विभाजन है तो निस्सन्देह वह साम्प्रदायिकता का भाव व्यक्त करेगी। किन्तु काव्य के इतिहास में भारतीयता का अर्थ वाल्मीकि के समय से लेकर तुलसीदास के समय तक रहा है वह विशेषता जिसके कारण सम्पूर्ण विश्व में उसकी सभ्यता और संस्कृति अभिशाप के रूप में नहीं, आशीर्वाद के रूप में गृहीत हुई है—मेरा आशय उस करुणा-तत्त्व से है, जिसकी ओर उन्मुख होकर ही वैदिक ऋषियों ने 'नृयज्ञ'[1] 'भूतयज्ञ'[2] आदि की योजना की थी और पंच में उसे समाविष्ट किया था तथा जो आज भी किसी न किसी रूप में हमारे काव्य में चला चल रहा है। इस भारतीय करुणा-तत्त्व को संसार के प्रति भारत की देन समझना चाहिए तथा उस करुणा-तत्त्व से पृथक् समझना चाहिए, जिसका निर्देश अरस्तू के काव्य-शास्त्र में हुआ है, क्योंकि जहाँ भारतीय करुणा-तत्त्व करुणावान के जीवन की आपेक्षिक पूर्णता से प्रसूत बहिर्जगत के पीड़ितों के प्रति सक्रिय होता है वहाँ अरस्तू का करुणा-तत्त्व नाटक-दर्शक अथवा काव्य पाठक के हृदय को विकास की अंतर्मुखी प्रेरणा मात्र देकर तृप्त हो जाता है।

राय कृष्णदास की 'साधना' में स्वाभाविक रहस्यवाद का जो रूप अंकित हुआ है, उसके शुक्ल जी द्वारा समर्थित होने का मर्म यही है कि वह भारतीय करुणा-तत्व की संगति में बैठता है तथा बहिर्जगत और अन्तर्जगत, दोनों ही में सामंजस्य खोजने की भारतीय प्रवृत्ति के प्रति उसमें कोई आन्तरिक विरोध नहीं है।

किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि 'छायावाद' की समीक्षा करते समय शुक्ल जी को कल्पनावाद, कलावाद और अभिव्यंजनावाद की जितनी स्मृति थी उतनी उक्त करुणा-तत्त्व की नहीं थी, क्योंकि इन वादों से प्रभावित होने पर भी पंतजी की 'छाया' नामक कविता में भारतीय करुणा-तत्त्व ही का

१ मनुष्य की सेवा का मत। २ प्राणीमात्र को भोजनादि से संतुष्ट करने का यज्ञ

समावेश किया गया है—उसमें चित्रित 'छाया' किसी उपेक्षिता, परित्यक्ता नारी ही का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके प्रति कवि की सहानुभूति प्रवाहित होती है। उन्होंने पंत जी की अन्यान्य कविताओं में लोकसंग्रहात्मक भावों का अनुसंधान किया है, किन्तु 'छाया' को इस दृष्टि से भी देखने की आवश्यकता है, इस बात को बिल्कुल ही भुला दिया है। वास्तव में पंत जी की छायावादी रचनाओं में भी वह करुणा-तत्त्व किसी न किसी रूप में विद्यमान है, जिसने आगे चल कर उन्हें लोकसंग्रह-विशिष्ट प्रगतिवादी काव्य-रचना की ओर प्रेरित कर दिया। अस्तु।

शुक्ल जी के निष्कर्ष

शुक्ल जी 'छायावाद' का किस रूप में समर्थन कर सकते थे और उसके किस स्वरूप के वे विरोधी थे, इसकी एक संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी। अब हमें इस सम्बन्ध में उनके कतिपय निष्कर्षों के महत्त्व को समझ लेना है। ये निम्नलिखित हैं—

(१) भारतीय काव्य को कभी रहस्यवाद की आवश्यकता ही नहीं हुई और अब भी वाद' के रूप में उसे ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

(२) रहस्यवाद की आवश्यकता ईसाई और मुसलमान मजहबों के भीतर ही हुई, जहाँ मनुष्य का 'हृदय बँधा बँधा ऊब रहा था' और वहाँ काव्य के भीतर उसने साम्प्रदायिक सिद्धान्त के रूप में प्रवेश किया।

शुक्ल जी के इस द्विसूत्री कथन की यहाँ क्रमशः व्याख्या की जायगी (१) भारत और यूनान की आर्य जातियों ने तत्त्वज्ञान में जो उन्नति की थी उसके कारण दोनों में से किसी को भी रहस्यवाद की आवश्यकता नहीं हुई। भारत और यूनान दोनों ही देशों के तत्त्ववेत्ताओं ने व्यक्त जगत से परे एक अव्यक्त निर्विशेष सत्ता को स्वीकार किया। यूनानियों ने मानव के व्यक्तित्व को उक्त निर्विकार सत्ता की संगति में बैठनेवाले साँचे में ढालना चाहा; इधर समन्वयवादी भारतीयों ने अधिक घनिष्ट परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से बहिर्जगत और अंतर्जगत दोनों ही में उक्त सत्ता—ब्रह्म की खोज करने का प्रयत्न किया और यह निर्देश करके कि व्यक्ति आत्मातृप्ति ही से सन्तुष्ट न रहकर शेष जगत के प्रति सेवा, प्रेम, उपासना का भाव भी रखे, उस करुणा-तत्त्व की उद्भावना की जिसके प्रतीक रूप में विष्णु मान्य हुए। आरम्भ में विष्णु का प्रतिनिधित्व सूर्य ने किया, किन्तु कालान्तर में अधिक घनिष्ठता की वासना से सूर्योपासना के स्थान में नारायण या वासुदेव की उपासना प्रचलित हुई। इस उपासना पद्धति से यह प्रेरणा मिली कि जिस करुणा के आलय होकर नारायण अथवा वासुदेव

लोक के रक्षक और रंजक हुए उसे स्वयं भी, अपने परिमित क्षेत्र में, धारण करना नर का, मनुष्य का धर्म है। इस भावना का विशेष विकास महाभारत-काल में हुआ। नारायण के वासुदेव रूप के अतिरिक्त नृसिंह वामन, दशरथ के पुत्र-राम आदि की उपासना भी प्रचलित हुई। महाभारत-काल के पूर्व वासुदेव की ब्रह्म और मधुर उपासना की कुछ प्रवृत्ति रही, किन्तु महाभारतकार वेदव्यास-प्रणीत श्रीमद्भगवतगीता में नर और नारायण के रूप में अर्जुन और श्रीकृष्ण का जो संवाद प्रस्तुत किया गया, उसमें लोकरक्षक सक्रिय करुणा-तत्त्व का, आत्मस्थित समाधि के साथ, सामंजस्य करके जीवन सत्य के पूर्ण और अपूर्ण दोनों ही रूपों की जैसी अभिन्नता सम्पादित कर दी गयी उससे मनुष्य को अपनी समस्याओं का हल ढूँढना अधिक आसान हुआ। नैष्कर्म्य धर्म-प्रधान श्रीमद्भगवत ने भगवान के करुणामय रूप का चित्रण किया, किन्तु मधुरोपासना की परम्परा जारी रक्खी। उसके अल्पाधिक प्रभाव का नृसिंह, वामन तथा रामादि अवतारों की उपासना से निराकरण होता रहा। इस प्रकार गुह्य प्रवृत्ति भारत में चल नहीं पायी; सक्रिय अथवा निष्क्रिय करुणा-तत्त्व ने भारतीयों के मन पर अपना पूर्ण अधिकार रक्खा। निर्गुण समन्वित सगुणोपासना की वैज्ञानिक और लोकसंग्रहात्मक विधि ने न चिन्तन के क्षेत्र में रहस्यवाद को पनपने दिया और न काव्य के क्षेत्र में। रहस्यवाद के स्थान में 'अभिव्यक्ति-वाद' ही का यहाँ बोलबाला रहा। ऐसी परिस्थिति में रहस्यवाद को केवल योग, तन्त्र और रसायन के घेरे के भीतर ही संकुचित होकर भारत में रह जाना पड़ा।

(२) बुद्धदेव का करुणा-तत्त्व एक मात्र अहिंसा पर आधारित होने के कारण अहिंसा और हिंसा दोनों ही के समन्वित साधनों पर अवलम्बित नर-नारायणीय सिद्धान्त के करुणा-तत्त्व से कुछ भिन्न था। निर्वाणपरक होने के कारण उसमें कुछ दूर तक कर्म के प्रति शून्यता का भाव था। यदि यह कहा जाय कि परवर्त्ती ईसा ने अपनी विचार-धारा के संगठन में बौद्ध धर्म की प्रचलित भावनाओं से कुछ सहायता ली होगी, तो यह कल्पना सर्वथा असंगत नहीं कही जा सकेगी। बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म में अहिंसा सिद्धान्त सम्बन्धी इतनी समताएँ हैं कि ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव स्वीकार करना ही पड़ता है। निर्गुण समन्वित सगुणोपासना के अभिव्यक्ति-वादी मार्ग के प्रति विद्रोह कर के बौद्ध धर्म ने अपने जीवन के आरम्भ ही में रहस्यान्मुखता का बीज धारण कर लिया था, जो उसके विचार-ग्रस्त होने पर कालान्तर में फला-फूला। ईसाई धर्म को तत्त्वज्ञान की उपलब्धि

या तो यूनानी दर्शन से हो सकती थी या भारतीय दर्शन से, और भारतीय दर्शन के नाम पर बौद्ध दर्शन से उसे जो कुछ मिला वही अपनी परिस्थितियों में उसे आसान जान पड़ा।

यहूदी परम्पराओं में लालित-पालित होने के कारण ईसाई धर्म की विलक्षण परिस्थितियाँ थीं। यहूदियों में ज्ञानोपलब्धि तत्त्व-चिंतन के मार्ग से नहीं; देवदूतों के द्वारा ईश्वरीय संदेश के रूप में मानी जाती थी अथवा सन्तों-महात्माओं के स्वप्नों, समाधि या तुरीयावस्था में प्राप्त धुंधले रूपाभासों का स्वरूप धारण कर के आती हुई समझी जाती थी। ग्रगरी (सन् ६०४), सन्त बनोर्ड (ई० १२वीं शती) जैसे ईसाई सन्तों ने इस परम्परा को जारी रक्खा और जब यूनानी तत्त्व-ज्ञान को किसी प्रकार ग्रहण कर लेने की उन्हें आवश्यकता हु तो उन्होंने उक्त पद्धति का अवलम्बन करके ही उसे ईसाई धर्म में समाविष्ट किया। इस प्रकार यह लक्षित होगा कि ईसाई धम आरम्भ ही से रहस्य के पथ पर चला और उसमें न केवल भक्ति रहस्य से सम्बन्धित है, वरन ज्ञानोपलब्धि की प्रक्रिया भी रहस्यमयी है। इस रहस्यवाद को लेकर ईसाई धर्म-प्रभावित पाश्चात्य देशों में जो काव्य-रचना हुई, उसने काव्य के स्वाभाविक स्वरूप को सर्वथा भुला दिया।

जिस प्रकार ईसाई धर्म में साम्प्रदायिक रहस्य-भावना एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में उपस्थित हुई उसी प्रकार इस्लाम धर्म के अन्तर्गत सूफियों में भी उसका विकास हुआ। ईरान के सूफ़ी भारतीय वेदान्त के 'सववाद' और 'प्रतिबिम्बवाद' नामक सिद्धान्त से प्रभावित हुए। यह असम्भव नहीं है कि वे यूनानी दर्शन से भी प्रभावित हुए हों, क्योंकि अनुवाद के सहारे यूनानी दार्शनिक विचार अरबी में भी उपलब्ध होने लगे थे। इस्लाम के भी, ईसाई मत की तरह ही, पैगम्बरी मत होने के कारण, उसके अनुयायियों के लिए भी ज्ञानोपलब्धि का मार्ग समाधि या तुरीयावस्था में प्राप्त संदेश, सत्यरूपाभास की धुँधली झलक आदि का मिलना ही हो सकता था। आत्मा और परमात्मा के क्षेत्र में सूफ़ियों ने भारतीय वेदान्त के 'सर्ववाद' सिद्धान्त को माना, किन्तु ब्रह्म जगत् के क्षेत्र में जगत् को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब-रूप स्वीकार कर वे 'प्रतिबिम्बवाद' की ओर आकर्षित हुए। इस तत्त्वज्ञान को लिया तो उन्होंने उक्त ढंग से ही, किन्तु यह रूप उन्होंने ध्यान तक सीमित रक्खा; काव्य में उन्होंने 'रहस्यवाद' के स्थान में 'अभिव्यक्तिवाद'* का सहारा लिया, जिससे वे प्रबन्ध के क्षेत्र के भीतर

*अभिव्यक्तिवादी इस दृश्य जगत् को भी ब्रह्म ही मानता है, ब्रह्म की छाया नहीं; इसके विपरीत प्रतिबिंबवादी इस दृश्य जगत् को ब्रह्म की छाया के रूप में ग्रहण करता है।

लोकरक्षण और लोकरंजन में समर्थ भावनाओं का भी विकास कर सके। सूफ़ियों के यहाँ से यह प्रतिबिम्बवाद योरप में पहुँचा और वहाँ कलावाद, कल्पनावाद, प्रतीकवाद,* अभिव्यंजनावाद आदि की रंगीनी लेकर रवीन्द्र बाबू के काव्य के माध्यम से हिंदी काव्य के क्षेत्र में आया, शुक्ल जी के इस मत की चर्चा की जा चुकी है। एक विशेष सिद्धान्त को लेकर चलने के कारण इस प्रकार की कविता को शुक्ल जी ने साम्प्रदायिकता-ग्रस्त कहा है और यह अनुरोध किया है कि काव्य के प्रकृत स्वरूप को ग्रहण किया जाय। अव्यक्त और अज्ञात की अस्वाभाविक लालसा और सूफ़ी कवियों द्वारा स्वीकृत 'अभिव्यक्तिवाद' की भी तिरस्कृति के आधार पर उन्होंने छायावादी काव्य को कृत्रिम और सचाई से शून्य बताया है। उनके इस मत की सत्यता का यह प्रमाण है कि छायावाद जिस आकस्मिक वेग से हिंदी में आया था उसी आकस्मिक वेग से विदा भी हो गया।

यहाँ यह कथन आवश्यक है कि काव्य-धारा के स्वाभाविक स्वरूप की रक्षा के लिए स्वाभाविक रहस्य-भावना को प्रोत्साहन देना अनिवार्य है। वह काव्य का आन्तरिक मूल है, जो बाह्य जगत् में शाखान्वित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेवाली करुणा को भी अपना सच्चा रस देकर प्राणान्वित करती रह सकती है। उसे न तत्त्वज्ञान से विरोध होगा और न अनासक्त, व्यक्ति-सीमित स्वार्थ से मुक्त कर्म का ही वह तिरस्कार करेगी। इसे हम दो रूपों में ग्रहण कर सकते हैं—(१) प्राकृतिक रहस्यभावना अथवा शक्ति की रहस्य भावना। (२) मूल रहस्य भावना।

बाह्य जगत् के लोक-व्यापार के प्रति सहानुभूति और सहृदयता का भाव धारण कर के भी जब हमारी करुणावृत्ति अधिकाधिक अन्तर्मुखी होती और प्रकृति के विराट् क्षेत्र के अगणित प्रणयी और प्रणयपात्र युग्मों की तन्मयता को सूक्ष्म रूप में ग्रहण करके लोकोत्तर आह्लाद के रूप में परिणत होती है, तब अद्वैत परोक्ष सत्ता में विलय प्राप्त करने का मार्ग परिष्कृत होता है। उसकी धुँधली झलक ही मिलती है। यही प्राकृतिक रहस्य-भावना की भूमि है। प्राकृतिक रहस्यभावना से प्रेरित कवि इसी भूमि पर स्थित होता है।

प्राकृतिक रहस्य भावना में अन्तर्निहित आह्लाद के स्तर से भी ऊपर उठकर जब हम प्रकृति के सम्पूर्ण प्रसार और कोलाहल के भीतर आन्तरिक

---

* इन वादों का उल्लेख आगे होगा।

शान्तिमयी एकता की भावना की ओर अग्रसर होते हैं और अद्वैत सत्ता में उस विलय का अनुभव करते हैं, जो लोक-जीवन के संहार की नहीं, निर्माण की अनन्त संभावनाओं को धारण किये रहता है। मूल रहस्य-भावना से अनुप्राणित कवि इसी भाव-भूमि पर विचरण करता है।

रहस्य-भावना के इन दो रूपों को धारण करने की दिशा में यदि हिंदी काव्य चलेगा तो वह स्वस्थ, सुन्दर और शक्तिशाली बनेगा।

———

अध्याय २७

शुक्ल जी का वाद-विवेचन—२

कल्पनावाद आदि

शुक्ल जी ने अभिव्यंजनावाद; व्यक्ति वैचित्र्यवाद और छायावाद के अतिरिक्त अन्य अनेक वादों की चर्चा भी अपने निबन्धों में की है। ये हैं—'कल्पनावाद' 'कलावाद', प्रभाववाद 'प्रतीकवाद', 'संवेदनावाद', 'मूर्त्तविधान-वाद, स्वप्नवाद, और वासनावाद। समय-समय पर इन वादों का प्रचार योरप में हुआ। इनके अतिरिक्त भारत में भी समय-समय पर भिन्न-भिन्न काव्य-मतों की प्रतिष्ठापना हुई। ये हैं रस-मत के अतिरिक्त अलंकार मत, वक्रोक्तिमत, ध्वनि मत और रीति-मत इन सब के एक संक्षिप्त विव-रण के साथ-साथ इनके सम्बन्ध में शुक्ल जी की धारणाएँ यहाँ प्रस्तुत की जायँगी।

कल्पनावाद

रस-सिद्धान्त में अनुभूति की सहयोगिनी के रूप में कल्पना को जो संयत स्थान दिया गया है, उसे असंगत बनाकर कल्पना ही को प्राधान्य दे देना कल्पनावाद का उद्देश्य है। सूफियों ने भारतीय वेदान्त से 'प्रतिबिम्बवाद' नामक सिद्धान्त को ग्रहण किया था, यह कहा जा चुका है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए उन्होंने एक ऐसे नित्य लोक की कल्पना की थी, प्रत्यक्ष जगत् जिसका प्रतिबिम्ब है। इंग्लैण्ड के रहस्यवादी कवि विलियम ब्लेक (१७५७-१८२७) ने सूफ़ियों से वही आधार ग्रहण कर प्रत्यक्ष जगत् के रूपों, तथ्यों अथवा वस्तुओं को काव्य का आलम्बन न मानकर उनके प्रतिरूप नित्यलोक-गत कल्पित स्वरूपों, तथ्यों और वस्तुओं को आलम्बन माना था। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में जो प्रत्यक्ष और प्रस्तुत में सौन्दर्य न देखकर कल्पित और अप्रस्तुत में ही सौन्दर्य देखने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में कल्पना का यही प्राधान्य है। शुक्ल जी का पक्ष इसके ठीक विरोध में पड़ता है, वे इस बात को नहीं स्वीकार करते कि प्रत्यक्ष और प्रस्तुत रूप ऊपर से आरोपित किसी कल्पना के प्रतिबिम्ब हैं, उनका कहना यह है कि प्रत्यक्ष और प्रस्तुत रूप ही वास्तव में कल्पना में प्रतिबिम्बित होते हैं।

विलियम ब्लेक ने दार्शनिक बर्कले के सिद्धान्तों का सहारा लेकर 'परम-आत्मा' के जोड़ पर 'परम कल्पना' की स्थापना की और मनुष्य की वैयक्तिक कल्पना को उस समष्टि कल्पना के अंग के रूप में घोषित किया। इससे रहस्यवादी, कवियों को दो लाभ हुए—(१) कल्पना परलोक से सम्बन्धित ईश्वरीय विभूति हो गयी, जिसने काव्यगत मूर्त्ताराधन और इन्द्रिय-प्रत्यक्षसिद्धि के संभावित आरोपों से बचने के लिए इसाई कवियों को एक सूक्ष्म आवरण सुलभ कर दिया। (२) उक्त कवियों को दूतदूत, सन्त, महात्मा का स्थान मिला और वे दिव्यदृष्टि-सम्पन्न माने गये।

साम्प्रदायिकता की दृष्टि से ये लाभ मूल्यवान हो सकते हैं, किन्तु 'कल्पना' के इस दैवीकरण के कारण, शुद्ध काव्य की दृष्टि से, अनेक कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं। शुक्ल जी ने परम आत्मा के प्रति 'आभिलाष' के आलम्बनत्त्व का प्रश्न उठाया है। उनका कहना है कि रहस्यवादी उस अगोचर, अभौतिक के प्रति जो अनुराग व्यक्त करता है, वह सच्चा अनुराग हो ही नहीं सकता, क्योंकि अगोचर, अभौतिक का कोई रूप नहीं है और जिसका कोई रूप नहीं है वह आलम्बन नहीं बन सकता। किन्तु यदि थोड़ी देर के लिए इस मिथ्या-अवास्थिति को भी स्वीकार कर लें तो वैसा करने से एक दूसरी कठिनाई खड़ी होती है। शुक्ल जी ने उसे निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है :—

"जब कि काल्पनिक रूप ही वस्तुओं की सार-सत्ता है, ब्रह्म का रूप है, तब अभिलाष का जगह कहाँ रही? अभिलाष तो साक्षात्कार की इच्छा है। वह साक्षात्कार हो ही जाता है। प्रकृति के क्षेत्र में जिसकी हम छाया मात्र देखते हैं, उसे हम कल्पना के मूल रूप में देख ही लेते हैं। भली-बुरी किसी प्रकार की कल्पना मन में आयी कि ईश्वर का दर्शन हुआ।"

तर्क सर्वथा उचित है। रहस्यवादी कवि के लिए जब ईश्वर का दर्शन इतना सुलभ है तब वह परोक्ष सत्ता के विरह में किस प्रकार तड़प सकता है? यदि वियोग-पक्ष को सँभालना है तो आलम्बन के रूप को गोचर और भौतिक बनाना ही पड़ेगा।

अरूप को काव्य का आलम्बन बनाने से, वियोग-पक्ष ही की तरह संयोग पक्ष भी अव्यवस्थित दिखायी पड़ेगा। मान लिया, कवि ने किसी प्रस्तुत वस्तु का वर्णन किया; अब कविता को रहस्यवादी बनाने का उद्देश्य सामने होने के कारण कवि उतने से तो संतुष्ट नहीं होगा; इसलिए उसे अलौकिकता, अस्वाभाविकता आदि का समावेश कर के यह कहने के लिए भूमि तैयार करनी पड़ेगी कि प्रस्तुत वस्तु तो छाया मात्र है, और जो वर्णन उपस्थित

किया गया है वह उस छाया का न होकर उस काल्पनिक, अज्ञात का है जिसकी वह छाया है। इस प्रकार शुक्ल जी के मतानुसार 'मूल आलंबनों को छाया और छाया को मूल आलम्बन बनाने से' काव्य के क्षेत्र में असत्य ही का अधिकार बढ़ सकता है, सत्य का नहीं।

'प्रतिबिम्बवाद' के आधार पर 'कल्पनावाद' की प्रतिष्ठापना की तो सूफ़ियों ही ने. किन्तु उन्होंने 'प्रतिबिम्बवाद' के साथ-साथ भारतीय समन्वय-वादियों के 'अभिव्यक्तिवाद' को भी अपनाया; वे अपने प्रियतम ब्रह्म की छायारूप प्रकृति में, बाह्य जगत् में भी उसका दर्शन करते रहे, बाह्य जगत् में गोचर होनेवाले 'सौंदर्य, ह्रास, औदार्य, प्रेम, क्रीड़ा' आदि के दृश्यों में रमण करने के अनंतर कल्पना द्वारा भी उनका रसास्वादन करते थे। इसी कारण उनके काव्य में विलायती कल्पनावादी काव्य की सी जटिलता और असम्बद्धता प्रवेश नहीं कर सकी।

'कलावाद' 'कल्पनावाद' का बड़ा पक्का साथी रहा है। बद्ध-परिपाटीवाद (Classicism) को मुक्त, प्रवाहित स्वरूप प्रदान करने एवं कल्पना और भाव, दोनों ही की अबाधित प्रगति को मान्यता देने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में आकर जब 'स्वच्छन्दतावाद' (Romanticism) स्वयं भी उन्हीं सिद्धान्तों के विरोध में खड़ा हो गया जिनकी प्रतिष्ठा के लिए उसने जन्म धारण किया था, तब सन् १८६६ में, फ्रांस में, 'कला के लिए कला' सिद्धान्त का उद्घाटन हुआ। इस सिद्धान्त को प्रचलित करनेवाले 'पारने-सियन' कहलाये। लगभग सन १८८० तक योरपीय काव्य पर इनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। विज्ञान पर इनकी बहुत अधिक आस्था थी और ये काव्य को नैतिकता के बंधन से मुक्त करना ही सब से महत्त्वपूर्ण काम मानते थे। ज़ोला, फ्लाडवर आदि लेखक इस सिद्धान्त के पोषक थे। उप-देश और नीति कथन से कला का सुकुमार शरीर भाराक्रान्त न किया जाय; उसकी शोभा और सच्ची उपयोगिता भी इसी में है कि वह अनुचित रूप से प्रभावित होकर अस्वाभाविक न बने—यदि 'कला के लिए कला' सिद्धान्त के प्रचारकगण इतना ही कहते तो यह कोई आपत्तिजनक बात नहीं थी। किन्तु उन्होंने तो यह भी कहना शुरू किया कि कला का सदाचार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अर्थात् यदि किसी कलाकृति को पढ़कर पाठक को दुराचार में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिले तो यह कोई दोष नहीं। इस सिद्धांत का प्रचार यहाँ तक बढ़ा कि सन् १८९१ में इंगलैंड के आस्कर वाइल्ड नामक लेखक ने खुल्लमखुल्ला यह कह दिया कि "कला और आचार के

कलावाद

क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। 'कलावाद' के एक उत्साही प्रचारक श्री जे० ई० स्पिगर्न ने तो अपनी सम्मति प्रगट करते हुए कहा है कि शुद्ध काव्य के सम्बन्ध में सदाचार और दुराचार की बात ही न उठानी चाहिए, उनकी समझ में इस तरह का प्रश्न उठाना वैसा ही होगा जैसे यह कहना कि समत्रिकोण त्रिभुज सदाचारी है और समद्विबाहु त्रिभुज दुराचारी। यदि मनुष्य का हृदय समत्रिकोण त्रिभुज अथवा समद्विबाहु त्रिभुज की तरह कागज अथवा पृथ्वी पर अंकित रेखाओं की भाँति ही स्पन्दन-हीन होता तो उनकी यह बात कुछ विचारणीय भी हो सकती थी। अपने वर्त्तमान रूप में तो वह यही प्रगट करती है कि पाश्चात्य साहित्यिक विचार-धारा किस प्रकार संकुचित होकर काव्य का अङ्ग-भङ्ग कर रही है और मानव-जीवन को विकास की ओर ले चलने के स्थान में उसे ऐसे गर्त्त में गिराने का उपाय कर रही है जिसमें वह एक विकृत बुद्धि-विशिष्ट पशु से अतिरिक्त अन्य कुछ न रह जायगा।

कला-सम्बन्धी इस विचार-धारा ने केवल रचनाओं को प्रभावित किया है, वरन रचनाओं की समीक्षा के रूप को भी विकार-ग्रस्त बनाया है। साधारणतया रस, ध्वनि, अलंकार आदि का निरूपण समीक्षा के अंतर्गत माना जाता है। किन्तु क्रोचे का कहना है कि इन सब चीजों का उस समीक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं जिसका उपयोग कला की विवेचना के लिए होता है। वैज्ञानिक अथवा विचारात्मक समीक्षा—जिसे ही वास्तव में शुद्ध समीक्षा कह सकते हैं—को वे कला-विवेचन करनेवाली समीक्षा से पृथक कर देना चाहते हैं। वे केवल उक्ति सौन्दर्य-प्रधान कल्पनात्मक समीक्षा को ही कला निरूपणी समीक्षा मानने के पक्ष में हैं। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का कहना यह है कि समीक्षा का अर्थ ही यह है कि वस्तु अथवा तत्त्व-विशेष पर विचार-पूर्ण दृष्टि डाली जाय, उसके सम्बन्ध में केवल कल्पना अथवा भावना से काम लेना ठीक नहीं। जिन स्पिंगर्न महाशय की चर्चा अभी यहाँ की गयी है, उन्होंने भी समीक्षा के अंतर्गत 'कलावाद' का प्रवेश करते हुए उसको प्रभावात्मक स्वरूप में भी ग्रहण करने की प्रवृत्ति दिखायी है; 'विचारात्मक समीक्षा' के साथ उन्होंने 'भावात्मक समीक्षा' को भी समीक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करने का मार्ग खोला है। यह कार्य उन्होंने एक बड़े आकर्षक ढंग से किया है—उन्होंने कहा है कि समीक्षा के दो भेद किये जा सकते हैं—(१) मरदानी समीक्षा, (२) जनानी समीक्षा। उनके मतानुसार मरदानी* समीक्षा वह

*The Masculine criticism never at all events is dominated by the object of its studies.—(The New criticism)

है जो अपने अध्ययन के विषय से प्रभावित नहीं होती और जनानी× समीक्षा वह है जो निश्चेष्ट आनन्दातिरेक में मग्न होकर कला के आकर्षण को स्वीकार कर लेती है। आजकल हमारे सभी मान्य विश्वविद्यालयों में जो भावुकता-शून्य व्याख्यात्मक समालोचना प्रचलित है, उसे स्पिंगर्न महोदय मरदानी समीक्षा कहेंगे अथवा जनानी, यह तो ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जहाँ एक ओर उनके द्वारा निर्दिष्ट मरदानेपन का लक्षण, सम्भवतः निर्णयात्मकता, उसमें नहीं है, वहाँ दूसरी ओर 'जनानेपन' का लक्षण भावुकता भी नहीं है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसके रूप में थोड़ी भावुकता का समावेश हो जाने पर 'जनाना' कहकर स्पिंगर्न महाशय बलात् उसे अपनी गोद में ले लेंगे।

काव्य की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता का निर्णय कभी-कभी 'प्रभाववाद' के द्वारा किया जाता है। काव्य को पढ़ने या सुनने से यदि पाठक अथवा श्रोता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है तो कविता अच्छी हो गयी और यदि अच्छा प्रभाव न पड़ा तो रद्दी हो गयी। अच्छा प्रभाव किसे कहते हैं और किसे नहीं कहते, इस वाद में इसके लिए कोई कसौटी काम में लाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती; पाठक का अनुकूल अथवा प्रतिकूल मनोभावने ही यथेष्ट माना जाता है। रचना ही की तरह आलोचना भी प्रभाववादी होती है। इस 'वाद' के अन्तर्गत आलोचना में लेखक के तात्पर्य को समझना तथा उसके गुण-दोष का विवेचन करना आवश्यक नहीं है, आवश्यक है चित्र पर पड़े हुए प्रभाव की पृष्ठभूमि में सम्पन्न समीक्षाकार्य को केवल सुन्दर उक्तियों में सजा कर प्रस्तुत करना, उसे इतना आकर्षक बना देना कि जो कोई उसे पढ़े उससे सहज ही प्रभावित हो जाय और किसी भाव की धारा में प्रभावित होने लगे। छायावादी युग में प्रभाववादी कविताएँ ही नहीं, आलोचनाएँ भी लिखी जाने लगी थीं और उनका विरोध शुक्ल जी को इतिहास × में तथा अन्य निबन्धों में करना पड़ा था।

प्रभाववाद

+ The Feminine criticism responds to the lure of art with a kind of passive ecstacy.— The New criticism.

(१) "इस मत के अनुसार समालोचना एक व्यक्तिगत वस्तु है * * प्रभाववादियों की बात लें तो समालोचना कोई व्यवस्थित शास्त्र नहीं रह गया। वह एक कला की कृति से निकली हुई दूसरी कला की कृति, एक काव्य से निकला हुआ दूसरा काव्य ही हुआ।" —[इति० पृ० ५७१

(२) कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचन द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना भिड़ाने से नहीं। —[चि० भा० २, पृ० २११

फ्रांस में सन् १८८५ में 'प्रतीकरहस्यवाद' नामक एक साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। सन् १८६६ में फ्रांस में ही 'कला के लिए कला' के सम्बन्ध में चल चुका था। योरप में तत्कालीन अधार्मिक प्रवृत्तियों की वृद्धि तथा कला-सम्बन्धी उक्त आन्दोलन की प्रगति को रोकने के लिए ही 'प्रतीक रहस्यवाद' का उत्थान हुआ। इसके द्वारा ईसाई संस्कारों और कार्य-प्रणालियों में जागृति आयी। यह कहा जा चुका है कि ईसाई सन्त-महात्मा स्वप्न, समाधि अथवा तुरीयावस्था में अदृष्ट सत्ता से आध्यात्मिक सन्देश प्राप्त किया करते थे, जो मनुष्य की परिमित शक्ति के कारण धुँधले, अस्पष्ट रूप में ही ग्रहण किये जा सकते थे। सीधी बात सीधे ढंग से कह देने से भक्तों और विश्वासियों पर यथा-वांछित प्रभाव नहीं पड़ सकता था, इसलिए प्राप्त ज्ञान को वे रूपकों, पहेलियों आदि में अन्तर्हित करके व्यक्त किया करते थे। इसके लिए वे रूपकालंकार सम्पन्न कथाओं की रचना करते थे तथा प्रस्तुत सामान्य बातों के लिए भी अप्रस्तुत संकेतों को प्रयोग में लाते थे। इस शैली से अभिव्यक्ति आकर्षक हो जाती थी। भारतीय वेदान्त का प्रतिबिंबवाद सूफ़ियों के माध्यम से योरप पहुँच चुका था और वहाँ यह धारणा बद्धमूल हो रही थी कि जगत् किसी अज्ञात, अदृष्ट सत्ता का प्रतिबिम्बित स्वरूप मात्र है। 'प्रतीक रहस्यवाद' में जो अप्रस्तुत योजना की जाती है उसे 'प्रतिबिम्बवाद' से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और काव्य के क्षेत्र में भी उसने महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया।

प्रतीक रहस्यवाद

वाणी को प्रतीकों से अलंकृत करना मनुष्य की एक साधारण प्रवृत्ति रही है। लाक्षणिक प्रयोगों से भाषा में एक अनुपम लावण्य का संचार हो जाता है। 'उनके मुँह से फूल झड़ रहा है', 'मेरी आँखों के आगे अंधेरा छा गया', 'उसकी नाक कट गयी' आदि वाक्यों का प्रयोग साधारण लोग भी करके क्रमशः मीठी बातों के लिए फूल को, निराशा के लिए अँधेरे को तथा कटी हुई नाक को मान-हानि के प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं। यही प्रवृत्ति जब काव्य में प्रतीकों का उपयोग कराती है तब उसमें भी अनुपम सौंदर्य-सृष्टि सम्पन्न होती है। किन्तु प्रतीकों के द्वारा सरसता-वृद्धि तभी सम्भव है जब काव्य का पाठक अथवा श्रोता भी उनसे उतना ही परिचित हो जितना परिचित स्वयं कवि है। यदि इसमें त्रुटि हुई, अर्थात् यदि काव्य में ऐसे प्रतीकों का प्रयोग किया गया जिनसे श्रोता अथवा पाठक न परिचित हुआ तो यह ऐसा ही होगा, मानों अँग्रेजी में लिखित काव्य केवल हिंदी-ज्ञाता

व्यक्तियों को पढ़ने के लिए दिया गया है या सुनाया जा रहा है। व्यापक भावनाओं, दृश्यों आदि पर आधारित प्रतीकों को पाठक अथवा श्रोता सर्वत्र और सदैव हृदयंगम कर लेता है तथा कवि की विधायिका कल्पना के साथ उसकी ग्राहिका कल्पना सहयोग करने के लिए तत्पर हो जाती है। सूर्योदय ज्ञान के उदय का, रात्रि अज्ञान का, उल्लू मूढ़ का, कोमल प्रेम-गायिका का, वसन्त आनन्द उल्लास के प्रतीक रूप में सर्वत्र और सदैव मान्य रहा है, किन्तु बहुत से ऐसे प्रतीक भी हैं जो देश-विदेश में विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं, उदाहरण के लिए भारत में चातक, फारस में गुलो बुलबुल आदि के नाम मात्र का उच्चारण जिन भावनाओं का उदय कर देता है वे अपने विशिष्ट स्थानों से भिन्न अन्य स्थानों में सरसता लेकर उत्पन्न नहीं होती। भौगोलिक परिस्थितियों की भिन्नता के कारण देश-विदेश के काव्य में विशेष प्रतीकों का उपयोग भी सर्वथा स्वाभाविक है।

किन्तु, 'प्रतीक रहस्यवाद' जिससे हम यहाँ परिचय प्राप्त कर रहे हैं, 'परोक्षवाद' से भी सम्बन्धित हो गया। उसके अनुसार 'महामन' और 'महास्मृति'* की कल्पना की गयी और यह माना गया कि प्रतीकों की सहायता से इन दोनों ही का आवाहन किया जा सकता है। इस वाद के अनुयायियों ने यह प्रचारित किया कि जैसे सूफ़ी महात्माओं में 'हाल आना' प्रचलित है वैसे ही कवियों की प्रतिभा का उन्मेष होता है, अर्थात् जैसे मूर्च्छावस्था में सूफ़ी महात्मा ईश्वर का संयोग प्राप्त करते हैं वैसे ही प्रतिभा-जागरण के काल में कवि भी ईश्वर में लीन हो जाता है। यह कहा गया कि ऐसी अवस्था में वह जो कुछ लिखता है वह भले ही प्रगट रूप में सांसारिक प्रतीकों का वर्णन जान पड़े, किन्तु होता है वह परोक्ष सत्ता के लिए। इस प्रकार जैसे हमारे यहाँ कृष्ण-काव्य × में पाखण्ड फैल गया वैसे ही वहाँ भी मिथ्या भावों की वृद्धि होने लगी। अपने इस परोक्षवाद-समन्वित रूप में 'प्रतीक रहस्यवाद' सर्वथा साम्प्रदायिक हो गया था।

सवेदनवाद

ऐसी रचना जिसमें शब्द के वाद-द्वारा ही कोई चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है, 'संवेदनवाद' के अन्तर्गत मानी जाती है। ऐसी कविता में शब्दों से अर्थ का निकलना गौण है, वाक्य का भी व्याकरण के अनुसार, सुव्यवस्थित बनाने का उद्योग भी उसमें नहीं दिखायी पड़ता। मान लीजिए,

* प्रतीक रहस्यवादियों का सिद्धान्त है कि अनेक मन एक दूसरे में संचरित होकर एक 'महामन' का निर्माण करते हैं।

†प्रतीक रहस्यवादियों के मतानुसार हमारी व्यक्तिगत स्मृति प्रकृति की स्मृति का एक अंग है। प्रकृति की स्मृति उनके द्वारा 'महास्मृति' कही जाती है।

आप को भौंरों के गुंजार का भाव व्यक्त करना है; आप केवल 'गुन्' शब्द कह दीजिए, काम चल जायगा। 'स्वर्ण' कह देने से सूर्य का और 'रजत' कह देने से समुद्र का बोध हो जायगा। 'सरसर' कह दीजिए तो हवा का चलना समझ लिया जायगा, 'दंग' कह दीजिए तो मधुमक्खियों की तस्वीर सामने खड़ी हो जायगी। अमेरिका के एक कवि श्री ई० ई० कमिंग्स महाशय इस काव्यशैली के प्रचारक हैं जो मन पर पड़ने वाले प्रभाव की प्रमुखता पर विशेष बल होने के कारण प्रभाववाद (Impressionism) के अन्तर्गत मानी जाती है। इसकी आलोचना करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है—

"काव्यदृष्टि की परिमिति और प्रतिभा अनावास के तीव्र नैराश्यपूर्ण आकुलता × × । या विलक्षणता और नवीनता दिखाना चाहेगा वह मार्मिक दृष्टिप्रसार के अभाव में सिवा इसके कि नये-नये वादों का अन्ध अनुसरण करे, शब्दों की कलाबाजी दिखाये, पहेली खड़ी करे, और करेगा क्या?"

'मूर्त्तविधानवाद' काव्य में भाववाचक शब्दों का सर्वथा बहिष्कार करके मूर्त्तभावना को प्रमुख स्थान देता है। इसके प्रचारक श्री एफ० एस० फ्लिंट महाशय हैं। 'तारक-जाल में' नामक उनकी पुस्तक, जिसमें उक्त प्रवृत्ति को प्रमुख स्थान मिला, सन १९०९ में प्रकाश में आयी। कमिंग्स महाशय ने भी इस सिद्धान्त को अपना समर्थन प्रदान किया है।

मूर्त्तविधानवाद

'स्वप्नवाद' को एक काव्य सिद्धान्त के रूप में प्रवर्त्तित करनेवाले हैं फ्रायड महाशय। उसके मतानुसार मनुष्य के उपचेतन में अवस्थित वासनाएँ जिस प्रकार स्वप्नों का निर्माण करती हैं, उसी प्रकार कलाओं का (जिनमें काव्यकला भी सम्मिलित है) सृजन करनेवाली कल्पना भी उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करती है। 'वासना' को यदि रचनात्मक स्तर पर देखा जायगा तो वह करुणा ही के किसी न किसी रूप में प्रगट होगी और इसमें संदेह नहीं कि करुणा काव्य की प्राण-स्वरूपा तो है ही, अचल शान्तिमयी समाधि के लिए अन्तर्मुखी होकर स्वप्नों की जननी भी है। किन्तु फ्रायड वासना के रचनात्मक स्वरूप को नहीं लेते; वे उसके भोगोन्मुख, वैयक्तिकता पीड़ित, संहारात्मक रूप ही को ग्रहण करते हैं। इसका कारण यह है कि भौतिकवादी होने के कारण, देह के परे और भी कोई वस्तु है—जिसकी ओर उन्मुख होने के लिए किसी अज्ञात प्रेरणा से वह बाध्य है—इसे समझने की वे कोई आवश्यकता ही नहीं समझते।

स्वप्नवाद

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ जिस स्वप्न की चर्चा की गयी है उसकी प्रकृति उन स्वप्नों के स्वरूप से भिन्न है जो विकृत वासनाओं से विकृत और रोगग्रस्त बने हुए मस्तिष्क में स्थान पाते हैं।

'अभिव्यंजनावाद' 'छायावाद' से लेकर 'स्वप्नवाद' तक उक्त समस्त वादों का जो विवेचन शुक्ल जी ने प्रस्तुत किया है, उसकी एक साधारण संक्षिप्त रूपरेखा पिछले अध्यायों में तथा प्रस्तुत अध्याय में अंकित की गयी है; उस पर दृष्टिपात करने के अनन्तर पाठकों के लिए उस अंतर को हृदयंगम करना कठिन नहीं होगा जो योरपीय काव्य-वाद-प्रवर्त्तकों तथा शुक्ल जी में रहा है और जिसका कारण यही रहा है कि जहाँ शुक्ल जी करुणा तत्त्व की सिद्धावस्था और साधनावस्था को मान्यता देकर चलने-वाले थे, वहाँ न केवल उनके आलोच्य वाद-प्रवर्त्तकों में करुणा-तत्त्व की साधनावस्था को ग्रहण करने की ओर प्रवृत्ति नहीं थी, वरन् उस परम्परा में भी उसका सर्वथा अभाव था जिसने उक्त वाद-प्रवर्त्तकों की साहित्यिक विचार-धारा का विकास और पोषण किया था।

अध्याय २८

शुक्ल जी का वाद-विवेचन—४

यथार्थवाद

'यथार्थवाद' के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचारों में कुछ विलक्षणता रही है। इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि यथार्थवाद अंगरेजी शब्द (Realism) का हिन्दी में प्रचलित अनुवाद है, किन्तु इसके लिए न तो वे 'यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग करते थे और 'वस्तुवाद' का। उन्होंने कहा है कि जिस (Realism) रियलिज्म शब्द के लिए 'वस्तुवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह दार्शनिक भाषा में 'बाह्यार्थवाद' कहलाता है।* परन्तु जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ी है वहाँ उन्होंने 'बाह्यार्थवाद' भी न लिखकर 'यथातथ्यवाद' लिखा है। निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये :—

यथातथ्यवाद

"पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों के द्वारा स्त्रियों की स्थिति आदि कुछ सामाजिक प्रश्न या 'समस्याएँ' तो सामने रखी ही हैं, योरप में प्रवर्त्तित 'यथातथ्यवाद' का वह खरा रूप भी दिखाने का प्रयत्न किया है, जिसमें झूठी भावुकता और मार्मिकता से पीछा छुड़ाकर नर प्रकृति अपने वास्तविक रूप में सामने लायी जाती है।"

ऐसा जान पड़ता है कि 'यथातथ्यवाद' के प्रति शुक्ल जी को कुछ सहानुभूति थी; वे आगे कहते हैं :—

"योरप में जब कला और सौन्दर्य की बड़ी पुकार मची × × × × तब इसकी घोर प्रतिक्रिया वहाँ आवश्यक थी और यहाँ भी 'सौन्दर्यवाद' और 'कलावाद' का हिन्दी में खासा चलन होने के कारण अब आवश्यक हो गयी है[1]।"

यह भी उल्लेख-योग्य है कि शुक्ल जी ने पांडेय श्री बेचन शर्मा 'उग्र' के 'चुम्बन' और 'चार बेचारे' नामक नाटकों को 'समाज के कुत्सित, वीभत्स और काखंडपूर्ण अंशों' के 'चटकीले दृश्य' मात्र कहा है। क्या इससे यह समझा जाय कि मौन ढंग से उन्होंने इन 'चटकीले दृश्यों' की उपयोगिता स्वीकार की है?

---

*चिन्ता० भाग २, पृ० १६६। + इति० पृ० ५५४। १ इति० पृ० ५५५। २ इति० पृ० ५५६, चि० भा० २, पृ० २०२।

शुक्ल जी ने यह भी लिखा है कि काव्य और आचार के सम्बन्ध में इंगलैण्ड के आस्कर वाइल्ड का सन् १८९१ में यह कथन कि "कला और आचार के क्षेत्र सर्वदा पृथक्-पृथक हैं", 'कला कला ही के लिए' 'वाद नामक का एक पुछल्ला है'। दूसरे शब्दों में यह क्यों कहा जा सकता है कि 'कला कला ही के लिए' सिद्धान्त से दुराचार-प्रवृत्ति ने भी प्रश्रय पाया; ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि उक्त दुराचारवाद 'कला-वाद' की प्रतिक्रिया के रूप में आया? प्रतिक्रिया तो सदैव विरोधी दिशा में होती है।

वास्तविक बात यह है कि शुक्ल जी 'यथातथ्यवाद' को 'दुराचारवाद' के रूप में नहीं ग्रहण किया है, उसे 'कला के लिए कला' की प्रतिक्रिया ही माना है। इस सिद्धान्त की दो प्रतिक्रियाएँ हुईं—एक भौतिक धरातल पर तथा द्वितीय आध्यात्मिक धरातल पर। भौतिक धरातल पर जो प्रतिक्रिया हुई उसी को उन्होंने 'रियलिज्म' अर्थात् 'यथातथ्यवाद' माना। आध्यात्मिक धरातल पर जो प्रतिक्रिया हुई वह 'प्रतीकवाद' के रूप में उपस्थित हुई। 'यथातथ्यवाद' को इब्सन, बरनार्ड शा आदि कलाकारों का समर्थन प्राप्त हुआ।

'कला के लिए कला' की विकृतियाँ भी चलती रहीं और ह्विसलर, आस्कर वाइल्ड आदि ने उसे प्रवाहित करके दुराचारवाद के समीप पहुँचा दिया।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा श्री बेचन शर्मा 'उग्र' की रचनाओं को शुक्ल जी ने यथातथ्यवाद' के उदाहरण रूप में देखा है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सदाचार से कला के घनिष्ठ सम्बन्ध का पक्ष दृढ़ता के साथ लिखा है। स्वल्प लाभ से भी संतोष प्राप्त कराने वाला समन्वय का भाव ही उन्होंने ग्रहण किया है। 'यथातथ्यवाद' को यहीं छोड़कर मैं यहाँ यथार्थवाद के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिनसे शुक्ल जी के मन्तव्य को समझने में सहायता मिलेगी।

'यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद'

भावनाओं के क्षेत्र में सौन्दर्य सृष्टि प्रस्तुत करना सदैव कलाकार का अभीष्ट रहा है। उसने यथार्थ परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में आदर्शोन्मुख परिणतियों की कल्पना की है और इस प्रकार जीवन को नित्य नवीन आस्वाद से सम्पन्न किया है। यथार्थ और आदर्श दो विरोधी तत्व नहीं हैं, वे एक सत्य के दो पूरक अंग हैं:—इसी कारण सच्चे कलाकार ने सदैव दोनों ही तत्वों का उपयोग किया है, इनमें से किसी एक का उसने

कभी बहिष्कार नहीं किया है। वास्तव में यदि वह बहिष्कार करे तो उसकी कला ही निष्प्राण हो जायगी।

यथार्थ और आदर्श के स्वरूप को स्थिर करना बड़ा कठिन काम है। एक देश का आदर्श, सम्भव है, अन्य देश में यथार्थ माना जाय। इसी प्रकार एक युग का आदर्श किसी अन्य युग में यथार्थ के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यही नहीं, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए यथार्थ और आदर्श के भिन्न-भिन्न मानदंड हो सकते हैं। इन समस्त परिस्थितियों का अध्ययन करके अपनी कला ने उपकरण जुटाना तथा देश, काल एवं पात्र-गत भिन्नता के भीतर भी जीवन प्रवाह की एकता का दर्शन करना कराना कलाकार का कार्य है।

जीवन प्रवाह

जीवन प्रवाह किसी अनिर्वचनीय अगति में विलीन होने के लिए निरन्तर गतिशील है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वह एक ओर तो अपनी अव्यवहारिकता एवं सुदूरता ही में सिमिट कर संकीर्ण हो जाने वाले आदर्शों को तिरस्कृत करता चलता है, दूसरी ओर यथार्थ के अत्यन्त स्थूल एवं निम्न स्तरों से अपने आपको अक्षत रखकर अग्रसर होता है। यथार्थ यदि पोषक है तो वह उसे आदर्श के रूप में ग्रहण कर लेता है और आदर्श यदि शोषक है तो वह उसे निराहत करके त्याग देता है। जीवन प्रवाह को यथार्थ से घृणा नहीं और आदर्श के प्रति मोह नहीं। उसे तो केवल पोषण से प्रीति है। जिस साहित्य में जीवन प्रवाह का यह स्वस्थ रूप अंकित होता है वह समर्थ और शक्तिशाली साहित्य के रूप में मान्य होता है।

जीवन-प्रवाह का एक ऐसा विकृत रूप भी सम्भव है, जिसमें प्रवाह नहीं, प्रवाह का अभास मात्र पाया जाता है। यथार्थ के शोषक तत्वों की ओर यह सहज भाव से आकर्षित होता है। अव्यवहार्य, संकीर्ण आदर्शों की दुहाई देकर वह एक ओर तो अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता है, दूसरी ओर जीवन प्रवाह के प्रकृत स्वरूप से भागता है। कभी-कभी वह उक्त आदर्शवाद की भर पेट निन्दा भी करता है तथा जीवन-प्रवाह के प्रकृत स्वरूप की प्रशंसा कर के भी उसके अनुरूप स्वयं को नहीं ढालता, वरन पग-पग पर उसके विरोधी आचरण ही की ओर चलता है।

जीवन-प्रवाह का आभास

जीवन-प्रवाह का प्रतिनिधित्व करनेवाले सत्य को ग्रहण करके यथार्थ-

वाद अत्यन्त शक्तिशाली बनता है और वह उस आदर्शवाद को सहज ही धराशायी कर देता है जो जीवन-सम्पर्क के अभाव में ओजहीन, सामर्थ्य-हीन हो जाता है। यह यथार्थवाद समाज के कल्याण का विधायक है, उसके लिए आशीर्वाद स्वरूप है।

किन्तु जब यथार्थवाद जीवन-प्रवाह के आभास मात्र का प्रतिनिधित्व करता है तब मानव-प्रगति के समर्थकों को उससे घबराहट होने लगती है और ऐसा प्रयत्न होने लगता है कि वह मानव-जीवन के पोषक तत्वों को समाविष्ट करके इस योग्य हो जाय कि जीवन प्रवाह का प्रतिनिधित्व कर सके।

वर्तमान युग में हमारा जीवन जिन परिस्थितियों में होकर अग्रसर हो रहा है, उनमें रचनात्मक यथार्थवाद की उपयोगिता निर्विवाद है।

रचनात्मक यथार्थवाद

राजनीति के क्षेत्र में राजत्व, धर्म के क्षेत्र में पौरोहित्य और सामाजिकता के क्षेत्र में सतीत्व विषयक आदर्शों को हमने प्राचीन काल में जिस रूप में ग्रहण किया था वही यदि वर्तमान समय में भी बना रह जाय तो हमारा जीवन एक संकुचित और संकीर्ण घेरे में बंदी हो जायगा। जीवन के विकास और विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि हम राजत्व में निहित निरंकुशता, धर्म में छिपे आडम्बर और सतीत्व को चारों ओर से घेर कर बैठे हुए बहुत से ढोंगों का अन्त करें। निर्जीव, निष्प्राण आदर्शों को छाती से चिपटाये रह कर हम जिस गत्यवरोध के गढ़े में आकण्ठ निमग्न हो गये हैं उसमें ये यथार्थवादी साहित्य ही हमारा उद्धार कर सकता है।

यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि किस प्रकार के यथार्थवादी साहित्य से हमारा कल्याण हो सकेगा। वर्तमान युग में उस यथार्थवाद का स्वरूप कैसा होगा।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जीवन-प्रवाह के प्रकृत स्वरूप को पोषण से प्रीति है, शोषण से नहीं। ऐसे कितने ही तत्व मिलेंगे जो प्रगट रूप में पोषक हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा शोषक हैं, साथ ही ऐसे भी कितने ही तत्व हैं जो प्रकट रूप में शोषक हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा पोषक हैं। इनकी ठीक पहचान करके इनमें से उन्हीं को हमें ग्रहण करना होगा जो हमारे जीवन का पोषण करते हैं, जो उसे गति प्रदान करते हैं, जो उसे रचनात्मक पथ पर ले चलते हैं।

हितकर यथार्थवाद का स्वरूप

यथार्थवाद की जो रूप-रेखा इस समय हमारे हिन्दी साहित्य में दिखायी

पड़ रही है उसमें हमारे जीवन के पोषक तत्वों का उचित संचयन नहीं है।

हिन्दी साहित्य में प्रचलित यथार्थवाद

जीवन की प्रगति तथा उसके प्रसार के लिए अर्थ और काम का जितना उपयोग और उपभोग आवश्यक है उससे कोई भी व्यक्ति वंचित न किया जाना चाहिए। हमारा यथार्थवाद यदि इनसे सम्बन्धित विषमताओं को लक्ष्य करके सम वितरण की व्यवस्था के लिए प्रेम, त्याग, और बलिदान के सिद्धान्त के आधार पर यह आन्दोलन करे तो यथार्थवाद समाज के लिए वरदान रूप सिद्ध होगा। किन्तु क्या हम कह सकते हैं कि वर्तमान काल में हमारे हिन्दी साहित्य में जो उपन्यास, नाटक, काव्य आदि प्रकाश में आ रहे हैं वे सब यथार्थवाद के इसी रचनात्मक स्वरूप की छाप लेकर कार्यशील हुए हैं। खेद है, इनमें से अधिकांश में जीवन प्रवाह को गति प्रदान करने की कामना नहीं है, वरन् जीवन प्रवाह का आभास मात्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है। अपने इस स्वरूप के द्वारा वह हमें जिस दिशा में ले चल रहे हैं उसमें उस विलय की प्राप्ति नहीं होती जो प्रत्येक प्रगति का अर्जित पारिश्रमिक है वरन् उस आत्मसंहारात्मक वृत्ति के दर्शन होते हैं जो मनुष्य को अधिकाधिक मात्रा में बन्धनग्रस्त बनाती है तथा विनाश के गले से लिपटने के लिए उन्मत्त कर देती है: अपनी समस्त समस्याओं का समाधान करके वह हमें निर्वाण प्राप्ति की ओर अग्रसर नहीं करती, वरन् यह शिक्षा देती है कि समाज और व्यक्ति को समस्त रचनात्मक शक्तियों का विघटन, आत्महत्या ही जीवन के सब सुखों की खानि है।

जैसे प्रवाहित नदी और बँधे हुए तालाब को पहचानना कठिन ही है वैसे ही उन्मुक्त, प्रवाहपूर्ण जीवन और जीवन के आभास को पहचानना भी कठिन नहीं है। समुद्र की ओर अनवरत वेग से धावित सरिता में स्नान करने से हमारा शरीर और हमारा चित्त दोनों ही निर्मल हो जाते हैं: इसके विपरीत अपने मल को एकत्र करके बंधनों में घिरे हुए तालाब में स्नान करने से हमारा शरीर और चित्त तो समल बना ही रहता है, साथ ही साथ तालाब का मल भी हमारे ऊपर आक्रमण कर बैठता है। इसी प्रकार शून्य, निर्लिप्त, निरपेक्ष, श्मशान विहारी महासत्य में अपना लय प्राप्त करनेवाले सत्य और खंड सत्य का उद्घाटन जिस साहित्य के द्वारा होता है उसमें स्नान करने से, उसे हृदयंगम करने से मनुष्य को सच्ची जीवनी-शक्ति प्राप्त होती है, सच्चा आनन्द मिलता है। साथ ही सत्य और खंडसत्य का जो आभास किसी निश्चित समाधानकारी उद्देश्य से

हीन होकर अपनी संकीर्णता ही में पूर्णता का अनुभव करने लगता है। उसका सम्पर्क प्राप्त होने से पग-पग पर मृत्यु और विषाद के दर्शन होते हैं। साहित्य यथार्थवादी हो अथवा आदर्शवादी, वह तभी सफल और सार्थक कहा जायगा जब वह हमें जीवन संग्राम में विजयी होने के लिए अधिक समर्थ और अधिक योग्य बनावे। इसके विपरीत किसी भी नाम से प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाला साहित्य यदि हमें आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता में लिप्त बनाता है, जीवन के शोषक तत्त्वों के प्रति हममें आसक्ति उत्पन्न करता है तो पग-पग पर पराजय, निराशा और क्लान्ति देने वाले इस साहित्य को हम असफल और निरर्थक कहने के लिए बाध्य होंगे।

हिंसात्मक साम्यवाद से सम्बन्धित यथार्थवाद

हमारे यथार्थवादी साहित्य ने जहाँ-तहाँ हिंसात्मक साम्यवाद के साथ गठबन्धन करके वर्गविद्वेष और हिंसात्मक भावना को उत्तेजना देना शुरू किया है। साहित्य का उद्देश्य मानव हृदय को निर्मल बनाकर उसमें रचनात्मक भावों का विकास कराना है, रचनात्मक उत्साह और आवेश उत्पन्न करना भी उसका लक्ष्य रहा है: किन्तु दो मिले हुए हृदयों को भ्रम में डाल कर, एक दूसरे से सदा के लिए पृथक् कर देने का काम उसने आज तक किसी भी देश में, किसी भी समाज में नहीं किया। 'जीवन' और 'जनवाद' का नारा ऊँचा करनेवालों से निवेदन है कि वे ऐसा साहित्य प्रस्तुत करें जो मानव-हृदय को गंगा की तरह शुद्ध, सुन्दर, प्रगतिशील बनाने के सामर्थ्य से सम्पन्न हो: द्वेष और वैमनस्य की आग प्रज्वलित करके कहीं वे उन उलझनों में न फँस जायँ जो जीवन-प्रवाह के आभास के साथ सहज ही उत्पन्न हो जाती हैं।

यथार्थवादी साहित्य की रचना में जो लोग प्रवृत्त हों वे इस बात का ध्यान रखें कि जिन मानसिक विकारों की असंयत बाढ़ को सीमित करना अथवा उससे छुटकारा प्राप्त करना मानव व्यक्तित्व का सदैव लक्ष्य रहा है, उसको पोषित करनेवाले साधनों का प्रयोग करके वे लोकप्रियता प्राप्त करने की चेष्टा न करें। क्योंकि ऐसी लोकप्रियता जो सामाजिक विघटन को लेकर अग्रसर होती है, अन्ततोगत्वा बालू की भीत की तरह ढह जाती है। समय अपने कठोर आघात के द्वारा केवल कुरुचि से जीवन प्राप्त करने वाले साहित्य को चकनाचूर कर देता है।

उक्त यथार्थवादी साहित्य का विश्लेषण करके हमें देखना चाहिए कि जिस रचना में हमें अपने दैनिक जीवन की समस्याओं को समझने तथा हल करने के लिए आवश्यक मानसिक उत्साह, शक्ति और उमंग नहीं प्राप्त

हो सकी, उसे लेखक ने किस उद्देश्य से लिपिबद्ध किया। क्या लेखक स्वयं ही विकृतियों में रस ले रहा है, क्या उसे उन कल्पनाओं, विचार-धाराओं और भावनाओं में कोई स्वाद नहीं मिलता जो मानव व्यक्तित्व को निरन्तर अपनी समाधानकारण पूर्णता के लिए संघर्षशील बनाती है। यदि यह प्रमाणित हो जाय कि बात ऐसी ही है तो ऐसे लेखक की कृतियों के संक्रामक प्रभाव से अपनी रक्षा करना पाठक का परम कर्त्तव्य है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

साहित्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी ही सुन्दर वस्तु है। बाह्य जगत के अगणित व्यापारों का मूल खोजते हुए जब हम अन्तर्मन के साये हुए भावों के समीप पहुँचते हैं तो हमारे कौतूहल का पार नहीं रहता। अन्तर्मन के अध्ययन और विवेचन की रोचक प्रक्रिया के साहित्यिक और बौद्धिक मूल्य के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। साहित्य यथार्थवादी हो अथवा आदर्शवादी, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दोनों ही के लिए अलंकार रूप है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह कि क्या कारण है कि यथार्थवादी ही साहित्यकार अपनी रचनाओं में साधारण जन-जीवन में न दिखायी पड़नेवाले विशेष रूप से विकृत चरित्रों को अपनाकर उन्हीं के अन्तर्मन की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं। संसार के अधिकांश महच्चरित्रों के जीवन में भी अन्तर्मन की प्रतारणाएँ प्रचुर परिमाण में विद्यमान रही हैं। उनके जीवन के यथार्थ का उद्घाटन करके यदि उस प्रक्रिया का दर्शन कराया जा सके जिसका स्वाभाविक परिणाम व्यक्ति को महत्व की सीढ़ियों पर चढ़ाने के रूप में प्रकट हुआ, तो उससे प्रगतिशील साधकों को बहुत अधिक सहायता मिल सकेगी। इस सम्बन्ध में क्या हमारे यथार्थवादी रचनाकारों को कोई सन्देह है, अथवा वे इसकी उपयोगिता को नहीं स्वीकार करते। जो हो, मनोवैज्ञानिक अध्ययन में जिन्हें प्रवीणता प्राप्त है उन्हें इस ओर ध्यान देना चाहिए।

उक्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कहीं-कहीं तो स्पष्टतः हानिकारक हो जाता है। ऐसा उन स्थलों में होता है जहाँ असाधारण अपवाद स्वरूप विकृत चरित्रों की मानसिक प्रक्रिया का चित्र अंकित किया जाता है। वहाँ तो ऐसा जान पड़ने लगता है मानो हमारे कीचड़ में धँसते जाते मात्र से सन्तुष्ट न होकर कोई कीचड़ में पत्थर के खड भी फेंक रहा है जिससे हमारा सारा शरीर कीचड़ से भर जाय। उस साहित्यिक उत्कृष्टता, उस बौद्धिक व्यापार का समाज में क्या मूल्य रह जायगा जिसकी सहायता से प्रगति के पुजारी अधः पतित होकर नीचे गिरते तथा औरों को अपने सम्पर्क

से नीचे गिराते जायँगे। इस प्रकार के मानसिक विश्लेषण पर तो रोक लगनी ही चाहिए, साथ ही उस साहित्य को भी प्रोत्साहन न मिलना चाहिए जिसका अनिवार्य अंग होकर वह हमारे सामने प्रस्तुत होता है।

जीवन से सम्पर्क त्याग कर के ही आदर्शवाद दुर्बल बना है और यथार्थवाद उसके द्वारा रिक्त स्थान की पूर्त्ति के लिए कार्यक्षेत्र में आया है। अब कहीं ऐसा न हो कि अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर असफल यथार्थवाद भी भटकता रह कर समाज के सामने एक नयी समस्या खड़ी कर दे। साहित्य के नेताओं को सावधान रहना चाहिए।

———

अध्याय २६

शुक्ल जी का वाद-विवेचन—५

प्रगतिवाद

शुक्ल जी के इतिहास का छठाँ संस्करण सन् १९५० में प्रकाशित हुआ। इस समय तक प्रगतिवाद और प्रगतिशील कविता का हिन्दी साहित्य जगत में प्रचुर प्रचार हो चुका था। किन्तु रहस्यवाद, छायावाद, अभिव्यंजनावाद आदि की समीक्षा के लिए वे जिस प्रकार तत्पर हुए, उस प्रकार प्रगतिवाद की समीक्षा के लिए नहीं हो सके। इसका एक ही कारण हो सकता है और वह यह कि उनके जैसे सहृदय व्यक्ति के लिए प्रगतिवादी साहित्य में कोई आकर्षक विशेषता नहीं मिली। अस्तु।

शुक्ल जी और प्रगतिवाद

यद्यपि निबंध लिख कर शुक्ल जी ने प्रगतिवाद की सुस्पष्ट व्याख्या नहीं की, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उसके सम्बन्ध में अपने विचार ही नहीं प्रगट किये। तुलसीदास के लोकवाद की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि वह उस प्रकार का लोकवाद नहीं था, "जिसका अकाण्ड ताण्डव रूस में हो रहा है।" इससे स्पष्ट है कि सोवियत रूस में प्रचलित लोकवाद के प्रति उनकी धारणा अच्छी नहीं थी। पूँजीपतियों के प्रति विरोध-भाव उग्र रूप में उपस्थित करना प्रगतिवादी साहित्य की एक विशेषता मानी जाती है। अपने इतिहास के उपन्यास-कहानी के प्रसंग में उपन्यासकारों की इस प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है :—

"सामाजिक उपन्यासों में * * * तालुकेदारों के अत्याचार, भूखे किसानों की दारुणदशा के बड़े चटकीले चित्र प्रायः पाये जाते हैं। * * * हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें लेकर ही न चलना चाहिए, वस्तुस्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए। * * * साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उसके इशारों पर ही न चलना चाहिए।"

उक्त पंक्तियों में शुक्ल जी के विचार बहुत स्पष्ट हैं। उनका आग्रह है कि राजनैतिक दलों की चक्की में व्यक्ति पिसता है तो पिसे, किन्तु आनन्द की वर्षा करने वाले साहित्य से उसे आनन्द न सही, कम से कम न्याय तो मिले। यदि वहाँ भी राजनैतिक दलों द्वारा प्रचारित अधूरे सत्य का

बोल बाला रहेगा तो पीड़ित व्यक्ति का एक मात्र शरण-गृह भी अन्यायालय के रूप में परिवर्त्तित हो जायगा। अधूरा सत्य कहाँ है; इसका भी शुक्ल जी ने स्पष्टीकरण किया है† :—

"श्री रामाधारी सिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी आदि कई कवियों की वाणी द्वारा भिन्न-भिन्न आन्दोलन (मजदूर आन्दोलन आदि) प्रतिध्वनित हुए। * * * योरप में जब देश के देश बड़े कल-कारखानों से भर गये हैं और जनता का बहुत-सा भाग उसमें लग गया है तब मजदूर आन्दोलन की नौबत आयी है। यहाँ अभी कल-कारखाने केवल चल खड़े हुए हैं ×× पर मजदूर आन्दोलन साथ लग गया।" × × × 'क्रान्ति' के नाम से परिवर्त्तन की प्रबल कामना हमारे हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रलय की पूरी पदावली के साथ व्यक्त की गयी।"

पं० सुमित्रानन्दन पंत के प्रगतिवादी स्वर से हम शुक्ल जी को चौंकते हुए भी पाते हैं :—

"जो पुराना पड़ गया है, जीर्ण और जर्जर हो गया है * * उसे पंत जी बड़ी निर्भयता के साथ हटाना चाहते हैं। कवि की वाणी में लोकमंगल की आशा और आकांक्षा के साथ घोर 'परिवर्तनवाद' का स्वर भी भर रहा है। गत युग के अवशेषों को ध्वस्त करने का अत्यन्त रौद्र + आग्रह प्रकट किया गया है * * ऐसे स्थलों का देख यह संदेह हो सकता है कि कवि अपनी वाणी को केवल आन्दोलनों के पीछे लगा रहा है या अपनी अनुभूति की प्रेरणा से परिचालित कर रहा है[1]।"

\+ \+ \+ \+

"अतीत के सारे अवशेषों को सर्वथा ध्वस्त देखने की शेषपूर्ण आकुलता का ध्यान भी मनुष्य की स्थायी अंतः प्रकृति के बीच कहीं मिलेगा, इसमें संदेह है[2]।"

पंत जी ने जहाँ प्रगतिवाद का सच्चा प्रतिनिधित्व करने के अभिप्राय से कहीं 'गत संस्कृति के गरल' धनिकों की आसन्न मृत्यु की घोषणा की है, कहीं मध्यवर्ग का 'संस्कृति का दास और उच्च वर्ग का सुविधा का शास्त्रोक्त प्रचारक तथा श्रमजीवियों को लोककान्ति का अग्रदूत आदि कहा है, वहाँ

† पृ० ५३५, ६३६ ‡ इति पृ० ६४६

* गर्जन पर मानव-केशरि !
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ाकर।
छिन्न-भिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर।
—[युगान्त

१. इति० पृ० ७०८। २. इति० पृ० ७११

उनसे शुक्ल जी का उचित मतभेद है और उन्हें बाध्य होकर कहना पड़ा है कि कवि का 'स्वतन्त्र द्रष्टा का रूप' नहीं रह गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगतिवाद के सम्बन्ध में शुक्ल जी का एक निश्चित मत था और वह उनके समीक्षा-साहित्य की संगति ही में था। शुक्ल जी की विचार-धारा में कितना औचित्य है, साहित्य में पीड़ित व्यक्ति ही, वह चाहे जिस वर्ग का हो, स्थान पाने का अधिकारी है और समूह अथवा वर्ग नहीं, पर मनुष्य की शारीरिक भूख-प्यास ही का उपचार करना यथेष्ट नहीं है, उसकी मानसिक भूख-प्यास की शान्ति का भी उपाय आवश्यक—इन सब बातों के सम्बन्ध में यहाँ हमें कुछ और विचार करना उचित है।

शैथिल्य और गत्यवरोध से पीड़ित हिन्दी साहित्य में योरोपीय प्रगतिवाद के प्रवेश ने प्राण-संचार कर दिया है, इसे वे भी स्वीकार करेंगे जो पाश्चात्य विचार-धाराओं के प्रबल विरोधी हैं। उसने समाज के उपेक्षित, दलित वर्ग के प्रति हमारे हृदय में सहानुभूति उत्पन्न की है, हमें एक नवीन आलोक दिखलाया है, एक नवीन दृष्टिकोण से सम्पन्न किया है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, समालोचना आदि साहित्य के समस्त विभागों को उसने प्रभावित किया है। यहाँ पर विचार किया जायगा कि यह प्रगतिवाद सर्वाङ्ग में उपयोगी है या इसमें कुछ कसर भी है।

प्रगतिवाद के दो सिद्धान्त

किसी भी वस्तु के सम्यक् गुण-दोष-विवेचन के लिए यह आवश्यक है कि उसके स्वरूप का हम एक साधारण ज्ञान प्राप्त कर लें। कितनी सीमा तक उसकी अनिवार्य आवश्यकता है, कहाँ उसकी सदोषता का श्रीगणेश हो जाता है, इसे हम तभी समझ सकेंगे।

उक्त प्रगतिवाद प्रधान रूप से दो सिद्धान्तों पर आधारित है—(१) द्वन्दात्मकता, (२) भौतिकवाद। द्वन्दात्मक शैली का प्रकृति के समस्त व्यापारों और रूपों के प्रति यह दृष्टिकोण रहता है कि प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील और प्रगतिमयी है, उसका विकास उसमें अन्तर्निहित विरोधी तत्वों के विकास द्वारा ही संभव होता है और ये विरोधी-तत्व प्रकृति की विरोधी शक्तियों के परिणाम-स्वरूप प्रस्तुत होते हैं। रहा भौतिकवाद, सो उसके सम्बन्ध में प्रगतिवादी आचार्यों के विचार सर्वथा स्पष्ट हैं, वे लोक के प्रत्यक्ष कल्याण का विधान चाहते हैं, मानव के लिए सबसे पहले अन्न, वस्त्र, निवास तथा अन्य लौकिक सुविधाओं की व्यवस्था का आग्रह करते हैं। उत्पादन-साधनों का उपयोग वे इस ढंग से चाहते हैं कि शोषित जनता का शोषण सम्भव न रह जाय, अर्जित सम्पत्ति का विषय वितरण न हो

तथा उत्पादन-कार्य में नियोजित तत्वों में मतभेद न बढ़े।

जहाँ तक द्वन्दात्मकता का सम्बन्ध है, उससे किसी का भी मतभेद नहीं हो सकता, क्योंकि द्वन्द और संघर्ष ही जीवन है; जहाँ द्वन्द का अभाव है वहाँ जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यदि मतभेद संभव है तो वह भौतिकवाद ही के सम्बन्ध में हो सकता है, क्योंकि जिन लोगों की दृष्टि में यह सापेक्ष जगत ही सत्य नहीं है और जो निरपेक्ष सत्य को मन और बुद्धि से अतीत घोषित करते नहीं थकते, उनके गले के नीचे यह बात नहीं उतरेगी कि एक मात्र यह प्रत्यक्ष जगत् ही सत्य है, और इसके अतिरिक्त शेष सब मिथ्या है। भारतीय दार्शनिकों की बात जाने दीजिए, स्वयं योरप के अनेक दार्शनिकों की जिनमें हीगेल, फ्यूरबक आदि का उल्लेख किया जा सकता है—यह विचार-धारा है कि प्रत्यक्ष जगत् हमारी कल्पना की उपज है, कल्पना से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है। जो हो मतभेद की चर्चा में न पकड़कर हमें प्रगतिवादी आचार्यों के मत को समझने ही का उद्योग करना चाहिए। कार्ल मार्क्स को अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। कल्पनावादियों के मत का सर्वथा तिरस्कार कर के वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष जगत ही मानव के मन के द्वारा प्रतिबिम्बित होकर विचार के विभिन्न रूपों को ग्रहण करता है और विचार की इन आकृतियों से भिन्न आदर्श कोई चीज नहीं है। उनके अनुसार प्रकृति एक सुसम्बद्ध, सुसंगठित पूर्णता है जिसमें समस्त वस्तुएँ तथा संघटित व्यापार अन्योन्याश्रित और परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रकृति की दूसरी विशेषता वे यह मानते हैं कि वह निरन्तर गतिमयी और परिवर्तनमयी है जिसमें एक ओर तो किसी वस्तु का उत्थान हो रहा है और दूसरी ओर किसी वस्तु का विघटन और विनाश चल रहा है। विकास के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वह किसी प्राचीन गुणात्मक स्थिति का नवीन गुणात्मक स्थिति में पहुँचना, एक साधारण सीधी अवस्था से एक जटिल, सघन आकार प्राप्त करना मात्र है। वे ब्रह्माण्ड-व्यापी परमात्मा की आवश्यकता को अस्वीकार करके कहते हैं कि विश्व जड़ पदार्थ की प्रगति के नियमों के अनुसार नित्य नवीन रूप में विकसित होता चलता है। उनका कथन है कि यह संसार और इसके समस्त नियम मनुष्य की ज्ञान-शक्ति की सीमा के अन्तर्गत हैं, यह हो सकता है कि अज्ञात बातों की संख्या बहुत बड़ी हो, किन्तु यह संभव नहीं है कि मनुष्य उन्हें ज्ञात न कर सके।

अपनी सुसंगठित विचार-धारा के आधार पर प्रगतिवादी आचार्यों ने मानव की दैनिक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया है। सब से

अधिक उल्लेख-योग्य सफलता उन्हें इस सम्बन्ध में यह मिली है कि उन्होंने मनुष्य की रचनात्मक शक्तियों को अपनी सम्पूर्ण प्रखरता के साथ उद्योगशील, सहयोगपरायण और संगठित होने का अवसर दिया है। इस सिद्धान्त को प्रचलित करके कि जो श्रम नहीं करता उसे भोजन प्राप्त करने का भी अधिकार नहीं है, उन्होंने रचनात्मक और विनाशोन्मुख तत्वों की पहचान का बड़ा सुन्दर साधन प्रस्तुत कर दिया है। अर्थात् हमारे समाज में जो श्रम करने वालों का शोषण कर के जीविका प्राप्त करते हैं, स्वयं किसी प्रकार का श्रम नहीं करते वे ही विनाशोन्मुख हैं और जो शरीर का पसीना बहाकर अपनी रोटी अर्जित करते हैं वे ही रचनात्मक हैं।

श्रम सिद्धान्त पर आग्रह

निस्सन्देह मानव की श्रमिक श्रेणी इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में जिस प्रकार समाज को अन्य शक्तिशालिनी श्रेणियों द्वारा ठगी जाती रही है उसका अंत करने वाला बहुत सुन्दर हल उक्त प्रगतिवाद के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। रचनात्मक श्रम करने वाले श्रमिकों की सरकार बनाने की योजना प्रस्तुत करके प्रगतिवाद ने उन समस्त परिश्रमोपजीवी श्रेणियों के मरण का विधान किया है, जो प्रत्येक परिस्थिति में अपने आप को श्रम से मुक्त रख कर कृत्रिम, विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहती हैं। श्रमिकों के उद्धार के अतिरिक्त उसने युग-युग से पीड़ित नारी की भी मुक्ति का प्रयास किया है, सतीत्व विषयक नैतिक मानों से उत्पन्न विकृतियों के आधार पर मातृजाति के प्रति वंचना का जो जाल बिछाया जाता रहा है उसे भी उसने विफल बनाने का उद्योग किया है। यदि संसार का स्वरूप वही हो जैसा प्रगतिवादी आचार्यों ने उसे समझा है तो प्रगतिवाद को एक सुन्दर सुव्यवस्थित तंत्र, जिसके तर्क सर्वथा उचित ही नहीं अकाट्य जान पड़ते हैं, मान लेने में हमें कोई कठिनाई न हो। सच बात तो यह है कि कभी-कभी हम इस परिणाम पर पहुँचने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि यदि इस प्रकार के किसी तंत्र की परिचालना न की जायगी तो श्रमिक वर्ग एवं नारी-समाज सदैव स्वार्थी और धूर्त व्यक्तियों एवं वर्गों के शोषण का पात्र बनता रहेगा।

कर्म के महत्त्व—विषयक सिद्धान्त की घोषणा सहस्रों वर्ष पूर्व श्रीमद्-भगवद्गीता में की गयी थी—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।

अर्थात् कर्म के द्वारा ही जनकादि ज्ञानी जन ने भी सिद्धि प्राप्त की। लोकसंग्रह को दृष्टि में रखकर ही तुझे कर्म करना चाहिए।

इसी सिलसिले में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को सम्बोधित करते हुए फिर कहते हैं—

उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्याम् कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्तास्यादुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

अर्थात् यदि मैं कर्म न करूँ तो समस्त लोक भ्रष्ट हो जायँ वर्णसंकरत्व की वृद्धि हो जाय और मैं प्रजा का हनन करने वाला होऊँ।

भगवान् कृष्ण की वाणी का मर्म यह है कि जो अपने कर्म्म के सम्बन्ध में प्रमाद करता है, वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर वर्णसंकरत्व को प्राप्त होता है तथा अन्त में मृत्यु के मुख में पतित होता है।

प्रकारान्तर से प्रगतिवाद के प्रचारकों का भी यही मत है, उनका भी यही कथन है कि कर्महीन, श्रमहीन, विलासी, परोपजीवी को मरना ही होता है। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जहाँ गीता की वाणी पुस्तक के भीतर ही पड़ी रह गयी, वहाँ प्रगतिवाद ने समूचे समाज को श्रमसिद्धान्त द्वारा शासित बनाने की व्यवस्था कार्यरूप में परिणत कर डाली। रूस इतना बड़ा देश इसी सिद्धान्त की छत्रछाया में अपना दैनिक जीवन संचालित कर रहा है, श्रमिकों की सरकार ने वहाँ श्रम-विरोधियों का शोषण-प्रयत्न समाप्त कर दिया है।

रचनात्मक श्रम के आधार पर समाज के रचनात्मक और विनाशोन्मुख तत्त्वों की पहचान सहज ही की जा सकती है, इसकी चर्चा की जा चुकी है। इन विनाशोन्मुख तत्त्वों में से कुछ विशिष्ट तत्त्वों पर विचार करना यहाँ आवश्यक है। हम देखते हैं कि ब्रह्माण्डव्यापी परमात्मा के अस्तित्व को प्रगतिवाद ने अस्वीकार किया है, ऐसी अवस्था में परमात्मा पर आधारित समस्त पूजा-पाठ सम्बन्धी अनुष्ठान अनुत्पादक श्रम हो जायगा और उसमें संलग्न होनेवाले सभी लोग विनाशोन्मुख हो जायँगे। जो पूँजीपति अपने कार्यालय के श्रमिकों के श्रम से सम्पन्न अधिकांश लाभ को अपने आधीन कर लेता है, उसकी गणना भी विनाशोन्मुख तत्त्वों में की जायगी। इसी प्रकार जमींदार, तालुकेदार, राजे-महाराजे आदि, जिन्हें अपनी जीविका के लिए इससे अधिक कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता कि श्रमिक वर्गों के शोषण के नये-नये साधनों का वे आविष्कार करें, विनाशोन्मुखतत्त्वों की श्रेणी में सहज ही चले जाते हैं।

विनाशोन्मुख तत्त्वों का निर्धारण

रिशवत लेने वाले सरकारी पदाधिकारी, ब्याज का पहाड़ खड़ा करने वाला महाजन, आँख में धूल झोंकनेवाला व्यापारी सब के सब की गणना विनाशोन्मुख तत्त्वों में की जायगी। यहाँ यह भी कह देने की आवश्यकता

है कि रचनात्मक और विनाशोन्मुख तत्त्वों के बीच में प्रगतिवाद ने प्रबल संघर्ष की अनिवार्यता मानी है। प्रकृति के विविध संघटित व्यापारों के परिवर्तनों में वेगमयी आकस्मिकता का निरीक्षण कर के उसी के आधार पर उसने यह निर्धारित किया है कि सामाजिक क्षेत्र में नवीन गुणात्मक स्थिति उत्पन्न करने के लिए विनाशोन्मुख तत्त्वों के प्रति रचनात्मक तत्त्वों को, श्रमिकों को अनवरत, निष्ठुर और प्रबल संघर्ष करते ही रहना पड़ेगा और यह कार्य तब तक जारी रहेगा जब तक उत्पादन के समस्त साधनों ही पर नहीं, सम्पूर्ण शासन पर श्रमिकों का अधिकार न हो जाय। इस संघर्ष की सफलता के लिए यदि एक ओर रचनात्मक तत्त्वों को असीम त्याग तथा अनन्त और अविचल धैर्य के लिए तैयार रहना पड़ेगा तो दूसरी ओर विनाशोन्मुख तत्त्वों को भी यह समझ लेना होगा कि उन्हें अपने विरोधियों से हृदय को हिला देने वाली, सहृदयता से सर्वथा शून्य अमानवीय व्यवहार भी प्राप्त हो सकता है। विनाशोन्मुख तत्त्वों को या तो शीघ्र से शीघ्र अपनी प्राचीन गुणात्मक स्थिति को भुलाकर नवीन गुणात्मक स्थिति को ग्रहण कर लेना पड़ेगा, श्रम-सिद्धान्त को मान लेना होगा, या इस धराधाम से मिट जाना होगा—प्रेम और समझौते में विश्वास रखने वाले प्रगतिवाद ने उनके लिए उक्त दो मार्गों के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग रक्खा ही नहीं है।

मैं फिर कहना चाहता हूँ कि यदि संसार का स्वरूप ठीक वैसा ही होता जैसा कि प्रगतिवादी आचार्यों ने उसे समझा है तो प्रगतिवाद के इस विधान को पाकर आज हम निस्संकोच कह सकते कि चलो, दलितों और पीड़ितों की समस्या हल हो गयी, पृथ्वी पर दरिद्रता नाम की कोई चीज आज दिखायी नहीं पड़ेगी, मानव मात्र को सुखी बनानेवाला वैज्ञानिक साधन हमें मिल गया।

प्रगतिवाद की दुर्बलता

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले महात्मा बुद्ध ने मानव मात्र की मानसिक शान्ति के लिए एक अलौकिक प्रकाश की खोज की थी, उसके होते हुए भी आज मानव, दीन और दुखी है, क्योंकि उन्होंने अन्न, वस्त्र, निवास तथा अन्य शारीरिक सुविधाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। तो क्या कार्ल मार्क्स द्वारा आविष्कृत प्रगतिवाद किसी ऐसे युग में भी कार्यकारी हो सकेगा जब अन्न, वस्त्र, निवास आदि की समस्याएँ हल हुई रहेंगी तथा फिर उसी प्रकाश को नये सिरे से खोजने की आवश्यकता पड़ जायगी जिसके लिए राजपाट तथा सुन्दरी स्त्री, सब कुछ त्याग कर महात्मा बुद्ध वनवासी हुए थे? थोड़ी देर के लिए यदि यह कल्पना भी कर लें कि प्रगतिवाद-विशिष्ट शासन द्वारा ऐसी विद्याओं का प्रचलन न होने दिया

जायगा जो अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का विकास करती हैं, अन्तरात्मा की बुभुक्षा को जगाती हैं, तो भी क्या यह संभव है कि इन आज्ञाओं की अवज्ञा करने वाले विद्रोही व्यक्तियों का अवतरण न होगा ? केवल लौकिक सुविधाओं के घेरे में सिमट कर बैठ जाने वाली प्रगति तब क्या वास्तविक प्रगति कही जा सकेगी ? क्षितिज में, समुद्र के उस पार अनुपम अरुणिमा के गौरव से मंडित हो कर आने वाली, नव-जाग्रत जिज्ञासा सी कमनीय प्रगतिमयी उषा का स्वागत करने के लिए तब क्या हम खड़े न होंगे ? सच बात यह है कि जीवन-सत्य निरन्तर प्रगतिशील है, यदि आज वह लौकिक सुविधाओं के प्रति आग्रह के रूप में प्रगट होता है तो कल वह उनके प्रति विरक्ति के रूप में भी व्यक्त हो सकता है। निस्संदेह आज का युग-सत्य, अन्न वस्त्र और निवास-व्यवस्था की खोज में है, किन्तु सदैव वह इसी खोज में रत रहेगा, यह नहीं कहा जा सकता। न हम जीवन-सत्य के आज के स्वरूप को अपरिवर्तनीय, अंतिम स्वरूप कह सकेंगे और न भविष्य में प्रस्तुत होने वाले इससे सर्वथा विपरीत स्वरूप को इसका स्थान देने के लिए ही दृढ़ प्रतिज्ञ रह सकेंगे। जीवन-सत्य चंचल वायु की तरह, अस्थिर निर्झर की तरह अनन्त प्रवाहमय है, उसे कारागार में डालने, उस पर नियंत्रण स्थापित करने की यदि हम चेष्टा करेंगे तो उसकी तो कुछ भी हानि नहीं होगी; स्वयं हमीं विवाद और अवसाद में मग्न होंगे, स्वयं हमीं मृत्यु के मुख में पतित होंगे।

मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के प्रवेश ने उसमें शक्ति का संचार किया है, उसे जीवन की वास्तविकताओं से परिचित कराया है। किन्तु मैं इसका विरोध करता हूँ कि वह अंतिम, अपरिवर्त्तनीय, शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार किया जाय। ऐसा करना स्वयं प्रगतिवाद की प्रगतिपरायणता का नाम-निशान मिटाना होगा।

साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिए हितकर जीवन-सत्य को हार्दिकता से आर्द्र बना कर मनुष्य के सामने प्रस्तुत कर देना है।

शाश्वत सत्य भी आवश्यक

समाज के लिए केवल युग-सत्य पर्याप्त हो सकता है, किन्तु व्यक्ति को युग-सत्य के साथ ही साथ वह शाश्वत सत्य भी चाहिए जो समस्त प्रवृत्तियों को, समस्त जिज्ञासाओं को शान्त कर सकता है। समाज के हित के लिए वाद-विशेष के पक्ष में अपने आप को ले जाकर यदि साहित्य सेवा करना चाहता है तो उस व्यक्ति की पीड़ा को भी तो उसे व्यक्त करना पड़ेगा जो संयोग से उक्त वाद की चक्की में अनायास ही पिस जाता है। प्रगति-

वाद ने व्यक्ति को समाज का अंग माना है, इस पर तो किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु उसने इतना ही नहीं किया है, उसने व्यक्ति की सत्ता ही मिटा दी है। विचारणीय यह है कि लौकिक अभावों की अनुभूति से मुक्त होकर यदि कोई व्यक्ति वर्त्तमान युग में भी महात्मा बुद्ध की अन्तरात्मा-गत भूख से व्याकुल होती है तो क्या प्रगतिवादी तंत्र के शासन में उसका जीवित रहना अभिशाप-स्वरूप माना जायगा ?

जो हो, शासन भले ही उक्त व्यक्ति की अवहेलना कर दे, किन्तु साहित्य उसकी अवहेलना करके स्वयं अपने जीवन की सार्थकता से वंचित हो जायगा। यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि समाज के अभावों और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यक्रम और कार्य-नीति में संशोधन करे, किन्तु यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि वह लौकिक सुख-साधन की सीमाओं से आगे अपने को न ले जाय। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लगने वाले प्रतिबन्धों के प्रति अपना विरोधी स्वर ऊँचा करना साहित्य का धर्म्म है, अपने इस धर्म का पालन कर के साहित्य, मानव की वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति में सामंजस्य उपस्थित करता चलता है तथा जब सामाजिक स्वीकृति-जन्य शक्ति से सम्पन्न होकर शासन-पद्धति व्यक्ति पर अत्याचार करने के लिए सन्नद्ध होती है तब वह व्यक्ति के अधिकार की घोषणा करके जीवन-प्रवाह को स्वस्थ प्रगति प्रदान किया करता है। साहित्य के धर्म-पालन की इस प्रक्रिया में कभी बाधा न खड़ी की जानी चाहिए।

साहित्य का उद्देश्य

अन्ततोगत्वा साहित्य का उद्देश्य क्या है ? क्या विषयी राजाओं अथवा कुरुचि-पीड़ित समाज का मनोरंजन-साधन ही उसका परम लक्ष्य है ? नहीं, यह तो साहित्य के उपयोग का विकृत स्वरूप है। तो फिर क्या किसी आन्दोलन का, किसी विचार-धारा का प्रचार करना साहित्य का कर्त्तव्य है ? किसी हद तक औचित्य पूर्वक इस प्रश्न के उत्तर में 'हाँ', कहा जा सकता है। 'किसी हद तक' इन शब्दों का प्रयोग मैं जान-बूझ कर कर रहा हूँ। कारण यह है कि जीवन-समुद्र में कोई भी आन्दोलन, कोई भी विचार-प्रवाह, जो सामयिक परिस्थितियों के वातावरण में जन्म लेता है, किसी प्रकार भी शाश्वत सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। और युग-सत्य को शाश्वत सत्य के सिंहासन पर आसीन करना उतना ही भयावह है जितना शाश्वत सत्य की आराधना में रत होकर युग-सत्य की उपेक्षा करना। स्पष्ट है कि दोनों के कार्य-क्षेत्र और प्रभाव-क्षेत्र का ठीक तौर से निरीक्षण करके उन्हें समन्वित रूप में उपस्थित क नराही साहित्य का परम साध्य है।

अब यहाँ प्रश्न यह खड़ा होता है कि प्रगतिवाद हमारे सामने युगसत्य के रूप में उपस्थित किया गया है अथवा शाश्वत सत्य के रूप में। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जो लोग प्रगतिवाद को युगसत्य के रूप में ग्रहण करते हैं वे भ्रम में हैं, उसके विधाताओं ने वास्तव में उसे चिरन्तन सत्य का स्थान लेने के लिए ही प्रवर्तित किया है। मानव की भूख की समस्या, समाज में आदरणीय स्थान पाने की उसकी कामना चिरन्तन है, अतएव जिस साधन के द्वारा भूख का सफलतापूर्वक निवारण हो एवं श्रमिक को उचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो, उसका शोषण समाप्त हो वह चिरन्तन सत्य का प्रतिनिधि क्यों न माना जाय? यह तर्क सर्वथा समीचीन है।

प्रगतिवाद युग-सत्य नहीं, शाश्वत सत्य के रूप में कल्पित

बौद्ध धर्म मानव की शान्ति की समस्या को हल करने के लिए अवतीर्ण हुआ था। उसने कुछ दूर तक अपने कार्य में सफलता भी पायी। मनुष्य को शान्ति चाहिए और निस्सन्देह उसके सामने शान्ति का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, किन्तु आज प्रगतिवाद के वातावरण में क्या शान्ति के खोजियों से हम यह न कह देंगे कि महाराज, भूख की ज्वाला जब तक न बुझ जायगी तब तक न शान्ति की खोज अच्छी लगेगी और न अहिंसा की भावना ही टिक सकेगी।

सच बात यह है कि आध्यात्मिक प्रक्रियाओं द्वारा मिलनेवाली मन की शान्ति तथा लौकिक सुख-सुविधाओं की व्यवस्था से प्राप्त होने वाली शान्ति एक दूसरे की पूरक मात्र हैं इन दोनों में से कोई भी आत्म-निर्भर नहीं है। यात्रा के श्रम से विकल होकर यात्री क्लान्ति-निवारण के लिए किसी वृक्ष की छाया में बैठ जाता है, जिस समय वह बैठता है उस समय वृक्ष का उपयोग उसे सर्वोपरि रहता है, किन्तु थोड़ी ही देर में शक्ति-संचय कर के वह फिर यात्रा आरम्भ कर देता है। महात्मा बुद्ध द्वारा प्रचारित ज्ञान किसी समय इसी प्रकार का एक पड़ाव था और वर्तमान युग में मार्क्स और ऐंगल्स द्वारा प्रतिष्ठापित प्रगतिवाद भी इसी प्रकार के एक पड़ाव के रूप में लिया जाना चाहिए, पूर्णसत्य का प्रतिनिधित्व न बौद्ध धर्म ने किया और न आज के प्रगतिवाद में यह शक्ति है कि वह उसे सम्पादित कर सके। हमारे साहित्य का यह धर्म है कि प्रगतिवाद से मिलने वाली सम्पूर्ण शक्ति को वह ले ले, किन्तु उसकी अपूर्णता को पूर्णता के रूप में घोषित करने का प्रमाद न करे।

शान्ति के दो रूप भौतिक और आध्यात्मिक

खण्ड जीवन-सत्य के सेवन से, अर्थ और काम की उचित उपलब्धि से साधारण तृप्ति का अनुभव करके मानव यदि उसे ही सत्य का सार्वभौम और सर्वकालीन स्वरूप मान भी लेना चाहे तो यह संभव नहीं है कि उसकी यह मान्यता अजर और अमर बनी रह जाय। कालान्तर में उसके अतृप्त अंतरतम से एक पुकार उठेगी और उसकी संवेदनशीलता, चिन्तनशीलता को कारागार से मुक्त एवं नव उद्दीपन-प्रेरित बना कर उसे उस व्यापक सत्य की खोज करने के लिए उत्साहित करेगी जो अगणित खंडों में विभक्त नहीं है, जो भूत, वर्तमान और भविष्य के बंधनों से मुक्त है, जिसमें एक ओर तो व्यक्तित्व का विस्फोट होता है और दूसरी ओर उसी विस्फोट की पुनर्वार सम्पन्नता के उद्देश्य से प्रत्येक अभिव्यक्ति का विलय भी अनिवार्यता प्राप्त करता है। पूर्ण सत्य को स्मृति बनाये रख कर यदि हम अपूर्ण प्रतिक्रियात्मक खण्ड-सत्यों की उपासना में लगेंगे तब तो कोई क्षति नहीं होगी, किन्तु यदि घर का याद को भुलाकर राही पड़ाव ही में रह गया तो आगे चलने की प्रेरणा देनेवाली शक्ति का ही लोप हो जायगा, जिसके कारण विशेष हानि होना निश्चित है।

खण्ड जीवन-सत्य की सीमाएँ

बौद्ध धर्म के रूप में व्यक्त होने वाले विद्रोह के पूर्व, तथा उस विद्रोह को औचित्य और सार्थकता प्रदान करने वाली, वैदिक धर्म के अन्तर्गत कर्मकाण्डानुमोदित अतिशय, अमर्यादित हिंसा-प्रवृत्ति की वृद्धि के भी पूर्व भारतीय वाङ्मय ने पूर्ण सत्य और खण्ड सत्य के मध्य में सामंजस्य उपस्थित कर के उसी के द्वारा अनुशासित जीवन-विधान प्रस्तुत किया था। एकांगी प्रवृत्तियों के विकास ने उसे जिस प्रकार शक्तिहीन बनाया उसके लम्बे इतिहास की चर्चा में न प्रविष्ट होकर इतना ही कथन यथेष्ट होगा कि उसकी रक्षा के प्रति प्रबलतम आग्रह तुलसीदास कृत रामचरितमानस में सुरक्षित है। सूरदास की वाणी में भी उक्त समन्वित सत्य का आश्रय मिला है, किन्तु आगे रीतिकाल में केवल स्वल्पप्राण खण्ड सत्य ही हमारे हाथ में रह गये हैं। रहा आधुनिक काल सो उसकी तो बात ही निराली है। भारत द्वारा आविष्कृत समन्वित सत्य के ज्ञान से सर्वथा अप्रभावित रहकर हमने अपने रिक्त मानस-घट को औरों के साधना-जल से ही भर कर सन्तुष्ट हो जाने का निश्चय कर लिया है। योरोपीय प्रगतिवाद की विचार-धारा के आकर्षण में पड़कर हमने भारतीय प्रगतिवाद के प्रकृत-स्वरूप को भुला दिया है—वह स्वरूप जिसमें समस्त पक्षों, समस्त वादों का समन्वय विद्यमान है, जिसमें एक

भारतीय प्रगतिवाद

और बौद्ध धर्म की अहिंसा विद्यमान है तो दूसरी ओर योरोपीय प्रगतिवाद की रचनात्मक हिंसा का भी बहिष्कार नहीं है। यह परिस्थिति चिन्ताजनक है।

जो हो, हिंदी के साहित्यकारों को अपने समस्त विवेक की सहायता से एक निर्णय कर लेना है—वे योरोपीय प्रगतिवाद को साहित्य की शक्ति-वृद्धि के एक साधन के रूप में ग्रहण करेंगे अथवा उक्त प्रगतिवाद के प्रचारार्थ साहित्य को एक माध्यम बनायेंगे, मैं उन्हें सावधान कर देना चाहता हूँ कि अपूर्ण सत्य की आराधना में लगनेवाला साहित्य स्वयं ही अपूर्ण और शक्तिहीन हो जायगा। इसके अतिरिक्त ऐसे साहित्य से पाठकों पर जो प्रभाव पड़ेगा और उनमें जो भ्रांतियाँ उत्पन्न होंगी उनसे भी समाज की हानि तो अवश्य ही हो जायगी। उदाहरण के लिए चमार को रचनात्मक तत्व और ब्राह्मण को विनाशोन्मुख तत्व का प्रतिनिधि मानकर ब्राह्मण के मुख में चमार के द्वारा हड्डी ठूँसी जाने के कार्य-सम्पादन से रचनात्मक तत्व का उत्थान कम तथा विनाशोन्मुख तत्वों का मरण और भी कम देखने में आ रहा है। इन दोनों ही के खण्डों में वास्तविकता जो सामने उपस्थित हो रही है यह है कि ग्रामीण जीवन की एकता नष्ट हो रही है और जिस हार्दिकता के साथ दोनों ही का सहयोग निरन्तर चलता जा रहा था उसकी समाप्ति हो रही है। जिस देश का सामाजिक संगठन अहिंसा और हिंसा के समन्वय पर आधारित रहा है और जहाँ मानव के मानसिक धरातल पर प्रेममूलक विचारधाराओं की तहें जमती रही हैं वहाँ के निवासियों को एकाएक हिंसा का पाठ पढ़ाना संकट से शून्य नहीं है। ऐसी अवस्था में हिन्दी के साहित्यकारों से मेरा अनुरोध है कि बहुत सतर्कता के साथ वे योरोपीय प्रगतिवाद के सिद्धान्तों का प्रयोग भारतीय सामाजिक परिस्थितियों में करें। यथाशक्ति भारतीय प्रगतिवाद के सिद्धान्तों के साथ उन्हें समन्वित कर लें तथा भारतीय विचारधारा का सर्वथा तिरस्कार करके उन्हें आवश्यक सामंजस्य के बिना कभी स्वीकार न करें।

अन्त में योरोपीय प्रगतिवाद के प्रति मैं फिर अपनी श्रद्धा प्रगट करता हूँ किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं उसे पूर्णरूप से निर्दोष नहीं मानता और न यही छिपाना चाहता हूँ कि मैं भारतीय प्रगतिवाद को अधिक रचनात्मक, अधिक शक्तिपूर्ण, अधिक संजीवनप्रद और पूर्ण सत्य के अधिक निकट मानता हूँ।

———

अध्याय ३०

शुक्ल जी का वाद-विवेचन—६

भारतीय विविधवाद

हम यह देख चुके कि योरोपीय काव्य-मतों के प्रवर्त्तन के मूल में जो विचारधारा कार्यशील रही है, वह साम्प्रदायिक अथवा एकाङ्गी जीवन-दर्शन से प्रभावित थी। अब हमें यहाँ यह समझने

भारतीय काव्य-सिद्धान्त

की आवश्यकता है कि भारत में समय-समय पर जो विभिन्न काव्य-सिद्धान्त प्रचलित हुए, उनकी क्या स्थिति थी और शुक्ल जी कितनी दूर तक उनके समर्थक अथवा विरोधी थे। यह कहा जा चुका है कि रस-मत के अतिरिक्त यहाँ चार अन्य काव्य-मतों का भी प्रचार हुआ—(१) अलंकार-मत; (२) रीति-मत; (३) वक्रोक्ति-मत; (४) ध्वनिमत। इन सभी मतों ने अवसर पाकर सम्पूर्ण काव्य पर अपना ही अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया—अलंकारवादियों ने कहा कि जहाँ अलंकार नहीं, वहाँ काव्य का निवास हो ही नहीं सकता, रीति-मतावलम्बियों ने कहा कि रीति ही काव्य की आत्मा है, वक्रोक्ति के समर्थकों ने घोषित किया कि वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है, इसी प्रकार ध्वनिवादियों ने आग्रह किया कि जिस काव्य में ध्वनि नहीं, वह काव्य नहीं कहा जा सकता।

अलंकार-मत के प्रवर्त्तक भामह, उद्भट आदि ने अपनी सर्वग्रहण-शीलता के उत्साह में रस-मत को भी उदरस्थ कर लेना चाहा; रसवत, प्रेयस और ऊर्जस्वित नामक अलंकारों का

अलंकार मत

निर्देश कर उन्होंने उसे अपने घेरे के भीतर ही खपा लेने का प्रयत्न किया। उन्होंने रस पर ही नहीं, रीति, वक्रोक्ति, गुण आदि सब पर अपना अधिकार बढ़ा कर समस्त काव्य का प्रतिनिधित्व अलंकार को ही देने का प्रयास बढ़ाया। रुद्रट और मम्मट इस अस्वाभाविक परिस्थिति का अन्त करने के लिए सामने आये। उन्होंने अलंकार को साध्य नहीं माना, उसे काव्य-सौन्दर्य के एक साधन के रूप में ही स्वीकार किया। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अलंकार

और अलंकार्य की भिन्नता की बहुत स्पष्ट रूप से व्याख्या कर दी। शुक्ल जी ने अलंकार के सम्बन्ध में रुद्रट, मम्मट और विश्वनाथ को ही मान्यता दी है। उन्होंने अलंकार को 'वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियों, कहने के खास-खास ढंग' के रूप में ही ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए, वे बालकों की क्रीड़ा, चीते की पूँछ पटक कर झपटने की प्रवृत्ति, हाथी की पेड़ से गंडस्थल रगड़ने की क्रिया को अलंकार न मान कर अलंकार्य ही मानते हैं; किन्तु इन्हें अलंकारवादी स्वभावोक्ति[1] अलंकार के अतर्गत कर लेना चाहते हैं।। जैसे स्वभावोक्ति को, वैसे ही 'उदात्त'[2] और अत्युक्ति[3] को भी शुक्ल जी अलंकार[4] नहीं मानते।

अलंकार-मत

वस्तुमात्र के सीधे-सादे वर्णन अथवा स्वभावोक्ति में भामह ने काव्यत्त्व को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने वक्रोक्ति ही में काव्य की संभावना देखी और उसे अलंकार का मूल माना। दंडी ने भी कहा कि वक्रोक्ति के बिना काव्य असम्भव है। ईसवी दशवीं शताब्दी के अनन्तर वक्रोक्ति-मत की बड़ी प्रगति हुई और आचार्य कुन्तक ने उसे सम्पूर्ण काव्य का प्रतिनिधि बना डालने का हौसला किया, ठीक वैसे ही जैसे अलंकारवादियों ने किया था।

---

१ स्वभावोक्ति का उदाहरण—

मैया मैं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल फिरावत मो सों, मेरे पाइ पिराइ।

—सूरदास

२ उदात्त का उदाहरण—

बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मानहुँ कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित सुन्दर नारि नर सिसु जरठ जे।

—तुलसीदास

३ अत्युक्ति का उदाहरण—

जाचक तेरे दान ते, भये कल्पतरु भूप।

महाराज जसवन्त सिंह

४. "अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत ला सकते हैं। किसी वस्तु विशेष से किसी अलंकार-प्रणाली का सम्बन्ध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। किन-किन वस्तुओं, चेष्टाओं या व्यापारों का वर्णन किन-किन रसों के विभावों और अनुभावों के अन्तर्गत आयेगा, इसकी सूचना रस निरूपण के अन्तर्गत ही हो सकती है।

—[चि० भा० १ पृ० १८३

आचार्य कुंतक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रंथ लिखकर पद की वक्रता, वर्ण-विन्यास की वक्रता, वाक्य की वक्रता तथा प्रबंध की वक्रता का विश्लेषण किया। शुक्ल जी ने उक्ति की इस वक्रता को वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक उसके मूल में किसी तीव्र भाव[1] की प्रेरणा विद्यमान रहती है। जहाँ वक्रोक्ति भाव से अपना सम्बन्ध तोड़ देती है अथवा किसी हृदय की मर्मस्पर्शी वृत्ति से सम्बन्ध जोड़कर नहीं चलती, वहाँ उसे शुक्ल जी का अनुमोदन नहीं प्राप्त हो सकता। वहाँ वे उसके उतने ही विरोधी हैं जितने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद' के, जिसकी चर्चा की जा चुकी है। इस सिलसिले में शुक्ल जी से डाक्टर नगेन्द्र के थोड़े से मतभेद की चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा।

शुक्ल जी ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक अपने निबन्ध में कहा है :

"अभिव्यंजनावाद किस प्रकार व्यंजन-प्रणाली की वक्रता और विलक्षणता पर ही जोर देता है, यह हम देख चुके। यह हमारे यहाँ का पुराना 'वक्रोक्तिवाद' ही है, यह भी हम निरूपित कर आये।"

इसके विरोध में डाक्टर नगेन्द्र का कथन इस प्रकार है :—

"इन दोनों में ('अभिव्यंजनावाद' और 'वक्रोक्तिवाद' में) कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात् क्रोचे को किसी प्रकार भी कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा। × × × वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध उक्ति की वक्रता से है, 'अभिव्यंजना, वाद' का केवल उक्ति से × × × 'अभिव्यंजनावाद' में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। 'वक्रोक्तिवाद' अलंकार को लेकर चला है, 'अभिव्यंजना वाद' में उसकी सत्ता ही अमान्य है। 'वक्रोक्तिवाद' में वस्तु की उक्ति से पृथक् सत्ता मानी गयी है, परन्तु 'अभिव्यंजनावाद' वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है। 'वक्रोक्तिवाद' कला के मूर्त्त रूपों पर ही केन्द्रित है, अभिव्यंजनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक प्रक्रिया को ही सब कुछ मानता है। अभि-

---

१ भाव-प्रेरित वक्रोक्ति का एक उदाहरण—

रंग-रूप-रहित लखात सब ही हैं हमैं
वैसो एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा।
कहै रतनाकर जरी हैं बिरहानल मैं
और अब जोति कौं जगाइ जरिहैं कहा।
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।
एक ही अनंग साधि साध सब पूरौं अब
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा।

—उद्धवशतक

द्वितीय अवतरण की पंक्तियों के सम्बन्ध में वे कहते हैं :—

"शुक्ल जी का यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इसमें दो त्रुटियाँ हैं—एक तो उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है, यह व्यंग्यार्थ नहीं रहा, वाच्यार्थ हो गया—औत्सुक्य की व्यंजना ही चित्त की चमत्कृति का कारण है, उसका कथन नहीं। दूसरे, जिस अनुपपन्नता पर वे इतना बल दे रहे हैं, वह रमणीयता का कारण नहीं है, उसका एक साधन मात्र है।"

इन दोनों अवतरणों में डा० नगेन्द्र ने जो बात कही है, उसका सारांश इस प्रकार है :—

(१) सम्बन्धित पंक्तियों के वाच्यार्थ में रमणीयता नहीं है, उनके व्यंग्यार्थ ही में रमणीयता है।

(२) व्यंग्यार्थ को जिस रूप में शुक्ल जी ने उपस्थित किया है (उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है) वह व्यंग्यार्थ न होकर वाच्यार्थ ही है, क्योंकि उसमें औत्सुक्य की व्यंजना नहीं है, औत्सुक्य का कथन मात्र है।

(३) वाच्यार्थ की अनुपपन्नता रमणीयता का कारण नहीं है, उसका एक साधन मात्र है।

डा० नगेन्द्र ने अपने कथन में उद्धृत काव्य-पंक्तियों के वाच्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य वाच्यार्थ का भी निर्देश किया है (उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है—जिसे शुक्ल जी ने काव्य-पंक्तियों के अनुपपन्न वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ कहा है)। थोड़ी देर के लिए हम यह माने लेते हैं कि 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है'—यह वाच्यार्थ ही है। तो इस समय हमारे सामने दो वाच्यार्थ उपस्थित हैं—(१) उद्धृत काव्य-पंक्ति का; (२) उर्मिला की अत्यन्त उत्सुकता का। अब हम यह देखेंगे कि उद्धृत काव्य पंक्तियों के वाच्यार्थ में अपनी विरोधाभास-चमत्कार की शक्ति के अतिरिक्त अपने लिए, अनुपपन्नता-निवारणार्थ व्यंग्यार्थ प्राप्त करने की क्षमता भी है। उक्त वाच्यार्थ से ही उक्त व्यंग्यार्थ की उत्पत्ति हुई, ऐसी अवस्था में यदि व्यंग्यार्थ में रमणीयता का निवास माना जाता है तो यह कैसे सम्भव है कि वह उसके मूल वाच्यार्थ में न विद्यमान हो ? जिस मूल की प्रगति शाखा को प्रस्तुत कर सकी, क्या यह कहा जायगा कि उसमें शाखा, पल्लव, फूल और फल का सौन्दर्य बीज रूप में निहित नहीं है ? भले ही पल्लव और पुष्प में रमणीयता दिखायी पड़ती है, किन्तु समस्त रमणीयता का निवास मूल ही में माना जायगा। यही बात व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ के सम्बन्ध में समझनी चाहिए, अर्थात् यद्यपि रमणीयता, काव्यत्व व्यंग्यार्थ में दिखायी पड़ता है

तथापि उसका अधिवास वाच्यार्थ ही में मानना उचित होगा। रहा दूसरा वाच्यार्थ, सो वह तो उस रूप में काव्य की कोटि में पहुँचता ही नहीं। वह तो एक इतिवृत्तात्मक कथन मात्र होकर रह जाता है।

डा० नगेन्द्र के कथन के प्रथम और द्वितीय अंश के सम्बन्ध में इस संक्षिप्त उल्लेख के अनन्तर जब हम तृतीय अंश को देखते हैं तो यह कहना आवश्यक हो जाता है कि वास्तव में वाच्यार्थ की अनुपपन्नता ही तो हमारा ध्यान लक्षणा अथवा व्यंजना की ओर ले जाती है, वह न हो तो इन दोनों में से किसी की पूछ ही न हो, ऐसी अवस्था में वाच्यार्थ का सहायक मात्र होकर व्यंग्यार्थ उस रमणीयता को झलका देता है जो वास्तव में थी तो वाच्यार्थ ही में, किन्तु उसकी दुर्बलता के कारण व्यक्त नहीं हो सकी थी। अस्तु।

उक्त काव्य-मतों में अब केवल रीतिमत (ई० ६००-७००) के प्रति शुक्ल जी की धारणाओं की चर्चा शेष रह गयी है। अभिधार्थ ही को अधिक महत्व देने तथा गुणयुक्त एवं दोषशून्य पदावली की विशेषता से मंडित होने के कारण शुक्ल जी की स्वीकृति के पास आ कर भी रीति-मत इस त्रुटि के कारण स्वीकृत नहीं हो सका कि वह रीति ही को काव्य की आत्मा मानता है। आचार्य वामन द्वारा प्रतिष्ठापित इस मत का उत्कृष्टतम रूप वह था जिसमें उसने ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों को तो धारण किया ही था, साथ ही, 'कान्ति' के अन्तर्गत रसों को भी समेट लेना चाहा था। किन्तु अपने उस रूप में उपस्थित होकर भी रीतिमत शुक्ल जी के काव्य-सिद्धान्त का स्थान नहीं ले सका। उन्होंने मनोहर उक्ति को, व्यंजक वाक्य ही को निस्सन्देह काव्य माना, किन्तु साथ ही व्यंजित अथवा लक्षित अर्थ की ओर ध्यान देना भी आवश्यक समझा। उनके मतानुसार व्यंजना अथवा लक्षणापूर्ण वाक्य का व्यंग्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के साथ संघटन होना अत्यन्त आवश्यक है। काव्य में रीति का विधान वे वहीं तक उचित समझते हैं जहाँ तक उसकी सहायता से शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न हो जाय। शृङ्गार, करुण, शान्त आदि ऐसे रस हैं जिनमें कोमल, सुकुमार शब्दों के प्रयोग से परिपाक में अधिक सहायता प्राप्त हो सकती है; इसी प्रकार वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों में कठोर, ओजपूर्ण शब्दों का प्रयोग वांछनीय हो सकता है। किन्तु, शुक्ल जी का कथन इनके सम्बन्ध में यह है कि इन्हें ही साध्य न समझ लिया जाय, इनसे केवल साधन के रूप में काम लेना

रीतिमत

चाहिए। ललित पदावली और छंद-प्रवाह में निहित संगीत-तत्त्व की उपयोगिता, काव्य के सहायक रूप में, उन्होंने स्वीकार की है, किन्तु उनका आग्रह है कि अंगद की तरह पैर गड़ाकर हम वहीं अचल न हो जायँ।

शुक्ल जी के जिस मूल तथा जिन सहायक सिद्धान्तों का निर्देश पिछले अध्यायों में किया जा चुका है, उन्हें ध्यान में रख कर हम विचार करेंगे तो देखेंगे कि विभिन्न भारतीय और अभारतीय काव्यवादों के प्रति अन्य कोई मत रखना उनके लिए सम्भव नहीं हो सकता था। साधारण से असम्बद्ध होकर तथा रागात्मिका वृत्ति के विकास में सहयोग न देकर, लोक के प्रति करुणा-तत्व के प्रवाह में असमर्थता दिखाकर कोई भी काव्य सिद्धान्त शुक्ल जी को संतोष नहीं दे सकता था। उनका अभिलषित समाधान केवल रस-सिद्धान्त में प्राप्त हुआ।

आगे शुक्ल जी की व्यावहारिक समीक्षाओं पर दृष्टिपात किया जायगा।

अध्याय ३१

हिन्दी साहित्य का इतिहास—१

प्रयोजन और काल-विभाजन

आलोचना-क्षेत्र में तत्पर होने के उद्देश्य से पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने लिए दो मार्ग निकाले—(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करना : (२) ऐसी आलोचनाएँ लिखना जिनसे सूरदास, मलिक मुहम्मद जायसी तथा तुलसीदास के अध्ययन के साथ-साथ हिन्दी पाठक को भारतीय भक्ति-मार्ग, रहस्यवाद आदि के सम्बन्ध में उचित प्रकाश प्राप्त हो सके। यहाँ उनके द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य के इतिहास की चर्चा की जायगी।

आरम्भ में हमें यह समझ लेना चाहिए कि हिन्दी साहित्य का इतिहास क्या है, उसका प्रयोजन क्या है; इसके अनंतर ही यह देखा जा सकेगा कि शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत इतिहास कहाँ तक अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल हो सका है; इतिहास के काल-विभाजन की उपयोगिता पर भी तभी हमारी उचित दृष्टि पड़ सकेगी।

हिन्दी साहित्य का इतिहास क्या है ? इस पर विचार करने के लिए हमें 'हिन्दी', 'साहित्य' और इतिहास' इन तीनों शब्दों को पृथक पृथक रूप से समझ लेना चाहिए।

हिन्दी भाषा

(१) संसार भर की समस्त भाषाओं के मध्य में हिन्दी की भौगोलिक स्थिति को समझने के लिए यह स्मरणीय है कि जिन बारह परिवारों में वे विभक्त हैं उनमें से भारत-यूरोपीय परिवार से उसका सम्बन्ध है। इस भारत-यूरोपीय परिवार के दो विभाग हैं—(१) शतम्; (२) केण्टम्। हिन्दी का सम्बन्ध इन दोनों में से प्रथम, अर्थात् 'शतम्' से है। इस 'शतम्' के चार उपकुल हैं जिनमें से एक का नाम है 'भारत ईरानी'। इस भारत-ईरानी उपकुल की तीन शाखाओं में से एक शाखा का नाम है—'भारतीय आर्य भाषा'। हिन्दी इसीके अनेक आधुनिक रूपों में से एक है।

भाषा-वैज्ञानिकों ने भारतीय आर्यभाषा के आरम्भ से लेकर आधुनिक काल तक के जीवन को तीन कालों में विभक्त किया है—(१) प्राचीन काल,

(२) मध्यकाल, (३) आधुनिक काल। प्राचीन काल १५०० पू० ई० (ईसा से पूर्व) से ५०० पू० ई० तक माना गया है; मध्यकाल ५०० पू० ई० से १००० ई० तक तथा आधुनिक काल उसके उपरान्त निर्धारित किया गया है। अपने प्राचीन काल में भारतीय आर्यभाषा प्राचीन आर्यों की साहित्यिक भाषा थी और ऋग्वेद की भाषा के रूप में प्रगट हुई थी। मध्यकाल में उसके तीन रूप दिखाई पड़े—(१) पाली अथवा प्रथम प्राकृत, ५०० पू० ई० से १ पू० ई० तक; (२) साहित्यिक प्राकृत, १ ई० से ५०० ई० तक; (३) अपभ्रंश, ५०० ई० से १००० ई० तक। आधुनिक काल में भिन्न-भिन्न अपभ्रंश भाषाओं से भिन्न-भिन्न भाषाओं का विकास हुआ।

शौरसेनी तथा अर्द्धमागधी प्राकृत से शौरसेनी तथा अर्द्धमागधी अपभ्रंश और शौरसेनी तथा अर्द्धमागधी अपभ्रंशों से हिन्दी के पश्चिमी और पूर्वी समस्त रूपों की उत्पत्ति हुई। हिन्दी के इन सभी रूपों का प्रसार पश्चिम में पंजाब की सीमा तक, पूर्व में अयोध्या तथा काशी तक और दक्षिण में महोबा राज्य तक था। हिन्दी भाषा का रूप अभी अपभ्रंश से निकल कर निखर ही रहा था कि विक्रम की तेरहवीं सदी के मध्य में क्रमशः हिन्दीभाषी समस्त प्रदेश विदेशियों की अधीनता में आ गये।

(२) 'साहित्य' पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने अपने इंदौरवाले भाषण में बताया है कि साहित्य के दो लक्ष्य हैं—(१) अर्थबोध-युक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारमय अनुरंजन; (२) उक्त वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा अथवा व्याख्या। उन्होंने अर्थ के चार प्रकारों का निर्देश किया है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमित, (३) आप्तोपलब्ध, (४) कल्पित। इनमें से 'अनुमित' का क्षेत्र दर्शन, आप्तोपलब्ध का क्षेत्र 'इतिहास' और कल्पित का क्षेत्र काव्य है; यद्यपि भाव अथवा चमत्कार से युक्त होकर इन तीनों ही अर्थों की योजना काव्य के आधार-रूप में हो सकती है। इस प्रकार काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य, निबन्ध, समीक्षा आदि का समावेश साहित्य के भीतर हो सकता है और जब हम 'हिन्दी' और 'साहित्य' दोनों ही शब्दों का एक साथ प्रयोग करते हैं तब उसका अर्थ होता है वह सम्पूर्ण काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य, निबंध, समीक्षा आदि विषयक ग्रन्थ-भंडार अथवा रचना-संग्रह जिसका प्रणयन हिन्दी भाषा के किसी भी रूप के माध्यम से किया गया हो।

साहित्य

(३) साधारणतया इतिहास मनुष्य के उन प्रयासों और संघर्षों का

मूल्याङ्कन करता है जिन्हें वह अपने सामूहिक अथवा राष्ट्रगत जीवन में अपनी सांस्कृतिक उन्नति के अभिप्राय से, अधिकारों की वृद्धि के लोभ से अथवा अपने योग-क्षेम के उद्देश्य से नवीन संस्थाओं और आदर्शों के संगठन के रूप में चलाता रहता है। साहित्य का इतिहास साधारण इतिहास से कुछ भिन्न कार्यक्षेत्र लेकर चलता है। साहित्य का उद्देश्य मनुष्य को उक्त संघर्षों में निरन्तर मिलनेवाली विजय का उल्लासपूर्वक गान करना है, अप्राप्त को पाने तथा अविजित पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्साहित बनाना है; साहित्य का इतिहास साहित्य के इसी कार्य का मूल्याङ्कन करता है, वह यह समझने की चेष्टा करता है कि साहित्य की वाणी कब शिथिल हुई और कब सहज स्फूर्ति तथा उमंग से तरंगित। इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य का इतिहास साधारण इतिहास से कोई सम्पर्क ही नहीं रखता; नहीं, अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष की दिशा में प्रगति के निमित्त निरन्तर किये जाने वाले मनुष्य के उद्योगों को साहित्य की पृष्ठभूमि में रखकर ही वह इसके परिवर्तनशील स्तरों की भिन्नता को हृदयंगम कर सकता है और इस अभिप्राय से वह साधारण इतिहास से भी सहारा लेता है। विक्रम की ग्यारहवीं सदी से आरम्भ होनेवाले हिन्दी साहित्य का यदि कोई इतिहास लिखा जायगा तो इतिहास-लेखक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषी प्रदेशों के निवासी मानव की परिस्थितियों के प्रकाश में साहित्य-सृजन के उत्थान और पतन का मूल्यांकन करे, हिन्दी साहित्य कार कहाँ स्वयं प्रकाश नहीं पा सका है, कहाँ उसके पाँव डगमग हो गये हैं, इसका निर्देश करना भी हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक का धर्म है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

उक्त तीनों बातों पर उचित ध्यान देते ही हिन्दी साहित्य के प्रकृत इतिहास का स्वरूप झलकने लगेगा और यह भी स्पष्ट होने लगेगा कि उसके लेखन-कार्य में सफलता-लाभ के लिए किस प्रकार की तैयारी अपेक्षित है। हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखक को सम्पूर्ण आर्य संस्कृति का ज्ञान होना चाहिए, आर्य संस्कृति की समन्वयात्मक धारा किस प्रकार विभिन्न एकांगी विचार-धाराओं के आघात को सहन करती चली है, इसको परखने का सामर्थ्य उसमें विद्यमान रहना चाहिए, किस प्रकार विश्व-सभ्यता के आदिकाल में ही वह उस करुणातत्त्व से विभूषित हुई जो मनुष्य को मनुष्यता की प्रकृत भूमि पर पहुँचानेवाला राजमार्ग है, जिसे छोड़कर सहस्रों पगडंडियों की भूलभुलैया में पड़कर वह भ्रमण ही करता

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने की योग्यता

रह सकता है, इस मर्म को समझने में उसे सक्षम होना चाहिए। सत्य के किस सोपान तक हम पहुँच चुके थे, कहाँ से पैर फिसला और आज की परिवर्त्तित परिस्थितियों में किस प्रकार हम फिर जीवन-संघर्ष में दृढ़ रह सकेंगे—इसकी झलक ढूँढ़नेवाली दृष्टि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक में न होगी तो वह हमारे साहित्य की शक्ति और दुर्बलता को समझ नहीं सकेगा और न हमें समझा सकेगा। संक्षेप में, उसमें (१) भाषा का ज्ञान, (२) भारतीय सांस्कृतिक इतिहास से परिचय; (३) प्राचीन भारत और ईसवी बीसवीं सदी के भारत में सामंजस्य कहाँ और किस प्रकार हो सकता है, इसका एक स्पष्ट चित्र अपने समक्ष ला सकने की क्षमता, (४) साहित्य-विधियों में पारंगति, (५) अनासक्तिपूर्ण साहित्य-सेवा के द्वारा समाजसेवा की रुचि—ये सभी योग्यताएँ[1] हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक में होनी चाहिए।

मेरी समझ में शुक्ल जी द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का इतिहास ही एकमात्र इतिहास है, जिसमें उक्त सामर्थ्य का प्रायः संतोषजनक दर्शन मिलता है और यह तो निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि जितने भी इतिहास प्रस्तुत हुए हैं उनकी अपेक्षा उसमें वह सब से अधिक सुलभ है। 'प्रायः संतोषजनक' मैं इसलिए कह रहा हूँ कि पच्चीस-तीस वर्षों पहले जिस पुस्तक की रूपरेखा तैयार हुई, वह स्वभावतः आज की समस्त अपेक्षाओं का समाधान नहीं कर सकेगी। अतः शुक्ल जी के इतिहास की निम्नलिखित आलोचना विचारणीय है :—

"शुक्ल जी के इतिहास में सामाजिक परिस्थितियाँ तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक दूसरे से अलग हैं। जिस युक्ति से वे परिस्थितियों से उत्पन्न बताये जाते हैं वह तर्क-संगत प्रतीत नहीं होती, जैसे भक्त कवियों को मुसलमानी शासन से उत्पन्न बताना। युग-विभाजन करने में उनका 'औसतवाद' वाला सिद्धान्त भी इसी अलगाव का परिणाम है और उनके दृष्टिकोण की असंगति को और भी उभार कर रखता है। एक ही परिस्थिति में विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों के अस्तित्व की संगति बैठाने में

१"आज का इतिहासकार भी समाज के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास के प्रति तटस्थ नहीं हो सकता। तटस्थ होकर वह न प्राचीन लेखकों की महान कृतियों का मूल्याङ्कन कर सकता है और न सांस्कृतिक विरासत की रक्षा ही। इसलिए आज साहित्य के इतिहासकार के सामने प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि केवल भक्तिकाव्य रीतिकाव्य या आधुनिक काल की छायावाद, यथार्थवाद आदि प्रवृत्तियों को उन विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रसंग में रख कर जाँचे..... बल्कि यह समस्या भी है कि वह .....साहित्यकारों की कृतियों के अध्ययन से उनकी वास्तविक महत्ता को उद्घाटित करे.....।" —श्री शिवदान सिंह चौहान

वे असमर्थ थे, क्योंकि उन्हें उन परिस्थितियों में पलनेवाली परस्पर विरोधी विविध सामाजिक शक्तियों के अंतर्विरोध का पता न था। इसलिए उन्हें अपने इतिहास के हर युग में एक फुटकल खाता खोलना पड़ा[1]।"

जिन्होंने शुक्ल जी का 'भक्ति का विकास' शीर्षक निबंध पढ़ा है, वे संभवतः यह मानने के लिए न तैयार होंगे कि शुक्ल जी ने हिन्दी के सभी भक्त-कवियों को मुसलमानी शासन से उत्पन्न बताने की चेष्टा की है। वास्तव में शुक्ल जी ने उसकी केवल निर्गुणवाद धारा को मुसलमानी शासन की उपज बतलाया है। और, जिस अंतर्विरोध का उल्लेख उक्त अवतरण में किया गया है, उसकी झलक भी शुक्ल जी के इतिहास में मिलती है; उन्होंने (१) लोकोन्मुख; २) अलोकोन्मुख—इन दो प्रवृत्तियों के संघर्ष को निरन्तर ध्यान में रखा है और इसी कारण डा० ग्रियर्सन से इशारा पाकर नहीं, वरन अपनी मौलिक समीक्षा-प्रकृति से प्रभावित होकर तुलसीदास को हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक मान्यता दी है। फिर भी उक्त कथन में सत्य का कुछ अंश अवश्य है, जिसका कारण यह है कि आरम्भ से अंत तक एक सीधी रेखा नहीं खींची गयी, जिससे उक्त दोनों तत्त्व एक दूसरे से भिन्न होकर दिखायी पड़ते, लोकोन्मुख साहित्यकार स्पष्ट रूप से सामने आते और अलोकोन्मुख साहित्यकारों की दुर्बलताओं को हम समझ सकते। किन्तु लोकपक्ष का जितना आदर शुक्ल जी ने किया है, उससे और आगे बढ़ने में अनन्त व्यावहारिक कठिनाइयाँ खड़ी हो सकती थीं, जिनका अनुभव इतिहासकार ही कर सकता है। इसलिए यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि इतिहास के भीतर साहित्य-संघर्ष की व्याख्या अधिक स्पष्ट और अनासक्त होनी चाहिए थी, तथापि इतिहास-निर्माण-कालीन परिस्थितियों को ध्यान में लाने पर यह विचार भी अनिवार्य हो जाता है कि हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास-लेखक को कुछ छूट भी मिलने की आवश्यकता है।

हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास

शुक्ल जी द्वारा उक्त इतिहास के प्रस्तुत किये जाने के पूर्व इस दिशा में अनेक प्रयत्न किये जा चुके थे। गार्सां द तासी नाम के एक फ्रांसीसी सज्जन ने, जो पेरिस में हिन्दुस्तानी के अध्यापक थे, सन् १८३८ में हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास लिखा। इसमें उर्दू के कवियों के उल्लेख के साथ-साथ हिन्दी के कतिपय अत्यन्त विख्यात कवियों की चर्चा कर दी गयी थी। सन् १८८३ में शिवसिंह सेंगर ने शिवसिंह सरोज, सन् १८८९ में डाक्टर ग्रियर्सन ने (Modern Vernacular Literature of Hindustan)

१ श्री नामवरसिंह

उत्तर भारतीय आधुनिक देशी भाषा-साहित्य तथा सन् १९१३ में मिश्र-बन्धुओं ने 'मिश्रबन्धुविनोद' नामक ग्रंथ प्रस्तुत किया। 'मिश्रबन्धुविनोद' के प्रथम संस्करण में ३७५७ कवियों और लेखकों का विवरण दिया गया था। इसका द्वितीय संस्करण सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ। उसमें एक भाग और बढ़ा दिया गया, जिसमें कवियों और लेखकों की संख्या ४५०० तक पहुँच गयी। इतना विस्तार होने पर भी तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नाम धारण कर के भी 'मिश्रबन्धुविनोद' उचित रूप में हिन्दी साहित्य का इतिहास न हो सका।

सन् १९२९ में पं० रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास हमारे सामने आया और पहली बार हिन्दी साहित्य को अपना मुख देखने के लिए एक निर्मल दर्पण मिल सका। इसके अनन्तर और भी कई इतिहास निकले। इनके तथा इनके लेखकों के नाम निम्नलिखित हैं :

१—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास....ले० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास....ले० डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास ... ले० डा० रामकुमार वर्मा

४—हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास....ले० डा० सूर्य्यकान्त शास्त्री

५—हिन्दी साहित्य का इतिहास (अंग्रेजी में)....ले० के० (Keay) महाशय

'के' महाशय का इतिहास अंगरेजी में है, उस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। हिन्दी के उक्त चारों इतिहासों की तुलना शुक्ल जी के इतिहास से करने पर हमारे सामने कई बातें उपस्थित होती हैं। हरिऔध जी, रसाल जी, तथा शास्त्री जी के इतिहास में अनेक विशेषताएँ होने पर भी उनका आधुनिक काल सुन्दर नहीं बन पड़ा है। डा० रामकुमार वर्मा का इतिहास मध्यकाल ही तक पहुँचा है, किन्तु उन्होंने जितना लिखा है उसमें उनकी शैली इतनी व्यवस्थित और इतिहासोचित है कि उनके द्वारा आधुनिक काल के भी ठीक विवेचन की आशा होती है। अस्तु। सब बातों पर विचार करने पर यह मानना ही पड़ता है कि शुक्ल जी का इतिहास ही अभी तक सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है। उसके यथार्थ स्वरूप के अध्ययन के पूर्व कुछ अन्य बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि

हमारे इतिहासकार साधारण आधारभूत बातों पर भी सहमत नहीं हैं। हरिऔध जी ने अपने काल-विभाजन में आरम्भिक काल ईसा की आठवीं शताब्दी से माना है। डाक्टर रसाल और डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इसे सं० १००० से माना है। मिश्रबन्धु सं० ७०७ से पूर्व प्रारम्भिक हिन्दी को प्रतिष्ठापित करते हैं। डाक्टर सूर्य्यकान्त शास्त्री ने उसका समय सं० १२०७ निश्चित किया है। मनोरंजक बात यह है कि डाक्टर रामकुमार और डाक्टर सूर्य्यकान्त दोनों ही ने आदि काल को चारणकाल की संज्ञा दी है और फिर भी दोनों के निर्धारित समय में २०७ वर्षों का अन्तर है। यह अन्तर यहीं तक नहीं है; चारणकाल की समाप्ति का समय डा० रामकुमार वर्मा ने सं० १३७५ और डाक्टर सूर्य्यकान्त ने सं० १४५७ रखा है, अर्थात् दोनों में बयासी वर्ष की दूरी है। डाक्टर सूर्य्यकान्त ने अपना काल-विभाजन 'के' (Keay's History of Hindi Literature) महाशय के इतिहास पर आधारित किया है। डाक्टर रामकुमार ने भक्ति-काल, रीति-काल, आधुनिक काल का नामकरण और समय-निर्धारण शुक्ल जी के इतिहास ही के आधार पर किया है, केवल शुक्ल जी के वीरगाथा-काल के स्थान पर 'चारणकाल' रखा है जो, सम्भव है, 'के' महाशय के इतिहास ही का प्रभाव हो। डा० सूर्य्यकान्त शास्त्री ने अपने इतिहास को विवेचनात्मक बतलाया है, किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय और 'ललित लावण्यमय साहित्य' इन दो शीर्षकों के द्वारा काल-विभाजन करके उन्होंने विवेचना के स्थान में भ्रमोत्पादन की ओर ही प्रगति की है। मिश्रबन्धुओं ने पूर्व प्रारम्भिक, उत्तर प्रारम्भिक, पूर्व माध्यमिक, प्रौढ़ माध्यमिक, पूर्वालंकृत, उत्तरालंकृत, आदि विभिन्न विभागों में विचारणीय हिन्दी साहित्य को विभक्त किया है। 'वर्तमान काल' के पहले उन्होंने एक परिवर्त्तन-काल भी माना है। डाक्टर रसाल ने अपने काल-विभाजन में आदि काल, मध्यकाल, आधुनिक काल की क्रमशः बाल्यावस्था, किशोरावस्था एवं युवावस्था की कल्पना की है। उन्होंने भी शायद मिश्रबन्धुओं के प्रभाव से 'वर्त्तमान काल' के पहले परिवर्त्तन-काल निर्धारित किया है।

शुक्ल जी का इतिहास

इन सब इतिहासों से शुक्ल जी के इतिहास की तुलना करने पर यह बात दिखायी पड़ती है कि शुक्ल जी ने अपना काल-विभाजन कुछ सिद्धान्तों पर आधारित किया है और उन सिद्धान्तों का निरूपण भी कर दिया है। उदाहरण के लिए, उन्होंने आदि काल का नाम वीरगाथा-काल इस कारण रखा है कि उस काल विशेष के भीतर जिन रचनाओं का निर्माण हुआ उनमें वीर-

गाथा से सम्बन्धित रचनाओं की प्रचुरता थी; अर्थात् अन्य किसी एक विषय की इतनी अधिक पुस्तकें नहीं लिखी गयीं जितनी वीरगाथा की। इसके अतिरिक्त शुक्ल जी ने ग्रन्थों की प्रसिद्धि को भी महत्वपूर्ण तथा 'काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि' माना है। अन्य इतिहासकारों ने इस सम्बन्ध में कोई बन्धन स्वीकार करना शायद अनावश्यक समझा है।

किन्तु शुक्ल जी के काल-विभाजन से भी अध्ययन का पूर्ण सुविधा उपलब्ध नहीं हो सकी है। हम देखते हैं कि वीरगाथा-काल की समाप्ति सं० १३७५ में हुई, और भक्तिकाल की निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रथम कवि कबीर का जन्म सं० १४५६ में हुआ। यदि पच्चीस वर्ष की अवस्था से कबीर का रचना काल माना जाय तो वीरगाथाकाल का अन्त हो जाने पर भी सौ वर्ष तक हिंदी साहित्य के भीतर भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं का श्रीगणेश नहीं होता। यह सो वर्ष का समय न घर का रहा न घाट का; उसके गले में न वीरगाथाकाल का पट्टा बँध सका और न भक्तिकाल का।

शुक्ल जी के इतिहास में रीतिकाल सं० १७०० से सं० १९०० तक माना गया है। इस अवधि के भीतर अलंकार, नायिका भेद तथा प्रेमकाव्य इन तीन तत्वों का विशिष्टता स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। अलंकार-निरूपण के लिए लिखित पद्य साधारण पद्य-रचना है, किन्तु नायिका भेद-वर्णन में समाविष्ट रचनाओं में अपेक्षाकृत अधिक कोमलता और मधुरता है। जहाँ प्रेमकाव्य की प्रवृत्ति है वहाँ तो मानो कवि ने अपना हृदय ही प्रवाहित कर दिया है। अलंकार-निरूपण और नायिका-भेद-वर्णन में विशेष भेद न करने पर भी दोनों को प्रेम काव्य से तो पृथक् करना ही पड़ेगा। वास्तव में इस काल का ऐसा नाम होना चाहिए जो इन तीनों ही को अपने घेरे के भीतर स्वीकार कर ले। स्वयं शुक्ल जी ने यह छूट दे दी है कि इस काल को यदि कोई चाहे तो शृंगार काल कह ले। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी 'शृंगार काल' नामकरण के पक्ष में हैं; उन्होंने थोड़ा आगे बढ़ कर उसके उपविभाग भी निश्चित कर दिये हैं; ये हैं। (१) रीतिबद्ध, (२) रीतिमुक्त। 'रीतिबद्ध' में भी उन्होंने दो शाखायें फोड़ी हैं—(१) लक्षणबद्ध, (२) लक्ष्य मात्र।

शुक्ल जी ने आधुनिक काल को गद्यकाल कहा है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इससे असहमत होकर आधुनिक काल को प्रेमकाल की संज्ञा देना चाहते हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि शुक्ल जी इतनी दूर तक जाने को कभी तैयार न होते। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कहीं न कहीं कुछ कसर अवश्य

है; सच बात यह है कि सम्पूर्ण काल-विभाजन पर मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना कर के विचार करने की आवश्यकता है।

साहित्य के इतिहास से सामाजिक इतिहास का सम्बन्ध

इतिहास का साहित्य के इतिहास के साथ वही घनिष्ट सम्बन्ध है जो जीवन का साहित्य के साथ है। इतिहास मानव जीवन के विकास की कथा है और साहित्य का इतिहास साहित्य के विकास की कथा है। किसी देश अथवा समाज में उच्च और सजीव साहित्य का निर्माण होता है तभी वहाँ मानव जीवन विकास के उच्च स्तर पर पहुँचता है; और वैसे साहित्य की रचना भी तभी संभव है जब जीवन बाधाओं से मुक्त होकर प्रगतिशील हो। अतएव इतिहास जीवन की आलोचना करते समय पूर्ववर्त्ती एवं तत्कालीन साहित्य पर दृष्टि डालने के लिए बाध्य है तथा साहित्य का इतिहास भी तभी सार्थक हो सकता है जब वह साहित्य का दिग्दर्शन कराने के अवसर पर तत्कालीन मानव जीवन के समस्त विभागों को प्रकाशित करके दोनों के अन्योन्य घनिष्ट सम्बन्ध को प्रकट करे।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में भारतीय समाज की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। केन्द्रिक शासन के अभाव में निषेधात्मक विभाजन अतिशयता को पहुँच गया था और उसकी आन्तरिक शक्ति अत्यन्त छिन्न-भिन्न हो रही थी। बिखरी हुई शक्तियों ने प्रायः संघटित होकर विदेशी और विधर्मी आक्रमणकारियों से लोहा लिया; उनके इस प्रयत्न को निस्सन्देह वीरतापूर्ण कह सकते हैं, ऐसी वीरता की स्तुति करना निस्सन्देह काव्य का परम धर्म्म है, किन्तु संघटन उक्त समाज का नियम नहीं था, अपवाद मात्र था; नियम तो अधिकाधिक निषेधात्मक विभाजन एवं पृथक्करण की प्रवृत्ति ही थी। तत्कालीन कवि वीरता की प्रशंसा करता है, यह तो बहुत अच्छी बात है, किन्तु दुर्बल समाज की नीच और क्षुद्र प्रवृत्तियों की वह निन्दा क्यों नहीं करता? एक राजा अपने पड़ोसी राजा पर अनायास ही आक्रमण कर देता है, तब अकारण छेड़े हुए रण की आलोचना करने का काम वह क्यों छोड़ देता है? कवि की सूक्ष्म दृष्टि एक स्थल पर सौन्दर्य देखने के अनन्तर अन्यत्र असौन्दर्य को पहचान लेने की क्षमता क्यों खो बैठती है? जीवित साहित्य अपने उद्बोधन द्वारा मृत समाज को भी संजीवन प्रदान कर सकता है; यह स्पष्ट है कि इस कार्य को वह सम्पादित नहीं कर सका। अपनी ही निर्जीवता के कारण वह निर्जीव को सजीव नहीं

बना सका, अपनी ही निद्रा के कारण कवि यह नहीं देख सका कि सारा समाज सोया हुआ है और उसे जगाने की आवश्यकता है; समाज और जन-जीवन सर्वथा उपेक्षित हो रहा था।

साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन में शुक्ल जी ने साहित्य की केवल बाहरी रूपरेखा को ध्यान में रखा है। उचित यह था कि साहित्य-निर्माता की मानसिक परिस्थिति का उसके साथ सामंजस्य कर के वे काल का नामकरण करते। इस दृष्टि से 'वीरगाथाकाल' नाम के स्थान में 'चारण काल' नाम अधिक अच्छा जान पड़ता है। निस्सन्देह के० महाशय और उनके अनुयायियों ने 'चारणकाल' नाम निर्धारित करते समय उक्त दृष्टि नहीं रखी थी। अस्तु। इस नाम से एक ओर तो यह ध्वनि आती है कि इस अवधि के भीतर अधिकांश रचनाएँ वीरों की प्रशंसा के लिए होती थीं, दूसरी ओर यह भी सूचित होता है कि कवि वास्तव में कवि नहीं रह गया था; गुण गाना, प्रशंसा करना ही उसका पेशा हो गया था, ऐसे कवि को काव्य रचना का पूर्ण उत्तरदायित्व समझने वाला कवि मान लेने की गल्ती न की जाय, वह 'चारण' मात्र रह गया था—इतिहासकार की यह आलोचना भी 'चारणकाल' नामकरण में गर्भित है। चारण काल को संवत् १०५० से संवत् १४७५ तक यदि हम विस्तृत करने के लिए तैयार हों तो सं० १३७५ से सं० १४७५ तक का जो लावारिसीपन शुक्ल जी के इतिहास में खटकता है उसका निराकरण इस प्रकार हो सकता है कि नामदेव को हम निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा का प्रथम कवि मानें। शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है, "नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्गुण पंथ के लिए मार्ग निकालनेवाले नामपंथ के योगी और भक्त नामदेव थे।" नामदेव का जन्म सं० १३२७ में और मृत्यु सं० १४०७ में हुई।

शुक्ल जी का काल-विभाजन

सम्भव है, विद्वानों द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया जाय कि इतिहास के अन्तर्गत विभिन्न कालों के नामकरण में अपनी आलोचनात्मक प्रवृत्ति का परिचय देना समीचीन नहीं है, वही नामकरण उचित और उपयुक्त है जो बाह्यसीमित (Objective) सामग्री के आधार पर किया जाय, अंतर्सीमित को अपने पक्ष में सीमित तथा संकुचित होने देना समस्या का हल करना नहीं है, उसे उलझाना है। किसी तर्क के आधार पर नहीं, वरन् दोनों के सामंजस्य पर ही वैज्ञानिक अध्ययन की सुविधाएँ निर्भर

वीरगाथा काल या चारण-काल

हैं। 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में शुक्ल जी ने काव्य सम्बन्धी अपने विचारों को व्यक्त किया है। उनकी कसौटी पर जब हम तुलसीदास जी की कविता को कसते हैं तो उसे सर्वथा संतोषजनक पाते है। क्या यही बात वीरगाथाओं वाले काव्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है? स्वयं शुक्ल जी लिखते हैं :—

"उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता था या रणक्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था, वही सम्मान पाता था। इस दशा में काव्य या साहित्य के और भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्त्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था।"

स्पष्ट है कि चारण काव्य को तुलसी, सूर, मीरा आदि के काव्य से पृथक् कर के पहचानने के लिए उसकी अवधि को 'चारण काल' कहना अधिक बोधक और संगत होगा।

निर्गुण और सगुण कवियों के रचना-काल को शुक्ल जी ने 'भक्ति काल' संज्ञा दी है। भक्ति के उन्होंने दो स्वरूप बतलाये हैं (१) निर्गुण कवियों का सामान्य भक्तिमार्ग; (२) सगुणोपासक कवियों का भारतीय शास्त्रानुमोदित सगुण भक्ति मार्ग। निर्गुण काव्य धारा की दो शाखाएँ हैं, (१) ज्ञानाश्रयी शाखा; (२) प्रेमाश्रयी शाखा। इसी प्रकार सगुण काव्य धारा की भी दो शाखाएँ हैं (१) रामभक्ति शाखा; (२) कृष्णभक्ति शाखा। रामभक्ति और कृष्ण भक्ति सम्बन्धी शाखाओं के ऐतिहासिक क्रम के सम्बन्ध में यह आपत्ति की जा सकती है कि शुक्ल जी ने रामभक्ति शाखा को प्रथम स्थान दिया है जब कि कृष्णभक्ति शाखा की चर्चा पहले की जानी चाहिए। डा० ग्रियर्सन और पं० रामगुलाम द्विवेदी के मतानुसार तुलसीदास का जन्म सं० १५८९ में हुआ था; सूरदास का जन्मकाल सं० १५४० में माना जाता है। जब तक इन मान्यताओं में कोई विशेष अन्तर पड़ने के कारण न उपस्थित हों तब तक इनके आधार पर कृष्णभक्ति शाखा का उल्लेख रामभक्ति-शाखा के पूर्व ही होना उचित होगा। एक बात और, निर्गुणवादी, उनमें भी विशेष कर प्रेममार्गी सूफियों ने अपनी ओर भारतीय समाज में जो आकर्षण उत्पन्न कर दिया था उसके निराकरण के लिए खड़ी होनेवाली कृष्ण-भक्ति शाखा को उसके साथ ही रखकर अध्ययन करने में विशेष सार्थकता भी रहेगी।

भक्तिकाल

शुक्ल जी ने भक्ति काल सं० १३७५ से सं० १७०० तक माना है। इस बीच सं० १६१२ में केशवदास का जन्म हुआ और सं० १६७४ में सर्वथा भक्ति-विरोधी दृष्टिकोण से सम्पन्न 'रामचन्द्रिका' नामक काव्य के इस लेखक का देहान्त हो गया। वास्तव में नवीन विचार-धारा और नवीन प्रवृत्ति के उदय की दृष्टि से भक्तिकाल का अंत कुछ और पहले मानना चाहिए। शुक्ल जी लिखते हैं, "इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ही ने किया। पर हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' से प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।" इस कथन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी रीति-काल का आरम्भ सं० १७०० से दो कारणों से मानते हैं :—

रीतिकाल या मनोरंजनकाल

(१) रीतिग्रन्थों की अखंडित परम्परा तभी से चली; (२) यह परम्परा केशव के आदर्श को त्याग कर चली। इन दोनों कारणों का उद्भव अध्ययन की बाह्यसीमित शैली से ही हुआ है। अंतर्सीमित तथा बाह्यसीमित दोनों ही साधनों के समन्वित उपयोग से यह सहज ही प्रगट होगा कि केशव के रचनाकाल से ही साहित्य-निर्माता के भावों तथा विचारों में क्रान्ति हो गयी, जो उक्त दोनों ही कारणों से अधिक महत्वपूर्ण है। अतः भक्तिकाल का अन्त और रीतिकाल का आरम्भ सं० १६५० से ही मानना ठीक होगा।

रीतिकाल यदि शृङ्गारकाल कहा जाय तो शुक्ल जी को कोई विशेष आपत्ति नहीं है। किन्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि वीरगाथाकाल की भाँति उनका शेष काल निर्धारण भी बाह्यसीमित अध्ययन शैली पर ही निर्भर है। रीति ग्रन्थों की अधिकता के कारण 'रीतिकाल' नाम देने की अपेक्षा तो यही अच्छा होगा कि वह 'शृङ्गार काल' कहा जाय, क्योंकि इससे कम से कम यह तो प्रगट होता है कि उक्त काल-विशेष में साहित्य निर्माता का हृदय कहाँ कार्य कर रहा था, कैसे वर्णनीय विषय की ओर उसकी अभिरुचि हो रही थी। फिर भी 'शृङ्गार काल' कहने से यह प्रगट नहीं होता कि उस काल में निर्मित साहित्य के रचयिता की मनोदशा क्या थी। यह तभी स्पष्ट हो सकेगा जब हम अंतर्सीमित अध्ययन-शैली का अधिक घनिष्ट सहयोग प्राप्त करें। ऐसा करने पर हम देखेंगे कि जहाँ कवि पहले चारण था और बाद को भक्त अथवा साधक हो गया वहाँ अब साधना का अभाव हो जाने पर उसके सामने केवल मनोरंजन की सम्भावना शेष रह गयी है। यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि भक्तिकालीन साधना का बल क्षीण हो

जाने पर भी परिवर्तित दृष्टिकोणवाले मनोरंजनवादी कवि अचानक ही गहरी शृङ्गारिक सामग्री लेकर वहाँ उपस्थित हो सकते थे। उन्होंने रस-निरूपण, अलंकार-विवेचन और नायिका-भेद का सहारा लेकर इस कार्य का सूत्रपात किया। इससे एक बड़ी हानि यह हुई कि राधा और कृष्ण को नायिका एवं नायक के रूप में ग्रहण कर तथा लोकमत के सन्तोषार्थ एक आवरण ओढ़े रहकर उन्हें खुल खेलने का मौका मिला। आगे प्रेमकाव्य भी आया, जिसमें किसी प्रकार का परदा न रख कर हृदय का सच्चा प्रेमभाव व्यक्त किया गया। इस प्रकार मनोरंजन काल की तीन धाराएँ स्पष्ट रूप से चलती हैं (१) अलंकार धारा; (२) नायिका भेद धारा; (३) प्रेमकाव्य धारा। किन्तु शुक्ल जी को इस सम्बन्ध में संतोष नहीं है। वे लिखते हैं :—

"रीतिबद्ध ग्रन्थों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं मिला है।"

शुक्ल जी ने जिस दृष्टिकोण को सामने रखकर आधुनिक काल को गद्यकाल कहा है उसे अब पाठक समझ चुके होंगे। वर्तमान साहित्य निर्माण में गद्य का अंश अधिक है, इसलिए उसे गद्यकाल कह सकते हैं। किन्तु अंतर्सीमित अध्ययन शैली के सहयोग से वंचित होकर 'गद्यकाल' स्वयं को पूर्ण सन्तोषजनक नहीं बना सका है। असन्तुष्ट सज्जनों में से एक का कहना है। "आधुनिक काल में आकर साहित्य की स्पष्टतः दो धाराएँ हो गयी हैं—गद्य-धारा और पद्य-धारा। इन दोनों धाराओं में से किसी को कम महत्व नहीं दिया जा सकता। हिन्दी साहित्य की ऐसी ही परिस्थिति है। अभिप्राय यह है कि आधुनिक काल को केवल गद्यकाल कह देने से ही स्पष्टता नहीं आती।"[१]

गद्यकाल

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आधुनिक काल के लिए 'प्रेमकाल' नाम का प्रयोग ही पसंद करते हैं, इसकी चर्चा की जा चुकी है। वर्णन पद्धति की अपेक्षा वे वर्ण्य विषय ही को अधिक महत्त्व देना चाहते हैं। यहाँ यह कह देने की आवश्यकता है कि 'वीरगाथाकाल' तथा 'भक्तिकाल' के नामकरण में शुक्ल जी ने भी विषय ही की ओर अधिक ध्यान दिया है; केवल 'रीतिकाल' और 'गद्यकाल' के नामकरण में

गद्यकाल के स्थान में प्रेमकाल

१ श्री शिवनाथ

उन्होंने विषय की ओर से, ध्यान हटा कर शैली की ओर लगाया है। किन्तु वे विषय के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते हैं और इसी कारण 'रीतिकाल' के विकल्प रूप में शृंगार काल को भी मान्यता देते हैं।

मिश्र जी के 'प्रेमकाल' के पक्ष में कहा गया है कि उसकी स्थापना करते हुए वे प्रेम को बड़े ही व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। 'निस्सन्देह प्रेमकाल गद्य और पद्य दोनों ही को एक सूत्र में बाँधता जान पड़ता है, और अन्त-र्सीमित अध्ययन-शैली की ओर अग्रसर होता दिखायी देता है, किन्तु वह अतिव्याप्ति दोष से पीड़ित है। उदाहरण के लिए वीरगाथा काल को यदि हम क्रोध अथवा उत्साहकाल कहें और 'भक्तिकाल' को आनन्दकाल कहने लग जायँ एवं इसी प्रकार यदि 'शोककाल', घृणाकाल आदि की कल्पना करने लग जायँ तो हमारा यह नामकरण अतिव्याप्ति-दोष से पीड़ित माना जायगा। 'प्रेमकाल' की व्यापक परिधि का त्याग कर मिश्र जी को किसी ऐसे केन्द्र पर उतर आना चाहिए जहाँ से हमारी, वर्त्तमान युग की, समस्त कृतियाँ जिनमें जीवन-संघर्ष, लोकसंग्रह आदि भावों की प्रधानता है, एक घेरे में आ सकें। इस प्रेमकाल से तो शुक्ल जी का गद्यकाल ही हमारे लिए बहुत उपयुक्त है; उसमें कम से कम यह तो लक्षित होता ही है कि इस युग में प्रगति, प्रयास और जटिल जीवन-संग्राम की वृद्धि हो गयी है।

सब बातों पर विचार करके हम इस परिणाम पर पहुँचने के लिए बाध्य हैं कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण, व्यापक अध्ययन, निस्संग आलोचक-वृत्ति तथा हिन्दी साहित्य की अन्तरात्मा से घनिष्ट परिचय की दृष्टि से अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में पं० रामचन्द्र शुक्ल ही का कार्य सर्वोपरि है। उनके द्वारा सम्पादित कार्य में अवशिष्ट अंश न हो, यह बात नहीं है; किन्तु जितने गुण उसमें हैं उन सबको अपने साथ लेकर कोई अग्रसर नहीं हो रहा है।

———

अध्याय २३

हिंदी साहित्य का इतिहास—२

विवरण-व्यवस्थापन

शुक्ल जी द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन हम देख चुके। अब हमें यह देखना है कि प्रत्येक काल के भीतर उन्होंने साहित्य की सम्पूर्ण सामग्री को किस प्रकार व्यवस्थापित किया। इस परिचय के अनन्तर ही हम यह निर्णय कर सकेंगे कि हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करने की दिशा में उन्होंने कितना काम किया और कितना अपने साहित्यिक उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ दिया।

शुक्ल जी ने इतिहास के प्रारम्भ ही में अपने व्यक्तव्य में कहा है :—

"सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रन्थ राशि सामने लगी हुई थी। पर ऐसी निर्दिष्ट-सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता।"

साहित्य-सामग्री का वर्गीकरण

शुक्ल जी का यह इतिहास आषाढ़ शुक्ल पंचमी सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। उसके पूर्व मिश्रबन्धु विनोद हिन्दी-प्रेमियों के सामने प्रस्तुत था। यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि क्या 'मिश्रबन्धुविनोद' में उक्त प्रकार का आवश्यक प्रयत्न नहीं किया गया था? शुक्ल जी ने इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही दिया है :—

"सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूँदकर बाँट देना, यह भी न देखना कि किस खण्ड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।"

इससे सहज ही समझा जा सकता है कि शुक्ल जी ने आवश्यक सरणियों के निर्देश का प्रयास किया है। ये सरणियाँ क्या हैं?

शुक्ल जी ने सं० १०५० से हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ माना है। तब से लेकर अब तक के बीच में लगभग ९०० वर्ष बीत चुके। इस विशाल अवधि के भीतर भारतीय इतिहास के जो अनेक युग आये और गये वे शुक्ल जी की अंतर्दृष्टि के सामने थे। मुसलमानों के धर्मोन्माद-प्रेरित आक्रमण, जिनके कारण हिन्दुओं के सामने जीवन-मरण का संघर्ष उपस्थित हो गया था, लगभग

सं० १३७५ तक चले। इसके अनन्तर मुसलमानों का राज्य निश्चित रूप से भारत में स्थापित हो गया और यद्यपि हिन्दुओं को विष की कड़वी घूँट पीनी पड़ी, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि शान्ति और व्यवस्था के दिन आये, जो मुगल राजवंश के अधःपतन काल के पूर्व तक बने रहे। अंगरेजों के शासन में भी शान्ति और व्यवस्था का एक उच्च मान-दण्ड दिखाई पड़ा। किन्तु कालान्तर में उसमें भी विकृति आयी और जन-आन्दोलन के सामने उसे झुकना पड़ा। ये ऐतिहासिक परिस्थितियाँ हिन्दी साहित्य पर अपना प्रतिबिम्ब फेंके बिना कैसे रह सकती थीं? अशान्तिकाल का साहित्य शान्ति-काल के साहित्य के समकक्ष कैसे हो सकता था? और चौदहवीं, पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शती का संस्कृति-प्रधान साहित्य उन्नीसवीं और बीसवीं शती के साहित्य के मेल में कैसे लाया जा सकता था? शुक्ल जी ने देखा कि अशान्ति-काल में वीरगाथा विषयक रचनाएँ अधिक संख्या में लिखी गयीं, साथ ही शान्तिकाल में सांस्कृतिक रचनाओं की प्रचुरता हुई, आगे चलकर सांस्कृतिक मानदण्ड में शिथिलता आयी और कवि स्वयं ही आचार्य बनने का प्रयत्न करने लगा; अंगरेजी शासन-काल में अनेक विचार-धाराओं का प्रचलन हुआ, गद्य की भाषा विकसित और संगठित हुई, पद्य के क्षेत्र में क्रान्ति हुई। इन्हीं सब प्रवृत्तियों के आधार पर शुक्ल जी ने अपनी सरणियों का आविष्कार किया; हिन्दी साहित्य के संवत् १३७५ तक के काल को उन्होंने वीरगाथाकाल कहा, सं० १३७५ से सं० १७०० तक के समय को भक्तिकाल, सं० १७०० से १९०० तक के समय को रीतिकाल एवं संवत् १९०० से १९९७ तक के समय को आधुनिक काल अथवा गद्यकाल की संज्ञा दी। साहित्य की प्रवृत्तियों का निर्देश हुआ और एक एक प्रवृत्ति के घेरे में अगणित रचनाओं और रचनाकारों के समावेश से नौ शताब्दियों के साहित्य के अध्ययन के लिए सुविधा प्राप्त हुई।

शुक्ल जी के इतिहास की विशेषता

किसी राष्ट्र का इतिहास उसके जीवन-दर्शन का अध्ययन करके उसके उत्थान और पतन के कारणों को उद्घाटित करता है, इसी प्रकार साहित्य का इतिहास युग-विशेष के साहित्य-निर्माण के मूल में स्थित दर्शन की मीमांसा करके अन्ततोगत्वा उसकी जीवनी-शक्ति के रहस्यों की व्याख्या करता है। एक विशेष प्रकार का साहित्य समाज की अनेक पीढ़ियों को क्यों आकर्षित किये रह सका और एक अन्य प्रकार का साहित्य इस

लक्ष्य की सिद्धि में क्यों सफल नहीं हो सका—इसकी उचित मीमांसा साहित्य के इतिहास में की जानी चाहिए। इस अनुसंधान में, इस जिज्ञासा में मनोरंजन के साधन के अतिरिक्त राष्ट्रोपयोगी एक तत्व भी निहित है, वह यह कि साहित्य के इतिहास का लेखक अपने अध्ययन के प्रकाश में सफल और असफल साहित्य के मध्य में अल्प अथवा अधिक या शून्य मात्रा में प्रोत्साहन का वितरण करता है, जिससे अपेक्षित अथवा अनपेक्षित साहित्य के पुनरावर्तन में वृद्धि की जा सकती है या उस पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। इतिहास से मिलनेवाली सूचनाओं का उपयोग किया जाय अथवा न किया जाय, किन्तु इतिहासकार का यह निश्चित कर्त्तव्य है कि वह इस दिशा में अपने पाठक का नेतृत्व करे। मिश्रबंधुविनोद से इस कार्य के सम्पन्न होने की आशा नहीं की जा सकती थी। किन्तु लगभग पन्द्रह वर्षों के अन्तर से प्रकाशित होनेवाले साहित्य के इतिहास में भी यह लक्ष्य-साधन न होता तो उसकी प्रगति ही में संदेह हो जाता।

आचार्य शुक्ल द्वारा प्रणीत इतिहास में यदि कोई विशेषता है तो वह यही है कि उसमें उक्त कर्तव्य का पालन उचित मात्रा में किया गया है। उन्होंने सबल और दुर्बल साहित्य के भेद को समझाया है और इतिहास में आरम्भ से लेकर अन्त तक यही देखना चाहा है कि अकर्मण्य मनुष्य में कर्मण्यता का संचार करने की उसमें कितनी शक्ति है। ज्ञान, उपासना और कर्म इन तीनों ही के समन्वय में उन्होंने मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास का दर्शन किया है तथा उसी साहित्य को श्रेष्ठ माना है जिसमें इस समन्वय-भावना को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया हो। उन्होंने अपने इतिहास में भिन्न-भिन्न कवियों के प्रति अपनी जो धारणाएँ स्थिर की हैं, उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि शुक्ल जी की इस विशेषता को हम स्मरण रखें।

शुक्ल जी के इतिहास के अनन्तर जो इतिहास प्रकाशित हुए हैं उनमें इस सिद्धान्त का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी है, किन्तु वास्तव में इसके अनुसरण के बिना हिन्दी साहित्य की व्याख्या ही नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि हिन्दी साहित्य का जन्म ही ऐसे समय में हुआ जब उसके पोषक समाज में विदेशी और विधर्मी तत्वों के आक्रमण के कारण अस्तव्यस्तता व्याप्त थी, जो राजनैतिक पराभव के कारण निरन्तर बढ़ता ही रहा। मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज की परिस्थिति से प्रभावित होकर चले बिना काव्य अपनी पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता; एक ओर [illegible]

सब ओर से चित्त को खींचकर, उसे एकाग्र बनाकर, उसको समाधि का, स्थिरता का आनन्द देना उसका स्वभाव है, तो दूसरी ओर उतनी ही मात्रा में मानव की दुर्गति देखकर अश्रु बहाना भी उसका धर्म है। इसी प्रकार हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखक का भी यह कर्तव्य है कि वह इस बात का पता लगावे कि हिन्दी के किन कवियों ने उक्त दोनों प्रवृत्तियों का सामंजस्य किया और किन कवियों ने नहीं किया। जिन कवियों ने समाज के गाढ़े दिनों में भी लोक-संग्रह की अवहेलना कर दी है, छोटे से छोटे घेरे में भी कार्यान्वित होने के लिए उसे नियोजित नहीं किया है, उन्होंने अपने कवि-धर्म का पालन नहीं किया, इसमें सन्देह नहीं। इसी प्रकार जिन-जिन इतिहास-लेखकों ने लोक-संग्रह की भावना के द्वारा, उचित मात्रा और अनुपात में, अपनी काव्य-समीक्षा को प्रभावित नहीं होने दिया, उन्होंने भी अपने कर्तव्य का पूर्ण पालन नहीं किया।

शुक्ल जी के इतिहास में अभाव

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में प्रत्येक काल के अध्ययन के पूर्व उसकी प्रवृत्तियों को समझाने के लिए एक प्रकरण निर्दिष्ट किया है, जिसे उन्होंने 'सामान्य-परिचय' कहा है। आदि काल के 'सामान्य-परिचय' के अनन्तर-उन्होंने एक प्रकरण अपभ्रंश काव्य के लिए तथा एक प्रकरण देशभाषा काव्य के लिए निर्धारित किया है। यह सही है कि हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हुआ। किन्तु शुक्ल जी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि हिन्दी साहित्य को जिन विचार-धाराओं का भार वहन करना पड़ा तथा जिन तत्त्वों के अंतर्निहित संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए वह बाध्य हुआ, उनके यथार्थ मूल्यांकन के लिए वैदिक काल की ओर भी सिंहावलोकन करना आवश्यक है—वह वैदिक काल जिसमें भारतीय चिन्तकों ने जीवन के चिरन्तन एवं देश-काल-सीमित अनुभवों के आधार पर वर्णाश्रम-

ा दर्शन किया था। यह वर्णाश्रम
विश्व मानवता की सीढ़ियों पर
के दैनिक जीवन के सम्पर्क से
बिना नहीं रहती। कालान्तर में
ा करके मानव-जीवन को स्वस्थ
देव का अवतरण हुआ। किन्तु
का प्रतिनिधि होकर भी सम्पूर्ण
ा, क्योंकि लोकजीवन में यदि एक

ओर स्थिर अचल सत्य की प्रतिष्ठापना मूलीभूत है तो दूसरी ओर देश-काल-बद्ध चंचल सत्य की स्वीकृति भी पल्लवित पुष्पित है। इस कारण 'वर्णाश्रम व्यवस्था' और निर्वाण दोनों ही के समर्थकों में संघर्ष होना स्वाभाविक था और इस संघर्ष का हिन्दी काव्य में प्रतिबिम्बित होना भी अनिवार्य था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के आदिकाल के काव्य में यह संघर्ष किस प्रकार झलकता है, इसकी एक झाँकी 'सामान्य-परिचय' में हमें मिलनी चाहिए थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्णाश्रम के समन्वित सिद्धान्त की तुलना में निर्वाण सिद्धान्त एकांगी है तथा इसी प्रकार वर्णाश्रम का पक्ष लेकर चलने वाले हिन्दी काव्यांश में उस अंश की अपेक्षा, जिसने बौद्ध-धर्म की विकृतियों से अपना जीवन दर्शन प्राप्त किया है, अधिक लोकग्राहिता है।

आदिकालीन एवं भक्ति कालीन काव्य

बौद्ध धर्म का विकृत स्वरूप ही वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में प्रगट हुआ। चौरासी सिद्ध इसी वज्रयान सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं वज्रयान सम्प्रदाय ही में नाथपंथ की भी जड़ें हैं। आगे चल कर निर्गुणवादी कवियों का जो एक दल हिन्दी साहित्य के भीतर खड़ा हुआ उसकी अनेक मान्यताएँ भी नाथ-पंथ ही से प्राप्त हैं। शुक्लजी ने अपभ्रंशकाल के अनेक कवियों† की जो चर्चा की है, उससे स्पष्ट है कि आदिकाल के अन्त तक अपभ्रंश काव्य चलता रहा; वैसे तो वि० १५वां शती में भी विद्यापति ने दो छोटी काव्य-पुस्तकें अपभ्रंश में लिखीं, किन्तु उसे अपवाद ही मानना चाहिए। देशभाषा काव्य-धारा में वीरगाथा के कवियों‡ का उल्लेख किया गया है। आदिकालीन इन कवियों की रचनाओं में उस संघर्ष का कोई संकेत उनकी उद्धृत पंक्तियों में नहीं दिया गया। सम्भव है, वैसी पंक्तियाँ सुलभ न हों, जिसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ये अत्यन्त संकट-ग्रस्त समय में लिखी गयीं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल बहुत महत्व-

---

†ये हैं हेमचन्द्र (सं० ११५०-११९९), सोमप्रभसूरि (सं० १२४१) विद्याधर जैनाचार्य मेरुतुंग (सं० १३६१) शार्ङ्गधर (वि० १४ वीं शती)

‡ये हैं दलपति विजय (रचना खुमान रासो, सं० ८१० और १००० के बीच), नरपति नाल्ह (रचना, बीसलदेव रासो, सं० १२१४), चन्द बरदाई (रचना, पृथ्वीराज रासो, सं० १२२५-१२४९), भट्ट केदार (रचना, 'जयचन्द प्रकाश', सं० १२२४-१२४३) और जगनिक (रचना, आल्हा, सं० १२३०)

पूर्ण है। इसका विवरण दो धाराओं[1] में विभक्त किया गया है—(१) निर्गुण-धारा; सगुण धारा। निर्गुणधारा की भी दो छोटी उपधाराएँ निकाली गयी हैं—(१) ज्ञानाश्रयी; (२) प्रेमाश्रयी।

निर्गुण धारा के कवियों में साम्य यह है कि भारतीय-भक्ति-परम्परा को इनमें से कोई भी स्वीकार नहीं करता और विषमता यह है कि जहाँ ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि अधिकांश में काव्य-कला के साधनों से वंचित हैं, वहाँ प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों में वे प्रचुर मात्रा में उपयोग में आये हैं। एक विषमता और भी है, वह यह कि जहाँ ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों में से अनेक कवि हिन्दू उपासना-पद्धति की आलोचना करके भी इस्लाम का प्रचार नहीं करते, वहाँ प्रेमाश्रयी शाखा के कवि खुलकर प्रचार करते हैं। इन दोनों ही धाराओं के कवियों से भिन्न सगुण धारा के कवि हैं जो निराकार ब्रह्म की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी अधिक व्यावहारिक होकर उपासना के लिए उसकी साकार सत्ता को ही ग्रहण करते हैं। इन कवियों के भी दो * दल हैं — (१) कृष्णावत शाखा के कवि; (२) रामावत शाखा के कवि। दोनों ही उप धाराओं के कवियों ने उच्च कोटि का काव्य किया है।

हिन्दी के कृष्ण काव्य में भागवत् के कृष्ण का ही चित्र अंकित होने के कारण उसमें माधुर्य तत्व की अधिक प्रतिष्ठा हुई है। इस कारण आनन्द-भावना में स्थित होने की जितनी प्रेरणा उससे मिलती है उतनी कार्य की ओर प्रवृत्त होने की नहीं मिलती। इसके विपरीत रामकाव्य में राम के लोक संग्रह विशिष्ट भावों के कारण कर्म की प्रेरणा अनायास ही मिलती है।

प्रेमाश्रयी शाखा के निर्गुणवादी कवियों ने इस्लाम-प्रचार के सम्बन्ध में अपनी प्रवृत्ति को तो नहीं छिपाया, किन्तु सगुणोपासना का खण्डन नहीं किया, इसका ठीक विरोधी व्यवहार ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ने किया;

१. (क) निर्गुण ज्ञानाश्रयी धारा के प्रमुख कवि हैं—कबीर (जन्म संवत् १४५६), रैदास, गुरु नानक (जन्म सं० १५२६), दादू दयाल (जन्म सं० १६०१), सुन्दरदास (जन्म सं० १६५३), मलूक-दास (जन्म सं० १६३१) तथा अक्षर अनन्य (सं० १७१०)।

(ख) प्रेमाश्रयी निर्गुण धारा के प्रमुख कवि हैं—कुतबन (सं० १५५०) मंझन, जायसी (सं०-१५५८) एवं उसमान (सं० १६७०)

* कृष्णावत शाखा के कवियों में सूरदास (लगभग १५८०) नन्ददास (लगभग १६२५) कृष्ण-दास, परमानन्द दास (लगभग १६०६) कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी (सं० १६१२) गोविंद स्वामी, हित हरिवंश, मीराबाई, स्वामी हरिदास, रसखान हैं। इनमें से प्रथम आठ की गणना अष्ट-छाप में की जाती है। रामावत शाखा के कवियों में गो० तुलसीदास (सं० १५८९) स्वामी अग्रदास (सं० १६६२) नाभादास (सं० १५५७) प्राणचन्द चौहान, हृदयमय हैं।

उन्होंने अधिकांश में भारतीय दृष्टिकोण ही का आदर किया, किन्तु सुधारवादी ढंग पर उस परम्परा का अनुसरण किया जो वज्रयानी सिद्धों और नागपंथियों द्वारा प्रतिष्ठित होकर चली आ रही थी और जिसे मुसलमानों की राजनैतिक विजय के कारण और भी अधिक बल और वेग प्राप्त हो गया था। किंतु अन्ततोगत्त्वा काव्य-प्रवृत्ति सगुणोपासना ही का पक्ष लेती दिखायी पड़ी, क्योंकि सगुण ब्रह्म की एक रूपरेखा थी, उनके अनुपम गुणों को धारण करने का व्रत लेकर साधक अपने व्यक्तित्व की साधना में सहज ही अग्रसर हो सकता था। इसके विपरीत निराकारोपासना लोगों को अविश्वसनीय स्वरूप में ही प्रस्तुत हो सकती थी, क्योंकि जो अज्ञात, अचिन्त्य, अरूप, अनाम आदि है उसकी उपासना तो किसी प्रकार संभव नहीं।

रीतिकाल

सं० १७०० से सं० १९०० तक रीतिकाल माना गया है। शुक्ल जी ने इतिहास में रीति-परम्परा का प्रचलन केशव दास से न मानकर चिन्तामणि त्रिपाठी से माना है। इसके दो कारण उन्होंने बताये हैं। (१) केशवदास ने अपना काव्यशास्त्र विवेचन का आदर्श आनन्द वर्धनाचार्य, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों से न लेकर भामह और उद्भट से लिया है, जिनके समय में 'अलंकार' के अंतर्गत रस, रीति, सभी कुछ मान्य था। अपनी 'कविप्रिया' में उन्हांने भामह और उद्भट ही की तरह अलंकार और अलंकरणीय सामग्री के बीच कोई अन्तर नहीं स्थापित किया। (२) केशवदास ने 'कविप्रिया' द्वारा जो परम्परा स्थापित की वह वहीं टूट गयी, आगे बढ़ नहीं सकी। अखंड परम्परा पचास वर्ष बाद ही चल सकी और तब भामह और उद्भट की कृतियों से आदर्श न लेकर 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', काव्यप्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' आदि ग्रंथों से लिया गया। इन ग्रंथों में अलंकार और अलंकरणीय सामग्री दोनों को पृथक-पृथक करके देखने की परिपाटी चल पड़ी थी और स्वभावतः हिन्दी के रीति-ग्रंथों में भी यह विशेषता आ सकी।

रीतिकालीन अखंड परम्परा के अतिरिक्त यदि अन्य दृष्टियों से विचार करें तो रीतिकाल का आरम्भ केशवदास से भी माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य दो बातें हमारे सामने हैं—(१) केशवदास के पूर्ववर्ती किसी भी कवि ने आचार्यत्त्व की दिशा में पाँव नहीं रखा था; हिन्दी के इस क्षेत्र में कार्यशील होने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे। (२) केशवदास ने रामकाव्यधारा को एक नया ही मोड़ दे दिया। तुलसीदास के आध्यात्मिक आवेश और लोकसंग्रहात्मक प्रेरणा के स्थान में केशवदास ने एक व्याव-

हारिक, स्थूल दृष्टिकोण प्रस्तुत किया; जिसमें तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' के अनेक पात्रों के रूप-रंग ही पहचान में नहीं आते।

रीतिकाल में विचारों और भावनाओं की वह उच्चता नहीं रह गयी जो भक्तिकाल में दिखायी पड़ी थी। निर्गुणवादियों की परम्परा तो प्रायः समाप्त ही हो गयी, राम-काव्य की परम्परा भी शिथिल पड़ गयी; केवल कृष्णकाव्य का प्रवाह वेग के साथ बढ़ा और वह भी अपने ऊंचे स्तर से नीचे उतर कर। सूर ने राधा और कृष्ण की कल्पना प्रकृति और पुरुष के रूप में की थी, भावना की इस ऊंचाई पर चढ़ने की शक्ति रीतिकालीन कृष्णकाव्यकारों में नहीं रह गया। वे लौकिक धरातल पर सामान्य नायक-नायिका के रूप में ही कृष्ण और राधा का चित्र अंकित कर सकते थे और वह कार्य उन्होंने पूर्ण मनोयोग के साथ किया।

यह प्रश्न विचारणीय है कि अकेली कृष्णकाव्यधारा, अन्य समसामयिक काव्यधाराओं का बल क्षीण कर के सम्पूर्ण रीतिकाल को क्यों घेरे रह सकी? बात यह है कि सूफी विचारधारा और महाप्रभु वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय विचारधारा में परस्पर जो आघात प्रत्याघात हुए उनसे उत्पन्न बिजली की शक्ति मात्रा में अधिक होने के कारण भक्तिकाल उसे पूर्ण रूप से व्यय नहीं कर सका; उसी अवशिष्ट को अपने प्रतिक्रियात्मक धरातल पर लाकर रीतिकाल ने काव्य में अभिव्यक्ति प्रदान की; अन्य विचार-धाराओं में वह आकर्षण नहीं उत्पन्न हो सका जो उन्हें अधिक समय तक काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए क्षेत्र दे सके। इसके अतिरिक्त प्रेमलक्षणा भक्ति की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति ने शृङ्गाररसपरक काव्य के प्रति मनुष्य की सहज रुचि के साथ संगम स्थापित किया, जिससे कृष्णकाव्य कुछ अधिक समय तक जीवन प्राप्त कर सका। यह मनोवैज्ञानिक सुविधा अन्य विचारधाराओं को सुलभ नहीं थी।

सूरदास ने राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष मान कर शृङ्गार रसपरक काव्य के लिए जो एक स्वीकृत मार्ग प्राप्त कर लिया था, उसका अवलम्ब लेकर चलना रीतिकालीन कृष्णकाव्यकारों में से अधिकांश को सम्भव नहीं प्रतीत हुआ। जान पड़ता है, इसी से उन्होंने काव्यशास्त्र-रचना का, अलंकार और रस-निरूपण आदि का एक मान्य मार्ग आविष्कृत किया। हम देखते हैं कि सम्पूर्ण रीतिकाल में कोई ऐसा आचार्य नहीं हुआ, जो विवेचना के कार्य में ही अपनी दक्षता दिखलाता और कवियों की सृजनात्मक शक्तियों को अधिक रचनात्मक बनाने का प्रयत्न करता। 'सइयां भये कोतवाल अब डर काहे का' के स्थान में कहावत का रूप, यों होता सा जान

पड़ा—'मैं आपै भई कोतवाल अब डर काहे का'। कवि स्वयं ही आचार्य बन गया और अलंकारों तथा नायक-नायिका-सम्बन्धी व्याख्याओं के उदाहरण रूप में सभी तरह की कविताओं को प्रस्तुत करने के लिए अवसर पा गया।

रीतिकाल का अध्ययन करते समय हमें इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि इसके नामकरण की सार्थकता इसी तथ्य में निहित है कि उसके घेरे के भीतर आनेवाले कवियों की एक बड़ी संख्या ने आचार्यत्व का का आवरण ओढ़कर कविता की; इन रीतिबद्ध कवियों के अतिरिक्त जो अन्य कवि कार्यक्षेत्र में उतरे वे सब मिल कर भी उस संख्या की समता में नहीं पहुँच सकते। इस प्रकार रीति-कालीन कवियों का हम निम्नलिखित रूप से विभाजन कर सकते हैं :—

१. कवि-आचार्य श्रेणी
२. विशुद्ध कवि श्रेणी
३. भावुक, स्वच्छन्दतावादी कवि श्रेणी
४. सूक्तिकार-पद्यकार श्रेणी

---

१. प्रथम श्रेणी के अंतर्गत निम्नलिखि तकविउ ल्लेख योग्य हैं :—

केशवदास (जन्म सं० १६१२), चिन्तामणि त्रिपाठी (जन्म सं० लगभग १६६६), मतिराम जन्म सं० १६७४ के लगभग भूषण (जन्म सं० १६७८), देव (जन्म लगभग सं० १७३८) दास (रचनाकाल सं० १७८५-१८०७), भूपति, तोषनिधि, दलपतिराय और बंसीधर, सोमनाथ, रसलीन, रघुनाथ (१७६०-१८१० सं०), दूलह (१८००-१८२५ सं०), बेनी प्रवीन, पद्माकर (जन्म सं० १८१०), ग्वाल कवि, प्रतापसाहि (रचनाकाल १८८०-१८६०), रसिक गोविन्द (रचनाकाल सं० १८५०-१८६०) और गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव की त्रयी।

इन कवि आचार्यों में महाराज जसवंतसिंह का नाम इसलिए नहीं रखा गया कि वे कवि नहीं थे, विशुद्ध आचार्य थे।

२. विशुद्ध कवियों में निम्नलिखित की गणना की जानी चाहिए :—

बिहारी (जन्मसं० १६६०), नागरीदास (जन्म सं० १७५६) बाबा दीनदयाल गिरि (सं० १८५८), पजनेस (सं० १६०० के लगभग), गिरिधर दास (जन्म सं० १८६०), चंद्रशेखर (जन्म सं० १८५५), जोधराज आदि।

३. भावुक, स्वच्छन्दतावादी कवियों में आलम (रचनाकाल सं० १७४०-१७६०), घनानंद (जन्म सं० १७४६ के लगभग), ठाकुर (बुन्देलखंडी, जन्म सं० १८२३) और बोधा (जन्म सं० १८०४) का नाम लिया जा सकता है।

४. सूक्तिकारों और पद्यकारों की अन्तिम श्रेणी में महाभारत का अनुवाद करनेवाले सबलसिंह चौहान (सं० १७१८-१७८१), वृन्द, वैताल (१८३६-१८८६) और गिरिधर कविराज गिने जा सकते हैं। वृन्द ने अपनी सूक्तियों की सतसई का निर्माण सं० १७६१ में किया।

संवत् १९०० से आगे आज तक का समय आधुनिक काल के अंतर्गत है। किन्तु इस काल के अध्ययन के लिए आगे बढ़ने के पहले हमें रीतिकाल में संघटित भारतीय राजनीतिक घटनाओं का चित्र भी अपने सामने रखना चाहिए। औरङ्गजेब की असहिष्णुतामयी नीति के कारण मुगल साम्राज्य का पतन हुआ, मराठा शक्ति ने विकास पाया, योरप की कई व्यापारी कम्पनियों ने भारतीय राजनीति के प्रांगण में प्रवेश किया और अपनी कूटनीति से सब को परास्त कर के अँगरेजों ने अपनी राजसत्ता स्थापित की। रीतिकालीन काव्य की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों के कारण आधुनिककालीन साहित्य के कंधों पर जो भार आया वह तो आया ही, अँगरेजी राजसत्ता से मिलनेवाले दुर्व्यवहार को व्यक्त करने का बोझा भी उसकी पीठ पर चढ़ा। अपने आरम्भ ही में आधुनिक काल ने सिपाही विद्रोह—जिसे वास्तव में स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए भारतीय जनता का प्रथम संघर्ष कहना चाहिए—देखा। रीतिकाल में औरंगजेब ने हिन्दू राष्ट्रीयता को कुचलने का उद्योग किया था; आधुनिक काल में वही उद्योग अँगरेजी साम्राज्यवाद के द्वारा होता हुआ दिखायी पड़ा। हिन्दी कवि हिन्दू राष्ट्रीयता के स्तर से ऊँचे उठ कर भारतीय राष्ट्रीयता के स्वप्न तो नहीं देख सका—यद्यपि कवि की प्रकृत अवस्था में पहुँच कर उसका वैसा करना सर्वथा स्वाभाविक होता—किन्तु उसने जितना भी किया वह हिन्दी काव्य-विकास की दृष्टि से कम नहीं था। हिन्दू राष्ट्रीयता ही के स्तर पर सही, हिन्दी काव्य के क्षेत्र में करुणा-तत्त्व का उदय तो हुआ—वह करुणा तत्त्व जिस पर रीतिकालीन विलासिता ने दो शताब्दियों तक मिट्टी डाल रखी थी। देश और समाज की हितचिंतना जिनके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं था, ऐसे लोगों ने हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य दोनों ही को नष्ट कर डालने का कुचक्र रच रक्खा था; भारतेन्दु की प्रतिभा ने एक ओर राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' जैसे निराश लोगों के सामने हिन्दी भाषा का स्वरूप स्थिर कर के सं० १९३० में उसे नई चाल में ढाला तथा हिन्दी हितैषियों को आशावान बनाया, दूसरी ओर हिन्दी काव्य में विलासिता की सामग्री नारी को हटाकर उसके स्थान में पीड़ित भारतीय मानव की प्रतिष्ठा की। भारतेन्दु की लेखनी-द्वारा यह एक विलक्षण क्रान्ति का प्रवर्त्तन था, जिसका बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है।

आधुनिक काल

राजस्थानी और ब्रजभाषा के गद्य के असफल हो जाने के अनन्तर खड़ी बोली का गद्य विकास के पथ पर चल पड़ा और यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल

न होतीं तो उसे सफल होने में अधिक विलम्ब न लगता। इन प्रतिकूल परिस्थितियों में उर्दू भाषा की उत्पत्ति भी उल्लेख-योग्य है, जो अठारवीं विक्रमी शती के चतुर्थ चरण में मौलाना वली के काव्य प्रयास द्वारा सङ्कटित हुई। उर्दू ने हिन्दी के उस गद्य रूपी चन्द्रमा को राहु की तरह ग्रस लिया जो रामप्रसाद निरंजनी (सं० १७९८), पं० दौलतराम (सं० १८१८), मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़' (सं० १८०३) आदि लेखकों का आश्रय पाकर निरन्तर जनता के बीच में पल्लवित हो रहा था। इंशा अल्ला खाँ ने (रचनाकाल सं० १८५५-१८६०) रानी केतकी की कहानी नाम की पुस्तक ठेठ हिन्दी में लिखने का प्रयत्न किया था। ईसाई धर्म को जनता में प्रचारित करने के उद्देश्य से पादड़ियों ने (सं० १८६६) बाइबिल का अनुवादी हिन्दी में प्रकाशित कराया था। इन सब प्रयत्नों पर धूल डाल कर उर्दू ने अपने गद्य का ढिंढोरा इस तरह पीटा कि अँगरेजी राज्य की कचहरियों में वह दृढ़ता के साथ सत्तारूढ़ हो गयी और ऐसी परिस्थिति आ गयी कि यदि सर सैयद अहमद खाँ की चलती और राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द न उठ खड़े होते तो शिक्षा-विभाग में हिन्दी को स्थान ही न मिलता।

प्रथम उत्थान में सं० १९०० से सं० १९०८ तक के समय को शुक्ल जी ने आधुनिक काल माना है, यह कहा जा चुका है। इस काल के साहित्य का अध्ययन करने के लिए उन्होंने उसे गद्य और पद्य दो विभागों में बाट दिया है तथा प्रत्येक विभाग के पचीस पचीस वर्ष के उत्थान निर्धारित किये हैं। इन उत्थानों का काल-निर्देश इस प्रकार है :—

प्रथम उत्थान	सं० १९२५ से सं० १९५० तक
द्वितीय उत्थान	सं० १९५० से सं० १९७५ तक
तृतीय उत्थान	सं० १९७५ से

भारतेन्दु की 'हरिश्चन्द्रचंद्रिका' का आदर्श लेकर क्रमशः बहुत से पत्र हिंदी में निकलने लगे और हिंदी को समृद्ध बनाने की उच्च भावना से प्रेरित होकर भारतेन्दु के साथ अनेक लेखक—उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, लाला श्रीनिवासदास, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० केशवराम भट्ट, पं० तोताराम आदि—कार्यक्षेत्र में आये। उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि लिखने की ओर ये दत्तचित्त हुए। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' 'प्रेमघन' जी ने 'नागरी-नीरद' और आनंदकादम्बिनी' तथा पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र भी हिंदी साहित्य के सेवार्थ निकाले। इन पत्रों के द्वारा निबंध-साहित्य की अच्छी प्रगति हुई। लाला श्रीनिवासदास

ने अनेक नाटक लिखे तथा हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु' की रचना की। उनसे और भारतेन्दु से पूर्व राजा लक्ष्मण सिंह ने अत्यन्त सरस और कोमल भाषा में कालिदास कृत नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी अनुवाद किया था तथा महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'आनंदरघुनन्दन' नामक नाटक की रचना की थी। संवत् १९५७ में इंडियन प्रेस, प्रयाग से 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ और उसी में हिन्दी की पहली कहानी 'इंदुमती' प्रकाशित हुई। इसके लेखक थे हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार पं० किशोरी लाल गोस्वामी। ठाकुर गदाधर सिंह कृत 'बंगविजेता' के अनुवाद तथा लाला श्रीनिवासदास कृत 'स्वयंवर' नाटक की आलोचना 'आनंदकादंबिनी' में प्रकाशित हुई। स्वयंवर के सम्बन्ध में 'हिन्दीप्रदीप' में उससे भी पहले आलोचना निकल चुकी थी। इस प्रकार 'प्रेमघन' जी तथा भट्ट जी के सहयोग से आलोचना का भी हिन्दी में सूत्रपात हो गया और हिन्दी-साहित्य विविध दिशाओं में फलने-फूलने लगा।

प्रथम उत्थान का समय व्यतीत होने से पहले ही, सं० १९४२ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्वर्गवास हो गया। द्वितीय विभाग में गद्य और पद्य दोनों ही विभागों में अच्छी उन्नति हुई।

प्रथम उत्थान में जिस प्रकार भारतेन्दु ने साहित्य और भाषा-विकास के क्षेत्र में नेतृत्व किया था उसी प्रकार द्वितीय उत्थान में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इन दोनों क्षेत्रों में मार्ग-प्रदर्शन का काम किया। तृतीय उत्थान में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने राष्ट्रीय समीक्षक का स्थान ग्रहण कर योग्यतापूर्वक अपने जीवन के अन्त तक साहित्य-क्षेत्र को कंटकाकीर्ण बनानेवाली अनेक भ्रान्तियों का निवारण किया।

———

अध्याय ३३

हिन्दी साहित्य का इतिहास—३

अध्ययन शैली, संदेश आदि

'बुद्धचरित' काव्य के प्रकाशन से शुक्ल जी की सहृदयता ही का परिचय नहीं मिला, उसमें भूमिका के रूप में संलग्न उनके निबन्ध* ने उनकी भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी क्षमता की भी एक झलक दे दी। इसी प्रकार तुलसी ग्रंथावली और जायसी ग्रंथावली में भूमिकाओं के रूप में जो व्यावहारिक समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं—और जिनकी चर्चा आगे की जायगी—उनसे उनकी आलोचना-विषयक शक्ति के भी दर्शन हुए। उनकी इस बहु-विध योग्यता ने उनके इतिहास-लेखन-कार्य में किस प्रकार सहयोग देकर उसमें निहित अध्ययन-शैली, संदेश आदि का स्वरूप निर्धारित किया, उसकी एक साधारण रूपरेखा का अनुमान करने भर के लिए आवश्यक सामग्री पाठक के सामने उपस्थित की जा चुकी। किन्तु उक्त अध्ययन-शैली, संदेश आदि के सम्बन्ध में कुछ शब्द विशेष रूप से भी कहने की आवश्यकता है।

शुक्ल जी के इतिहास का संदेश

आरम्भ ही में यह स्वीकार करना चाहिए कि शुक्ल जी कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास उतनी सुगठित और सुव्यवस्थित कृति नहीं है जितनी उसे उनके जैसे समर्थ हाथों में पड़ कर होना चाहिए था। यद्यपि यह कथन यथार्थ नहीं है कि उसमें एक निश्चित संदेश का अभाव है, फिर भी यह मान लेने में कोई अड़चन नहीं हो सकती कि वह सुस्पष्ट, सरल, केन्द्रिक अभिव्यक्ति नहीं पा सका है। यदि शुक्ल जी ने अपने संदेश को अधिक से अधिक सुबोध बनाने का प्रयास किया होता तो संभव है उसको ग्राह्य बनाने की भावना उनकी अध्ययन शैली की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखने के साथ साथ उसमें कुछ कोमलता और मृदुता का संचार भी कर सकती।

सब से पहले तो हमें यही देख लेना चाहिए कि शुक्ल जी के इतिहास

*विस्तार-भय से इसका विशेष उल्लेख नहीं किया' जा सका। ले०

में कोई संदेश है भी या नहीं। इस सम्बंध में सहायक उनकी कुछ पंक्तियाँ हमें पृष्ठ ६१ पर मिलती हैं, जिनमें वे कहते हैं :—

"धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। कर्म के बिना वह लूला लँगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदय-विहीन, निष्प्राण रहता है। ज्ञान के अधिकारी तो सामान्य से बहुत अधिक समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म और भक्ति ही सारे जन समुदाय की संपत्ति होती है। हिन्दी साहित्य के आदि काल में कर्म तो अर्थशून्य विधि-विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत-काल में और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराण-काल में हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी कहीं उभरती, किसी प्रकार चली आ रही थी।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में शुक्ल जी ने यही देखना चाहा है कि वीर-गाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक हिन्दी में जिस साहित्य का सृजन हुआ, उसमें जनता की मनोवृत्तियों को प्रतिबिंबित होने का अवसर मिलने के अतिरिक्त ऐसी भी कोई मौलिक प्रवृत्ति क्रियाशील हुई जो तथाकथित धर्म की कुत्सित विकृतियों से जर्जर भारतीय समाज को नूतन शक्ति प्रदान कर सके। आदि काल में जो स्थिति थी उसका दिग्दर्शन उक्त अवतरण में विद्यमान है; भक्ति-काल में भी जब धर्म का अधिक प्राबल्य होने की आशा जा सकती है, ज्ञान, कर्म और भक्ति के सामंजस्य का प्रयत्न यथेष्ट मात्रा में दिखाई नहीं पड़ा। इस ओर संकेत करते हुए शुक्ल जी इतिहास के पृष्ठ ६५ पर कहते हैं—

"साधना के जो तीन अवयव—कर्म, ज्ञान और भक्ति—कहे गये हैं, वे सब काल पाकर दोषग्रस्त हो सकते हैं। * * * इस दृष्टि से यदि हम देखें तो कबीर का 'ज्ञानपक्ष' तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर, सूफ़ियों से जो प्रेमतत्व उन्होंने लिया वह सूफ़ियों के यहाँ चाहे कामवासना-ग्रस्त हुआ हो, पर 'निर्गुण पंथ' में अविकृत रहा है। यह निस्संदेह प्रशंसा की बात है। वैष्णवों की कृष्णभक्ति शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगायी। रामभक्तिशाखा में भक्ति सर्वांगपूर्ण रही; इससे वह विकृत न होने पायी। तुलसी की भक्ति-पद्धति में कर्म (धर्म) और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा।"

रीतिकाल के कवियों में न ज्ञान की प्रवृत्ति थी, न कर्म की और न भक्ति

की; वे तो इन सब से नीचे उतर कर नायिका-भेद की गणना ही में व्यस्त हो गये थे। ऐसी अवस्था में उनके प्रसङ्ग में अभीष्ट सामंजस्य की चर्चा करने की शुक्ल जी ने आवश्यकता नहीं समझी।

किन्तु आधुनिक काल में हम उन्हें पुनः नवीन वातावरण में उक्त सामंजस्य ही की खोज करते पाते हैं। 'कामायनी' में उसकी झलक पाकर वे कहते हैं :—

"ग्रंथ * ('कामायनी') के अन्त में जो हृदय, बुद्धि और कर्म के मेल या सामंजस्य का पक्ष रखा गया है, वह तो बहुत समीचीन है। उसे हम गोस्वामी तुलसीदास में उनके भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता के रूप में दिखा चुके हैं। अपने कई निबन्धों में हम जगत् की वर्त्तमान अशान्ति और अव्यवस्था का कारण इसी सामंजस्य के अभाव को कह चुके हैं।"

'कामायनी' में कर्म के जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की गयी है, उसे अपनी विचार-धारा के अनुकूल न पाकर शुक्ल जी ने उसकी इस प्रकार आलोचना की है :—

"कर्म† को कवि ने या तो काम्य यज्ञों के बीच दिखाया है अथवा उद्योग-धन्धों या शासन विधानों के बीच। श्रद्धा के मङ्गलमय योग से किस प्रकार कर्म धर्म का रूप धारण करता है, यह भावना कवि से दूर ही रही। इस भव्य और विशाल भावना के भीतर उग्र और प्रचंड भाव भी लोक के मङ्गलविधान के अङ्ग हो जाते हैं।"

पं० सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य में भी शुक्ल जी ने कर्म-प्रवृत्ति की खोज की है और उन्हें "छायावाद' और 'रहस्यवाद' से निकलकर स्वाभाविक स्वच्छन्दता (true romanticism) की ओर बढ़ते देख संतोष का अनुभव करते हुए कहा है :—

"पन्त‡ जी ने वर्तमान को जगत् का कर्मकाल मान कर उसके अनुकूल भावों का स्वरूप सामने रखा है। सारांश यह कि जिस मन के भीतर कवि ने इन भावों का अवस्थान किया है वह 'कर्म का मन' है।

इस रूप में कवि यदि लोक-कर्म में प्रवृत्त नहीं तो कम से कम कर्मक्षेत्र में उतरे हुए लोगों के साथ चलता दिखायी पड़ रहा है।"

जो अवतरण यहाँ दिये गये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने मुक्त कंठ से उसी साहित्य की सराहना करने की प्रवृत्ति दिखायी है, जिसमें कर्म के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं रहा है; यहीं हम समझ सकते हैं कि कबीर के प्रति उनमें अनुराग की कमी क्यों थी और तुलसीदास की ओर वे इतने अधिक आकर्षित क्यों थे? शुक्ल जी के इतिहास का यही संदेश है कि इस देश के

* इति० पृ० १४० † इति० पृ० ६६२ ‡ इति० पृ० ७११

साहित्यकार देश की प्रस्तुत परिस्थितियों में जीवन और जगत् से सब सम्बन्ध तोड़ कर आकाश-विहार करने ही में साहित्य की सच्ची सेवा न मानें; तुलसीदास की तरह अपनी वैयक्तिक साधना का लोक-अथवा समाज-साधना के साथ सामंजस्य करें। जो लोग शुक्ल जी के इतिहास में सच्ची, निर्लिप्त भावना से संदेश की तलाश करेंगे वे देखेंगे कि साहित्य के राष्ट्रीय इतिहास-लेखक के रूप में उन्होंने वही संदेश दिया है जो आज के सजग, व्यस्त जीवन की माँग है—कर्म का आग्रह। उनकी समीक्षा की इस अन्तर्निहित विशेषता को स्मरण रख कर जो लोग उनके इतिहास का पारायण करेंगे उन्हें इस ग्रन्थ को जीवित बनानेवाले कीटाणुओं से परिचय प्राप्त हो जायगा। और तब वह उन्हें रोचक और सरस भी प्रतीत होगा।

संदेश असहठित

किन्तु जिन रसग्राही और सद्भाव-सम्पन्न पाठकों को शुक्ल जी का इतिहास जटिल और नीरस जान पड़ता है तथा जो उसे पढ़ने के लिए रात को जागने का प्रयत्न करके भी निद्रा से पीड़ित हो ही जाते हैं, वे सर्वथा दोषी हैं, यह कहना अनुचित होगा। इसमें संदेह नहीं कि अपने कर्म-सम्बन्धी आग्रह को शुक्ल जी ने इतिहास के भीतर ठीक तौर से प्रस्फुटित नहीं किया। क्या ही अच्छा होता यदि उन्होंने ग्रंथ के आरम्भ में एक प्राक्कथन देकर उन सिद्धान्तों की विवेचना कर दी होती जिनके आधार पर वे इतिहास में उल्लिखित कवियों के सम्बन्ध में एक निश्चित निर्णय पर पहुँचे थे। इतिहास में विभिन्न कालों के आरम्भ में जो सामान्य परिचय दिया गया है, उसमें भी संक्षिप्त रूप में उक्त विवेचन की पुष्टि होती चलनी चाहिए थी। इस प्रकार पाठक को एक ऐसा सूत्र मिल जाता जिसके सहारे वह लगभग एक सहस्र पाठ्य पृष्ठों की पाठ-यात्रा सुविधापूर्वक कर लेता। इस परिपाटी के अभाव में शुक्ल जी ने कहीं तो अपने अनुयायी अध्येता को अपने दीपक का प्रकाश दिया है और कहीं दीपक को छिपा लिया है। उदाहरण के लिए रीतिकालीन कवियों के अध्ययन में कम से कम एक अनुच्छेद तो दिया जा सकता था, जिसमें यह बतला दिया जाता कि आश्रय-प्राप्ति के लिए दरबारों की खाक छाननेवाले कवियों ने काव्य के मानदण्ड को एक दम से नीचा कर दिया; उनकी कविता ने ज्ञान, कर्म और भक्ति में सामंजस्य झलकाने के स्थान में अज्ञान, अकर्म और अभक्ति का समन्वय किया तथा सैकड़ों वर्षों तक हिन्दी पढ़नेवाले समाज को कूप-मण्डूकता की अँधेरी कोठरी में बन्द कर मानसिक अगति, असमर्थता, संकीर्णता का ताला लगाये रक्खा।

उक्त विवेचन में यदि शुक्ल जी द्वारा यह समझा दिया जाना सम्भव

होता कि सूर और तुलसी में, कबीर और सूर में तथा कबीर और तुलसी में यदि कहीं अभिन्नता है तो कहीं भिन्नता भी है और आज पाठक के लिए उनकी भिन्नता को जान लेना भी, भावी साहित्य-प्रगति की दृष्टि से, उतना ही आवश्यक है जितना उदारतापूर्वक अभिन्नता की घोषणा करना, तो शुक्ल जी के सामाजिक कल्याण-भावना प्रेरित विचारों के प्रति इतनी मिथ्या धारणाओं का प्रचार सम्भव न होता। कबीर, सूर और तुलसी हमारे समाज की बिभूतियाँ हैं और हमें चाहिए कि उनके काव्य का निरपेक्ष अध्ययन करने वाली समीक्षा-शैली का हम आविष्कार करें। अधिक और अनुचित उत्साहपूर्वक पक्षग्रहण करके हम अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मार लेंगे, क्योंकि उस अवस्था में हमारा अध्ययन हमारी कुछ भी सहायता नहीं कर सकेगा, उसके हम साहित्यगत किसी सत्य के समीप नहीं पहुँच पायेंगे।

कबीर, सूर और तुलसी के काव्य का अधिक से अधिक निरपेक्ष अध्ययन भी यह सिद्ध नहीं कर सकेगा कि इन तीनों में समन्वित कर्म के प्रति प्रेरणा की प्रवृत्ति समान रूप से विद्यमान है। यदि कबीर में उक्त कर्म के प्रति उपेक्षा पायी जायगी तो सूर में भी उसके लिए विशेष प्रवृत्ति नहीं है। इन दोनों ही के विपरीत तुलसीदास के काव्य के एक प्रमुख अंश में मनुष्य के पराक्रम का आह्वान मिलता है। मैं यह नहीं कहता कि केवल इस विशेषता के कारण तुलसीदास सर्वश्रेष्ठ मान लिये जायँ, किन्तु मेरा तात्पर्य यह अवश्य है कि लोकसंग्रहात्मक भावों की अपेक्षा रखनेवाले समाज की मानसिक स्थिति के लिए तुलसीदास का समन्वित कर्मोन्मुखी काव्य अधिक उपयुक्त हो सकता है और यदि साहित्य के राष्ट्रीय इतिहास का लेखक उक्त उपयुक्तता की घोषणा करने के प्रलोभन में पड़ जाय तो यह अस्वाभाविक परिस्थिति नहीं है। मेरी समझ में शुक्ल जी की स्थिति ठीक यही नहीं तो इससे बहुत भिन्न नहीं थी। एक विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण की व्यावहारिकता की ओर आकर्षित होने के कारण—जिसका उल्लेख अगले अध्यायों में होगा—वे कवि द्वारा लोक-संग्रहात्मक भाव-विकास को शाश्वत महत्व भी देते थे और लोकसंग्रहात्मक रचना के साथ स्वभावतः लिपटी चली आने वाली सर्वदिग्गामिनी सहानुभूति को, कवि के लिए विशिष्ट गौरव देनेवाली समझते थे, किन्तु प्रत्येक अवस्था में यदि वे अपने आधारभूत सिद्धान्तों की एक संक्षिप्त निर्देशिका देकर आगे बढ़ते तो उनके निर्णयों की प्रतीयमान निरंकुशता दुर्बोधता और आकस्मिकता बहुत अधिक मात्रा में सरलता, सुबोधता एवं मनोहरता में परिणत हो जाती।

जिस विवेचना की यहाँ चर्चा की गयी है, उसमें यदि शुक्ल जी प्रवृत्त हुए होते तो उन्हें आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक के कवियों की समीक्षा के लिए एक सामान्य कसौटी निर्धारित करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ होता। उदाहरण के लिए उन्होंने सूर और तुलसी के अध्ययन के लिए 'शक्ति, शील, सौन्दर्य' का सिद्धान्त निकाला, किन्तु यही सिद्धान्त कबीर, जायसी तथा अनेक अन्य कवियों के अध्ययन में उपयोगी नहीं प्रमाणित हुआ। भिन्न-भिन्न कवियों के पृथक् पृथक् अध्ययन के लिए पृथक् पृथक् मार्ग निकालना अनुचित नहीं है; किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इतिहास में एक सामान्य, सर्वमान्य कसौटी के न होने से, उसके संदेश का समन्वित प्रभाव सङ्गठित नहीं हो सका है।

शुक्ल जी के इतिहास की श्रेष्ठता

जो हो, यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी का इतिहास ही पहला इतिहास है—और अभी तक पहला इतिहास बना हुआ है— जिसने हमारे ईश्वर-तत्त्वान्वेषण के क्षेत्र में विभिन्न युगों में कार्यशील जीवन-केन्द्रापसारी और जीवन-केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियों के वैयक्तिक शक्तिसंग्रह-प्रयास से उत्पन्न असंतुलन की हानियों और उनके परस्परिक सामंजस्य से प्रसूत संतुलन के लाभों को समझा है और हिन्दी साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति का उचित मूल्याङ्कन किया है। यह ठीक ही है कि यह संतुलन शुक्ल जी को सर्वाधिक मात्रा में तुलसीदास के काव्य में दिखायी पड़ा है। किन्तु जहाँ यह स्वीकार करना हमारा धर्म है वहाँ यह जानने का प्रयत्न करना भी हमारा कर्त्तव्य है कि उक्त संतुलन के निर्देश एवं रक्षा के लिए जिस जगह सजग होकर उन्हें खड़ा रहना चाहिए था वहाँ से वे तनिक भी विचलित तो नहीं हुए, तनिक भी मोहग्रस्त तो नहीं हुए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए इन समीक्षाओं पर हमें एक दृष्टि डालनी चाहिए।

शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के विवेचनात्मक पार्श्व के उत्कृष्टतम अंश—व्यावहारिक समीक्षण—के क्षेत्र में अब हम पहुँच रहे हैं। तुलसीदास, मलिक मुहम्मद जायसी और सूरदास के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे आगे आनेवाली लेखनी अभी हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में कार्यशील नहीं हुई है, यह प्रायः मान्य है। इस कथन की सार्थकता से अवगत होने के लिए भी इन समीक्षाओं से हमें परिचित होने की आवश्यकता है।

उक्त प्रेरणाओं को लेकर हम आगे के पृष्ठों में रोचक अनुसंधान के प्रयास में प्रवृत्त होंगे।

———

अध्याय ३४

शुक्ल जी की व्यावहारिक समीक्षा—१

सूर, जायसी और तुलसी की मान्यताएँ

सूर, जायसी और तुलसी की व्यावहारिक समीक्षाओं में शुक्ल जी की एक प्रवृत्ति हमारे सामने अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाती है और वह यह कि उनका हृदय न तो शंकराचार्य के अद्वैतवाद में रमता है, न बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद में। उन्हें काव्य में आनंद की सिद्धावस्था और साधनावस्था की खोज प्रिय है; दोनों को समन्वित रूप में देखने की अपेक्षा उनमें पायी जाती है और यथेष्ट रूप से इनमें से किसी में भी दोनों की उपलब्धि संभव नहीं है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की मान्यता के कारण काव्य में न आनन्द की सिद्धावस्था के लिए उपयुक्त है और न 'मायावाद' की समन्विति की बाधा से साधनावस्था ही को आश्रय दे सकता है। रहा बल्लाभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद, सो वह काव्य में सिद्धावस्था को पोषण प्रदान करने में समर्थ होकर भी साधनावस्था के प्रति अनुकूलता नहीं रखता। इन दोनों ही के विपरीत, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में हमें वे तत्त्व मिलते हैं जो काव्य में सिद्धावस्था के प्रति उतने ही सहयोगी हैं, जितने साधनावास्था के। शुद्धाद्वैतवाद में निहितअंशी के प्रति अंश की विलयकामना विशिष्टाद्वैत में समाविष्ट चित् के प्रति अचित् की तन्मयता-भावना से भिन्न नहीं है; साथ ही विशिष्टाद्वैतवाद में एक विशिष्टता यह दिखायी पड़ती है कि वह उस प्रयत्न-पक्ष, कर्म-प्रसार-तत्त्व के लिए भी अवकाश प्रस्तुत करता है जिसकी शुक्ल जी को अपेक्षा है। शंकराचार्य के अद्वैत ब्रह्मवाद ने जीवन और जगत् को मायावाद के हवाले करके कर्म के लिए प्रोत्साहन की कोई प्रवृत्ति नहीं रखी; इसी प्रकार बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद ने भी प्रेमलक्षण भक्ति को ही प्रधानता देकर कामुकता के विकास के लिए द्वार खोला तथा कर्म-प्रेरणा की ओर से आँख मूँद ली थी। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद में एक ओर तो ज्ञान के साथ

कामोत्तेजक दार्शनिकवाद

साथ भक्ति ने विकास पाया, दूसरी ओर कर्म भी अपने प्रकृत रूप में उपस्थित हुआ। आनंद की सिद्धावस्था और साधनावस्था के समन्वय को ज्ञान, भक्ति और कर्म के प्रकृत रूपों का समन्वय ही समझना चाहिए, हिंदी काव्य में जिसके अनुसंधान की ओर शुक्ल जी के निरंतर सचेष्ट रहने की चर्चा की जा चुकी है। इन सब बातों के विचार से विशिष्टाद्वैतमत की ओर शुक्ल जी के हृदय में एक स्निग्ध भाव का होना सर्वथा स्वाभाविक समझ पड़ता है। शुक्ल जी की कृतियों ही में यत्र-तत्र जो विचार व्यक्त हुए हैं, उनके आधार पर हमें इस निर्णय पर पहुँचने के लिए बाध्य होना पड़ता है। किंतु शुक्लजी के इन विचारों का परिचय देने एवं उनके द्वारा अनुमोदित आनंद की साधनावस्था अथवा कर्म-सम्बन्धी आग्रह किस सीमा तक औचित्यपूर्वक काव्य की उत्कृष्टता और अनुत्कृष्टता का निर्णायक हो सकता है, इस पर विचार करने के पहले यह देख लेने की आवश्यकता है कि उक्त तीनों ही कवियों की सामान्य प्रवृत्तियाँ क्या थीं, प्रसंग द्वारा कबीर की चर्चा आ जायगी।

सगुणोपासक कवियों की लोकप्रियता का रहस्य

परोक्ष-सत्ता के निर्गुण-समन्वित सगुण स्वरूप की उपासना केवल व्यावहारिक ही नहीं थी, उसमें एक विशेषता और थी, और वह यह कि वह भारतीय संकृति की उस समन्वय-परम्परा की प्रतिनिधि थी जो वैदिक काल से चली आ रही थी और जो बौद्ध दर्शन के प्रबल आघात से किसी प्रकार बचकर अपने रूप की रक्षा कर रही थी। निर्गुणवादी कवियों में न ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों को इस परम्परा की रक्षा की चिन्ता थी और न प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों को। जिन्हें सगुणोपासक कहा जाता है—किन्तु जो वास्तव में परोक्ष सत्ता के निर्गुण रूप के उतने ही भक्त थे जितने सगुण रूप के, जो दोनों को पृथक् रूप में देखते ही नहीं थे—उन्हीं कवियों ने उक्त परम्परा को प्रचलित रक्खा और इसी कारण वे अधिक लोकप्रिय हुए।

कवियों के काव्य को हमें उनकी व्यक्तिसाधना और लोकसाधना की कसौटी पर कसना चाहिए। व्यक्तिसाधना के क्षेत्र में कबीर, जायसी, सूर और तुलसी में कोई उल्लेख-योग्य भिन्नता नहीं दिखायी पड़ेगी, इसी कारण इनमें से किसी के काव्य को संहसा हीन श्रेणी का कहना संभव नहीं है। किन्तु जहाँ लोक साधना का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि जायसी, सूर और कबीर—इन तीनों की अपेक्षा तुलसीदास अधिक

सफल हुए। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि अंततोगत्वा व्यक्तिसाधना ही साध्य है और लोकसाधना साधन मात्र। सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा करने के रूप में सूरदास और तुलसीदास ने लोकसाधना की जो शैली अपने काव्य में अपनायी, उसकी सफलता उनकी व्यक्तिसाधना की उत्कृष्टता पर प्रधान रूप से अवलम्बित है; लोकसाधना ने उसे केवल एक अतिरिक्त सौन्दर्य प्रदान किया है। अतएव यह सोचना ठीक नहीं है कि अकेली लोकसाधना के आधार पर कोई कवि महान् काव्य की रचना कर सकता है अथवा उसकी विशिष्टता के कारण ही समस्त कवियों में श्रेष्ठ माना जा सकता है।

उक्त सभी कवियों में तुलसीदास अपने आराध्य के प्रति तन्मयताकी दृष्टि से किसी से कम नहीं हैं, साथ ही लोक संग्रह की दृष्टि से सबसे बढ़े हुए हैं। यह लोक-संग्रह क्या है और इसका क्या रूप है, इसे समझ लेना चाहिए।

वैदिक संस्कृति के विरोध में खड़े होकर बौद्ध दर्शन ने यह शिक्षा दी थी कि जो कुछ दिखायी देता है उसका कोई अस्तित्व नहीं है, न अस्तित्व था और न अस्तित्व रहेगा। वर्णाश्रम व्यवस्था से उत्पन्न धर्माचार्यों के विभिन्न 'वाद' विकृतियों के कारण ही इस सर्वग्राही सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ी थी। कालान्तर में इस सिद्धान्त के व्यवहार-पक्ष में भी विकृति आयी। शंकराचार्य ने इसका खंडन किया और कहा कि जो कुछ दिखायी देता है उसका अस्तित्व है, पहले भी था और आगे भी रहेगा। जगत् का उद्गम खोजते हुए वे अनिर्वचनीय ब्रह्म तक पहुँचे और जीव एवं जगत् से उसकी अभिन्नता बतायी। जीव और ब्रह्म के बीच में प्रतीयमान व्यवधान को उन्होंने माया बतलाया और उसको हटाकर ब्रह्म में लय प्राप्त करना ही जीव का लक्ष्य निर्धारित किया। उन्होंने विवर्त्तवाद की स्थापना की जिसका आशय यह है कि जगत् न ब्रह्म का कार्य है और न परिणाम है, वह उस पर आरोप मात्र है; आरोपित जगत् की प्रतीति मात्र ही भ्रान्ति है, माया है, जिससे छुटकारा पाना ही जीव का लक्ष्य है। इस मायावाद पर बौद्ध दर्शन की छाप स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ी। शंकर मत का अनुयायी 'माया' पर विजय प्राप्त करने की साधना के नाम पर कर्म-प्रवृत्ति से छुटकारा लेने लगा। कर्म के प्रति जो उपेक्षा चली आ रही थी वह ज्यो की त्यों बनी रही।

रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के सिद्धान्त में त्रुटि देखी और उसमें

संशोधन उपस्थित किया; उन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार किया, यह घोषणा की कि ब्रह्म अद्वैत भी है, द्वैत भी है चित् भी है अचित् भी है, चेतन भी है, जड़ भी है, दोनों ही विशेषताओं से सम्पन्न है। अद्वैत निर्गुण ब्रह्म केवल ज्ञान मार्ग के लिए उपयुक्त था; द्वैत सगुण ब्रह्म भक्ति के भी उपयुक्त हो गया। इसी द्वैतता में करुण तत्त्व की भी उपलब्धि हो गयी। यह करुणा-तत्त्व भगवान् के हृदय से चलकर भक्त मात्र के लिए कर्म-प्रेरक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। बौद्ध दर्शन की विकृतियों ने जिस अकर्मण्यता का संचार कर दिया था उससे पीछा छूटने की आशा बढ़ी।

रामानुजाचार्य ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना करके उसके द्वारा विष्णु या नारायण और लक्ष्मी की उपासना प्रचारित की जिसका श्रीगणेश वास्तव में बहुत पहले पौराणिक धर्म के उत्थानकाल में हो गया था। विष्णु त्रिगुणात्मक अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार तीनों ही प्रकार कर्म की क्षमता से सम्पन्न माने गये। विष्णु की सहधर्मिणी लक्ष्मी में भी इन तीनों शक्तियों का अधिष्ठान किया गया। रामानुजाचार्य की चौदहवीं पीढ़ी में रामानन्द हुए, जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना के लिए ग्रहण किया। रामानन्द के विष्णु के बैकुंठवासी रूप के स्थान में उनके लीला-विस्तार रूप को अधिक मान्यता दी।

रामानन्द के शिष्य न होने पर भी तुलसीदास ने रामानन्द द्वारा प्रचारित रामरूप को ही उपासना के लिए अपनाया एवं राम की कथा को "रामचरितमानस" नामक महाकाव्य में, अपनी लोकोत्तर काव्य-प्रतिभा के द्वारा अत्यन्त सरस और प्रभावमयी अभिव्यक्ति प्रदान की। इस ग्रन्थ के बालकांड के आरम्भ ही में उन्होंने कहा—

'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंध मति मंजुलमापनोति।'

इसी श्लोक के भीतर वे सब तत्त्व हैं जो तुलसीदास के लोकसंग्रह-भाव को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं; उनका कहना है कि अठारह पुराण, चार वेद तथा छः शास्त्रों से जो सम्मत है, जो बाल्मीकि रामायण में कहा गया है उसका सार लेकर तथा कुछ अन्यत्र से भी ग्रहण करके मैं अपनी अंतरात्मा की शान्ति के लिए रामचरित्र का वर्णन कर रहा हूँ। ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी निर्गुणवादियों की विचार-धारा देश में फैली हुई थी, मुगल-साम्राज्य का अंधकारमय शासन चारों ओर से समाज को घेर कर उसे कमल-वन की तरह विषाद-मग्न बना रहा था; ऐसे समय उन्होंने लेखनी

उठायी। यह कहना गलत है कि 'रामचरितमानस' की रचना में वे एक मात्र व्यक्तिसाधना से प्रेरित थे। निस्सन्देह व्यक्तिसाधना उनका मूल उद्देश्य था, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अवसर पाकर उन्होंने अत्यन्त व्यंजनात्मक ढंग से सामाजिक परिस्थितियों पर अपने विचार प्रगट नहीं किये। तुलसीदास की अपेक्षा सूर को कम अवसर मिला, किन्तु जहाँ मिला है वहाँ वे भी चूके नहीं हैं। ये दोनों ही महात्मा भारतीय भक्ति-पद्धति के अनुयायी थे और निर्गुण विचार-धारा से इनका कोई विरोध नहीं था, ये तो निर्गुण और सगुण में कोई अन्तर ही नहीं मानते थे, किन्तु जिस धूम-धाम से सगुणोपासना के विरुद्ध प्रचार किया जा रहा था, उसके प्रति विरोध की एक कलात्मक झलक 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर' में नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। बौद्धदर्शन की विकृतियों से ऊबे हुए समाज के सद्विवेक को न कबीर की समालोचना लुभा सकी और न सूर की रस-मग्नता उसकी जीवन-दर्शन-पिपासा को शान्त कर सकी। जिह्वा सभी प्रकार के रस चाहती है और समाज का हृदय कर्मक्षेत्र में अपनी व्यथा का शमन नहीं कर पाता था तो काव्य में ऐसा चित्र देखने के लिए अधीर हो रहा था जिसमें उसे सत्य के अनेक विरोधी रूपों में से उनकी अन्तर्निहित एकता को झलकानेवाला कोई सर्वमान्य, समन्वयशील सत्य आविर्भूत हो जाय। यह चित्र 'रामचरितमानस' में अंकित हुआ और उससे करोड़ों अतृप्त मनों को तृप्ति प्राप्त हुई

व्यक्तिसाधना की उत्कृष्टता की दृष्टि से कबीर, जायसी, सूर और तुलसी में कौन सर्वश्रेष्ठ है, यह कहना तो कठिन है, किन्तु यह कहना निर्विवाद है कि तुलसीदास ने अपने भक्ति-विषयक आवेश के भीतर लोक-वेदना को भी गर्भित करके सोये हुए, जड़ीभूत समाज की सोयी हुई भावनाओं को पहचाना तथा उन्हें अपने काव्य द्वारा उद्बोधित करके महत्वपूर्ण कार्य किया। वास्तव में उनके द्वारा एक ऐतिहासिक अभाव की पूर्ति हुई और वह इतनी सुन्दरता के साथ सम्पन्न हुई कि जिस पराकाष्ठा को उन्होंने हिन्दी काव्य को पहुँचा दिया उससे अधिक ऊँचाई तक गति संभव न होने के कारण उसका तुरन्त ही अधःपतन शुरू हो गया। ज्ञान, भक्ति और कर्म का जो समन्वय तुलसीदास के काव्य में देखा गया था वह फिर हिन्दी काव्य के लिए स्वप्नवत हो गया।

तुलसीदास द्वारा एक ऐतिहासिक अभाव की पूर्ति

कबीर की व्यक्तिसाधना उच्च कोटि की थी। रहस्योन्मुख होकर परोक्ष

सत्ता के प्रति अपने आत्मसमर्पण एवं अपनी गहरी तन्मयता को उन्होंने अनेक प्रकार से मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है।

कबीर में भी लोक-संग्रह-प्रवृत्ति

जहाँ तक लोक-संग्रह का सम्बन्ध है, उन्होंने अपनी दृष्टि में समाज के कल्याण के लिए ही निर्गुणवाद का प्रवर्त्तन किया था, और यह कहा जा सकता है कि एक सीमा तक वे भी लोक-संग्रह-भावना से प्रभावित थे।

इस संक्षिप्त कथन के अनन्तर अब सूर, जायसी तथा तुलसीदास की मान्यताओं की चर्चा की जायगी।

कहा जा चुका है कि पौराणिक धर्म के उत्थान काल मे विष्णु और लक्ष्मी की पूजा बढ़ी, वासुदेव, श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार रूप में मान्य हुए। व्यासदेव ने महाभारत के अंशरूप श्रीमद्भगवद्-गीता में भक्तितत्त्व की भी प्रतिष्ठापना की। रामानुजाचार्य के अनुयायी स्वामी निम्बार्काचार्य में विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की पूजा के साथ-साथ लक्ष्मी के स्थान में गोपी का समावेश किया। स्वामी मध्वाचार्य (सं० १२५४-१३३३) ने विष्णु की प्रतिष्ठा हरि के रूप में की। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में कृष्ण के साथ राधा का प्रथम बार उल्लेख हुआ। विद्यापति ने अपनी पदावली में श्रीकृष्ण और राधा का चित्रण किया। विद्यापति और जयदेव से प्रभावित होकर तथा महाप्रभु वल्लभाचार्य की दार्शनिक विचाराधारा को ग्रहण कर सूरदास ने अपने पद कहे।

शुद्धाद्वैतवाद

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूफी विचार-धारा से टक्कर लेने का उद्देश्य से एक ओर तो शंकर के 'मायावाद' को हटाया, दूसरी ओर रामानुजाचार्य की चिदचिद्विशिष्टता से भी पीछा छुड़ाया। इस प्रकार उन्होंने शुद्ध अद्वैतवाद की स्थापना की। उनके सिद्धान्त की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) पारमार्थिक अथवा परोक्ष सत्ता निर्गुण नहीं है, सगुण है और वह सगुण रूप श्रीकृष्ण का ही है, जो आनन्द के नित्य लोक में सदैव विहार करते रहते हैं। उनमें सत्, चित्, आनन्द—ये तीनों तत्त्व अपने पूर्ण रूप में विद्यमान रहते हैं। उनका कभी नाश नहीं होता।

(२) सगुण ब्रह्मरूप श्री कृष्ण लीला के उद्देश्य से अपने अंशों को अपने से पृथक् करते हैं। जब उनके अंश 'आनन्द' से रहित और 'सत्' 'चित्' से युक्त होते हैं तब 'जीव, की उत्पत्ति होती है, जिसमें अस्तित्व और

चेतना दोनों है, किन्तु आनंद का अभाव है। किंतु जब उनके अंशों में 'आनंद' और 'चित्' दोनों का अभाव हो जाता है और केवल 'सत्' विद्यमान रहता है तब 'जड़' मात्र ही उपस्थित होता है।

(३) जीव तीन प्रकार के होते हैं—पुष्टि जीव, मर्यादा जीव और प्रवाह जीव। पुष्टि जीव वे हैं जो पोषण प्राप्त कर चुके हैं और कृष्ण की नित्य-लीला में प्रवेश प्राप्त करने के अधिकारी हैं। मर्यादा जीव वे हैं, जिनका विकास मध्यम कोटि का है, जो स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यत्नशील रहते हैं और वेद-शास्त्र द्वारा निर्धारित नियमों को मान कर चलते हैं। प्रवाह जीव वे हैं जो लौकिक सुख पाने के लिए अधीर रहते हैं जो सांसारिक वासना के प्रवाह में निरन्तर बहे जा रहे हैं।

(४) कृष्ण पुरुषोत्तम प्रियतम हैं, जीव उनकी प्रेमिका राधा है। दोनों ही का मिलन रासलीला कहलाती है।

(५) भक्ति में पूज्यभाव अथवा श्रद्धा की आवश्यकता नहीं, वात्सल्य अथवा प्रेम उसके लिए पर्याप्त है। इसलिए कृष्ण की उपासना के लिए उनका बालरूप अथवा राधावल्लभ रूप ही ग्रहण करना चाहिए।

(६) प्रवाह जीव का मर्यादा जीव की गति प्राप्त करना तथा मर्यादा जीव का पुष्टि जीव की श्रेणी में पहुँचना जीव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है।

महाप्रभु बल्लभाचार्य का यह पुष्टिमार्ग बड़े धूमधाम से चला। सं० १५८० के लगभग सूरदास इसी मत में दीक्षित हुए।

सूरदास के काव्य में लोक-संग्रह भावना की कमी बतायी गयी है। मैं कह चुका हूँ कि लोक-संग्रह का, काव्य में, साधन ही के रूप में उपभोग हो सकता है। साधनों की प्राप्ति अवसर-सापेक्ष होती है, यद्यपि यह भी सही है कि मनोवृत्तियों का वेग उन्हें खोज भी लेता है। सूर का क्षेत्र गार्हस्थ जीवन तक अवश्य परिमित है, किन्तु बालगोपाल और राधावल्लभ श्रीकृष्ण का चित्रण उन्होंने जिस आवेश के साथ किया है वह काव्य की अनमोल सम्पत्ति है।

एक ओर कबीर और जायसी तथा दूसरी ओर तुलसीदास और सूरदास की काव्य प्रवृत्तियों के आधारभूत सिद्धान्तों की हम तुलना करते हैं तो यह प्रगट होता है कि जहाँ कबीर और जायसी में आत्मविसर्जन मात्र की भावना है, वहाँ तुलसीदास और सूरदास में बाल्मीकि के काव्य-काल से मान्य कवित्त्व के प्राण-स्वरूप करुणा-तत्त्व का भी समावेश है। यह

करुणा-तत्त्व तुलसीदास में किस रूप में और सूरदास में किस रूप में व्यक्त हुआ है, यह और बात है।

प्रेमाश्रयी शाखा के निर्गुणवादी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। जायसी भी कबीर ही की तरह अपने ढंग पर ब्रह्म के निर्गुण रूप के प्रचारक थे, किन्तु इस्लाम के प्रचारक होकर भी, विधान-प्रियता के कारण वेद-शास्त्रादि की निंदा नहीं की। सूफी विचार-धारा ने कबीर को कटुवादी होने से नहीं रोका, किन्तु उसी से प्रेरित होकर जायसी उदार बने रहे। कारण यह है कि सूफी साधकों के लिए (१) शरीअत, (२) तरीक़त, (३) हकीकत और (४) मारफ़त—इन चार विधानों की मान्यता अत्यंत आवश्यक है। ये हमारे यहाँ के (१) कर्मकांड, (२) उपासनाकांड, (३) ज्ञानकांड और (४) सिद्धावस्था के समानार्थी हैं।

सूफीवाद

रहस्यवादी काव्य के क्षेत्र में, जहाँ तक कलात्मक साधनों के प्रयोग की बात है, जायसी कबीर से बढ़े हुए हैं। परोक्ष सत्ता का स्वरूप झलकाने के लिए जिन दृश्यों का प्रयोग जायसी करते हैं वे हृदय को स्पर्श करने में अधिक सफल होते हैं। इस दृष्टि से कबीर की अपेक्षा वे अधिक सहृदय हैं। जायसी के सम्बन्ध में एक बात स्मरण रखनी चाहिए और वह यह कि वे धार्मिक संस्कार रखते हुए भी अधिकांश में कवि थे और साम्प्रदायिकता ने उनके काव्य में उतनी ही हद तक बाधा नहीं डाली जिस हद तक तुलसीदास और सूरदास के काव्य में नहीं डाली थी। परोक्षसत्ता में आत्मलय (फना होना) की भावना से वे प्रेरित थे। कबीर आत्मलय की भावना से प्रेरित होकर भी अधिकांश में सिद्धान्तों के प्रचारक थे, उतनी मात्र में कवि नहीं थे।

सूफी विचार-धारा में मानव व्यक्तित्व के चार विभाग किये गये हैं—(१) नफ़्स; (२) रूह, (३) क़ल्ब; (४) अक्ल। हमारे यहाँ (१) विषम-वासना; (२) आत्मा अथवा चित् (३) हृदय और (४) बुद्धि इनके समानार्थी हैं। इसी प्रकार उन्होंने चार प्रकार के जगत् या लोक भी माने हैं। ये हैं—(१) आलमे नासूत अर्थात् भौतिक जगत् (२) आलमे मलकूत, अर्थात् आत्मा का, चिन्मय लोक, (३) आलमे जबरूत अर्थात् आनंदमय लोक और (४) आलमे लाहूत, अर्थात् सत्य लोक, ब्रह्म। सत्य लोक में फ़ना (विसर्जित) होना सूफी का लक्ष्य है। इसके लिए वह अपने फ़क़द (अहंकार) और सुक्र (प्रेममद) को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। इस

प्रयास के द्वारा वह अपने अभीष्ट को प्राप्त करता है, जिसकी प्रक्रिया को 'वज्द' कहते हैं। अभीष्ट (परमात्मा) में स्थिति को 'बक़ा' और सम्मिलन हो जाने पर पूर्ण शान्ति मिलने को 'शह्द' कहते हैं। इन भावों को व्यक्त करने के प्रयास में जायसी 'विवर्त्तवाद' 'प्रतिबिम्बवाद' आदि सिद्धान्तों के पास पहुँच जाते हैं, जो वेदान्त में प्रचलित हैं। 'विशिष्टाद्वैतवाद' की झलक भी उनमें मिलती है। इस प्रकार जायसी की सूफी विचारधारा का, उनके काव्य में, शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों से मेल होता चलता है।

सूर और जायसी की मान्यताओं को हम देख चुके, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी नाम मात्र की साम्प्रदायिकता अनन्त सहृदयता के सिंधु में विलीन हो गयी है। यह बात कबीर के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती; वे तो वास्तव में एक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे, जिसमें उदारताओं के साथ-साथ अनेक संकीर्णताओं का भी समावेश था। तुलसीदास में तो उक्त साम्प्रदायिकता प्रायः शून्य तक पहुँच गयी है, क्योंकि उनमें समन्वय की प्रवृत्त सब से अधिक है। उनकी समस्त मान्यताएँ राम के व्यक्तित्त्व में केन्द्रित हैं, और वह व्यक्तित्त्व सार्वभौम तथा सार्वकालीन विभूतियों से युक्त है।

समन्यवादी तुलसीदास के राम

तुलसीदास के राम को हम निर्गुण परोक्ष सत्ता के रूप में ग्रहण करें, जैसा कबीर और महात्मा गांधी ने किया, अथवा परोक्ष सत्ता के सगुण अवतार-स्वरूप उन्हें मानें, जैसा गोस्वामी तुलसीदास ने माना, अथवा केवल एक महापुरुष के रूप में स्वीकार करें, जैसी कि आधुनिक ऐतिहासिक भौतिकवादियों की प्रवृत्ति है, हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राम का व्यक्तित्त्व उस हिमालय पर्वत की तरह ही उच्च, दुर्गम और महान, है जिसके पैर इस पृथ्वी पर हैं, किन्तु जिसका सिर आकाश की गोद में विश्राम करना चाहता है। किशोर राजकुमार के रूप में, प्रेमी के रूप में, पति के रूप में, तपस्वी के रूप में, योद्धा के रूप में, राजा के रूप में विचित्र, विलक्षण और भयावह परिस्थितियों में पड़ कर उन्होंने तदनुरूप आत्मगौरव, त्याग, दृढ़ता, संकल्प, स्नेह, उदारता, धैर्य्य, दानवीरता, अनुशासनप्रियता आदि सद्गुणों का जिस प्रकार परिचय दिया एवं सभी का उपयोग मानव के विकास के लिए कर के एक आदर्श उपस्थित किया उससे मनुष्य को अपने अधिकारों के आग्रह में सीमित तथा कर्त्तव्यपालन की ओर अधिक दत्तचित

होने का उपदेश मिला। अपनी इसी विशेषता के कारण वे अनन्त काल से मानव-समाज में 'मर्य्यादा पुरुषोत्तम' की उपाधि से अलंकृत हैं और रहेंगे।

जीवन का सब से महान् अनुभव, जो मानव-समाज को अब तक प्राप्त हो सका है, समन्वय का सिद्धान्त है जिसे मानों अपने कर्मक्षेत्र के प्रत्येक विभाग में क्रियान्वित करने के लिए ही रामचन्द्र मानव रूप में पृथ्वीतल पर आये थे। उनमें इतनी अधिक मानवता है, अपने जनों के प्रति इतनी मानवीय सहानुभूति है, इतनी ममता है कि यदि कोई हमसे उनकी सगुणता को छीन कर उन्हें निर्गुणता के पंखों पर उड़ा ले जाय तो इसे तो हम अपनी हानि ही समझेंगे। इसी कारण गोस्वामी तुलसीदास ने निरन्तर आग्रह किया है कि दशरथ के पुत्र राम ही निर्गुण और सगुण दोनों ही सत्ताओं के संधिस्थल हैं और जो इस तथ्य के प्रति संदेह प्रगट करते हैं वे भयंकर भ्रान्ति में हैं। प्रश्न यह है कि साधारण मनुष्य और निर्गुण ब्रह्म के बीच में किसी दुभाषिये की, दोनों के मध्य में सामंजस्य प्रस्तुत करने वाले किसी प्रतिनिधि की आवश्यकता है या नहीं? यदि है तो हम राम की परम मनुष्यता तथा उसके आधार पर खड़ी होने वाली उनकी परम ईश्वरता—इन दोनों को एक साथ लें, इनमें से किसी एक का त्याग कर के अन्य को ग्रहण न करें। यदि हम केवल एक को लेंगे तो यह पूर्ण सत्य न होगा, केवल अधूरा सत्य होगा जिसके आधार पर हम उसी असावधान पथिक की तरह निरानन्द-पूर्वक जीवन के पथ पर अग्रसर होंगे जिसने थोड़ा सा चना-चबेना ही अपने साथ लिया और अपनी शेष सारी निधि, जिसके सहारे वह अनंत सुख-संग्रह कर सकता था, अतल समुद्र की लहरों के हवाले कर दी।

राम में न अकेला शारीरिक बल है और न अकेला मानसिक बल, वरन उनमें दोनों ही प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। वाल्मीकि रामायण में सुग्रीव उनके शारीरिक बल की प्रशंसा करता है—

"केन्द्रानपि सुरान् सर्वान् त्वं बाणैः पुरुषर्षभ!
समर्थः समरे हन्तुं किं पुनर्बालिनं प्रभो!
अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परामम!"

एक ओर उनके बाणों में इन्द्रादि समस्त देवताओं को मारने की शक्ति है, दूसरी ओर विभीषण का संदेह निवारण करते हुए वे तुलसीकृत रामायण में स्वयं ही अपनी मानसिक शक्ति की ओर संकेत करते हैं—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना।
सौरज, धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल, विवेक, दम,पर-हित घोरे।
छमा, कृपा, समता रजु जोरे।
ईस-भजन सारथी सुजाना।
विरति चले संतोष कृपाना।
दान परसु, बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर विज्ञान कठिन को दंडा।
अमल, अचल मन त्रान समाना।
सम, जम, नियम, सिलीमुख नाना।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें।
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके।

अतुल शक्ति के अधिकारी होते हुए भी राम सहसा उसका प्रयोग नहीं कर बैठते, समुद्र से मार्ग पाने के लिए वे तीन दिनों तक उससे अनुनय-विनय करते रहे। अंत में इतनी नम्रता धारण करने पर भी जब समुद्र अप्रभावित ही रह गया तब उन्होंने अपने बाण का प्रयोग किया। यहाँ राम की शक्ति और उनके धैर्य्य का समन्वय देखा जाता है।

रामचन्द्र के युग में हम देखते हैं कि अध्यात्मवाद भौतिकवाद से अपना सम्बन्ध तोड़ कर जीवन की समस्याओं को हल करने में असमर्थ हो रहा था। विश्वामित्र जैसे समर्थ ऋषि भी यज्ञ विध्वंस करने वाले राक्षसों से बचने के लिए महाराजा दशरथ से राम और लक्ष्मण को मांग ले गये। उसके अनन्तर जब लक्ष्मण और सीता को लेकर राम को क्यों वन जाना पड़ा तो वहाँ उन्होंने देखा कि ऋषियों की बड़ी दयनीय अवस्था है—

अस्थिसमूह देखि रघुराया।
पूछा,मुनिन्ह लागि अति दाया।
जानतहुँ पूँछिअ कस स्वामी।
सब दरसी तुम अंतरजामी।

मुनियों का उत्तर सुन कर और परिस्थिति समझकर श्री रामचंद्र ने घोषणा की—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमनि जाइ जाइ सुख दीन्ह।

राम की यह घोषणा इस तथ्य की घोषणा है कि जब जब अधूरा सत्य हमारे जीवन-सत्य का स्थान ग्रहण करेगा तब तब सहज ही दानवता को प्रोत्साहन मिलेगा, जिसके निराकरण के लिए क्षात्र धर्म का उदय अनिवार्य्यतः आवश्यक हो जायगा। इस घोषणा में यह संकेत निहित है कि आरम्भ ही से दानवता को पनपने से रोकने के लिए अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का परस्पर सहयोग और समन्वय होना सदैव आवश्यक रहेगा।

श्री रामचन्द्र वर्ण और आश्रम व्यवस्था के प्रबल समर्थक थे। अध्यात्मवाद भौतिकवाद की भुजाओं पर चले और भौतिकवाद अध्यात्मवाद की आँखों से देखे, तथा अर्थ व्यवस्था और उत्पादक श्रम इसी समन्वय को सरल,सुखद एवं सुन्दर बनाने में सहायक हों—उन्होंने सदैव अपने सामने यही उद्देश्य रखा। व्यक्ति और समाज दोनों ही की प्रगति-सम्भावनाओं से सम्पन्न उक्त वर्ण और आश्रम व्यवस्था के सुसंचालित होने पर न केवल मानव-समाज के भीतर प्रेम, करुणा, मैत्री, क्षमा आदि भावों का विकास होगा, वरन उसके प्रति प्राकृतिक शक्तियाँ भी अपनी निष्ठुरता त्याग कर अनुकूल व्यवहार ही करेंगी। राम इस सत्य के प्रतिनिधि होकर समाज के नेता हुए तथा अपने शासन-काल में उन्होंने प्रजा की इस ढङ्ग से सेवा की कि किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं रह गया। उन्होंने वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की और जिन्होंने सदुद्येश्यपूर्वपूक भी उसका विरोध किया उन्हें आवश्यक दण्ड देना अपना कठोर कर्त्तव्य समझा, साथ ही सदुद्देश्य के लिए उचित पारितोषिक भी दिया। प्रजाजनों को ही नहीं, उन्होंने स्वयं को भी लोक-सेवा की कसौटी पर कड़ाई के साथ कहा—

'स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति में व्यथा।'

यह उन्होंने कहा ही नहीं, कर दिखाया। महारानी जानकी को सर्वथा निर्दोष मानते हुए भी उन्होंने जन-मानस की तुष्टि के लिए उनको वन भेज दिया। महारानी उस समय गर्भवती थीं। रामचंद्र जी ने स्वयं मानसिक वेदना स्वीकार की, किन्तु सीता को अपशब्द कहने वाले धोबी को कोई दण्ड नहीं दिया।

एकतन्त्र शासन में भी लोकतन्त्र शासन की इतनी निर्मल विभूति राजा रामचन्द्र के सिवा और कौन स्थापित कर सका है ?

काम, क्रोधादि मनोविकार भी जिनके व्यक्तित्व का सम्पर्क प्राप्त कर भूषण-स्वरूप हो जाते हैं, हर्ष और विषाद में भी समन्वय उत्पन्न कर के जो निरंतर समभाव में स्थित रहते हैं, जिनका आविर्भाव भी ग्रीष्म और शिशिर की अप्रियताओं का निवारण कर के मधुमास की शुभ नवमी तिथि को हुआ, जब प्रकृति नवीन शक्ति और सौंदर्य्य से सम्पन्न होकर संसार को सरस बनाने के लिए अग्रसर होती है, उन लोक-विश्राम, पवित्र-चरित्र लोकोत्तर राम की अनिर्वचनीय महिमा का चित्रण ही तुलसीदास के काव्य का अभीष्ट है।

उक्त तीनों ही कवियों में शुक्ल जी को तुलसीदास सबसे प्रिय थे, उसके बाद जायसी और जायसी के बाद सूर का क्रम आता है। भक्त कवियों में कबीर के प्रति उनका अनुराग निस्संदेह सब से कम था। इसका कारण यही है कि उन्होंने इन कवियों में करुणा और क्रोधतत्व को खोजने का प्रयत्न किया है। यह तत्व, सामाजिक स्तर पर उन्हें कबीर में बहुत कम, सूर में उनसे अधिक, जायसी में सूर से अधिक तथा तुलसीदास में सब से अधिक मिला। अब रही यह बात कि क्या कवियों को श्रेष्ठ और हीन ठहराने के लिए केवल करुणा और क्रोधतत्व का विचार ही यथेष्ट है, सो उसके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि कवियों की उत्कृष्टता की परख करने के लिए अन्य दृष्टियों से काम लेकर भी इसे इस कारण महत्व दिया है कि वे इसको भारतीय साहित्य की एक गौरवमयी विशेषता मानते थे और चाहते थे कि आदि कवि के समय से चली हुई यह परम्परा आधुनिक युग में भी भारत में चलती रहे और यदि संभव हो तो विश्वसाहित्य को भी प्रभावित करती रहे।

———

अध्याय ३५

शुक्लजी की व्यावहारिक समीक्षा—२

निष्कर्षों का औचित्य

शुक्लजी के साहित्यिक व्यक्तित्व के विवेचनात्मक पार्श्व के प्रमुख स्थल पर अब हम पहुँच गये हैं। समीक्षा ही के लिए प्रकृति ने उनका निर्माण किया था, इस कथन की सार्थकता अब पाठक के सामने स्पष्ट हो गयी। सैद्धान्तिक समालोचना में उनकी तीव्रता देखकर स्वभावतः साहित्यिकगण उन्हें व्यावहारिक आलोचना की कसौटी पर भी कसना चाहते थे। इसमें संदेह नहीं कि सूरदास, मलिक मुहम्मद जायसी तथा तुलसीदास की समीक्षा कर के वे इस कसौटी पर भी खरे उतरे। किन्तु उक्त समीक्षा के परिणाम-स्वरूप शुक्ल जी जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, वे हिंन्दी साहित्य के मीमांसकों में मतभेद के कारण भी हो गये हैं। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि केवल सगुणोपासना-प्रधान कवियों के अध्ययन के लिए उन्होंने 'शील-शक्ति-सौन्दर्य' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और तुलसीदास के काव्य में इन तीनों तत्वों की तथा सूरदास के काव्य में केवल एक, अर्थात् सौन्दर्य मात्र की स्थिति बतलाकर तुलसीदास को सूरदास से श्रेष्ठ प्रमाणित करने की प्रवृत्ति दिखायी। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कतिपय क्षेत्रों में सूरदास के अद्वितीय अधिकार को शुक्ल जी ने स्वीकार किया है। 'भ्रमर गीतसार' की भूमिका में सूर की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं :—

सूरदास की श्रेष्ठता

"शृङ्गार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की समता को और कोई कवि नहीं पहुँचा है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिलता। वृन्दावन में कृष्ण और गोपियों का सम्पूर्ण जीवन क्रीड़ामय है। उसके अन्तर्गत विभावों की परिपूर्णता कृष्ण और राधा के अंग-प्रत्यंग की शोभा के अत्यन्त प्रचुर और चमत्कारपूर्ण वर्णन में तथा वृन्दावन के करील कुंजो, लोनी लताओं, हरे-भरे कछारों, खिली हुई चाँदनी, कोकिल-कूजन आदि में देखी जाती है। अनुभावों और संचारियों का इतना बाहुल्य कहाँ मिलेगा!"

निस्सन्देह सूरदास और तुलसीदास की मानसिक परिस्थितियों की तुलनात्मक दृष्टि से सूरदास तुलना करके शुक्ल जी ने तुलसीदास के श्रेष्ठ होने और तुलसीदास का संकेत भी दिया है:—

"सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहनेवाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करनेवाले नहीं। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। तुलसीदास जी लोक की गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वे उसके बीच पैदा होनेवाली बुराइयों को तीव्र दृष्टि से देखनेवाले थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने समय की जनता की दुःखदशा और दुर्वृत्ति तथा मर्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है, उसी प्रकार लोकमर्यादा के ह्रास में सहायता पहुँचानेवाली प्रच्छन्न शक्तियों को भी पहचाना है। सूरदास जी अपने भावभजन और मन्दिर के नृत्यगीत में ही लीन रहते थे, इन सब अँदेशों से बहुत दुबले नहीं रहते थे।"

निम्नलिखित पंक्तियों में उक्त संकेत एक निश्चित घोषणा के रूप में परिणत हो गया है:—

"मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतने अधिक रूपों के साथ हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष-पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता तुलसीदास जी के हृदय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।"

सूरदास का यह स्पष्ट विरोध और तुलसीदास का यह सुनिश्चित समर्थन, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, हिन्दी साहित्य के अनेक पण्डितों को प्रिय नहीं लगा है और उन्होंने शुक्ल जी की मानसिक प्रेरणाओं को समझाने के लिए अनेक अनुदार कल्पनाओं को भी प्रश्रय दिया है, जिनमें से एक यह भी है कि उक्त मत-निर्धारण के मूल में उनका कोई स्वतन्त्र विवेक नहीं है, वह अँगरेज विद्वानों को प्रसन्न करने अथवा उनका पदानुसरण करने की दास-मनोवृत्ति से प्रभावित है।† आलोचना-कार्य में अधिक संयत और

†"अनेक बातों में × × भारतीय इतिहासकारों ने विदेशियों का अनुकरण और अनुगमन किया है। विदेशी इतिहासकारों ने अपने ईसाई पवित्रतावादी दृष्टिकोण से अनेक प्रचलित परम्पराओं और प्रथाओं की आलोचना की थी × × भारतीय इतिहासकारों ने इस दृष्टिकोण को अपना कर × ×

सद्भाव-प्रेरित होने की चिन्ता न कर के जो सज्जन ऐसे विचारों का प्रचार करेंगे वे अनायास ही आगामी पीढ़ियों की दृष्टि में अपने को अनास्था का पात्र बना लेंगे; हमें इस सम्बन्ध टीका-टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं।

शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व और विचार-धारा पर एक साधारण दृष्टिपात करते ही यह बात झलक जायगी कि शुक्ल जी को तुलसीदास के प्रति दार्शनिक सहानुभूति है; तुलसीदास जी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की ओर आकर्षित दिखायी पड़ते हैं, तो शुक्ल जी भी उसके प्रति एक स्निग्ध भाव रखते हैं। शुक्ल जी का यह अनुकूल भाव न शंकर के मायावाद के प्रति है और न वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद के प्रति; कारण यह है कि कर्म के प्रति जैसी उपेक्षा मायावाद में निहित है वैसी शुद्धाद्वैतवाद में भी है; दोनों में अंतर केवल इतना है कि जहाँ मायावाद लोकजीवन को मिथ्या बताता है, वहाँ शुद्धाद्वैतवाद लोकजीवन को एकान्त विहार और विलास ही तक सीमित कर देता है। जिस समाज की सुदीर्घकालीन पराधीनता तथा अन्य परिस्थितियों ने उसमें प्रचलित कर्म के रूप को अत्यन्त विकृत कर दिया हो उसकी हित-भावना से प्रेरित होकर यदि समालोचक कर्म को उसी रूप में रखनेवाले वादों के प्रति विरक्ति का भाव प्रदर्शित करता है तथा उनसे प्रभावित साहित्य में भी विशेष रुचि नहीं बढ़ाता तो क्या यह कोई महान् अपराध है?

तुलसीदास के प्रति शुक्ल जी की दार्शनिक सहानुभूति

तुलसीदास की विशिष्टाद्वैत-प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए शुक्ल जी ने कहा है :—

"किसी वस्तु का अंश उसका स्वगत भेद है, अतः जीव को ब्रह्म का अंश कहना

गूढ़, गम्भीर समालोचना करने के स्थान पर या तो उनकी उपेक्षा कर दी अथवा उनके सम्बन्ध में क्षमायाचना—जैसा भाव विकसित कर लिया। × × विदेशी समीक्षकों द्वारा प्रशंसित सुधारक तुलसीदास की आचार्य शुक्ल ने विशद व्याख्या की, उनके वर्णाश्रम धर्म पर आश्रित सुधारवाद को त्रिकालाबाधित आदर्श के रूप में उपस्थित किया। × × कृष्ण में लोकसंग्रह का भाव ही कहाँ था। और उनकी लोकरंजक लीला के रस और आनंद को सुधारवादी समीक्षक क्षमायाचना के साथ ही ग्रहण कर सकता था, क्योंकि उसे स्मरण था कि एक अंग्रेज कृष्ण-भक्ति-काव्य को चकलेखाने की भाषा कह चुका है।"

—सम्पा० 'आलोचना', वर्ष ३, अंक ४, जुला०, १९५४

(ब्रह्म ही न कहना) अद्वैत मत के अनुकूल न होकर रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुकूल है, जिसके अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। चित् (जीव) और अचित् जगत दोनों ईश्वर के अंग या शरीर हैं। ईश्वर-शरीर के इस सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीवों और जगत् की उत्पत्ति हुई है। इससे यह लक्षित होता है कि परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा ‡ समझते हैं।"

अब पाठक इस अवतरण के साथ साथ जायसी की भूमिका में लिखित शुक्ल जी की निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़ें, जिनमें उन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद के सम्बन्ध में अपनी ही मानसिक प्रवृत्ति को व्यक्त किया है :—

"जगत् केवल नाम रूप और असत् सही, पर ये नामरूपात्मक दृश्य जब तक ध्यान की परमावस्था द्वारा एकदम मिटा न दिये जायँ, तब तक हमें इनका कुछ इंतजाम करके चलना चाहिए। जब कि हम अपने रतिभाव को पूर्णतया दूसरे (अदृश्य) पक्ष में लगाना चाहते हैं तब पहले उसे दृश्य पक्ष से धीरे धीरे सुलझा कर अलग करना पड़ेगा। साधना के व्यवहार-क्षेत्र में हमें ईश्वर और जगत् में दो पक्ष मान कर चलना ही पड़ेगा। तीसरे हम ऊपर से होंगे।"

उक्त दोनों अवतरणों की रेखांकित पंक्तियों के शब्दों पर ध्यान दीजिए। प्रथम अवतरण में कहा गया है कि तुलसीदास जी "भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना अच्छा समझते हैं," और दूसरे अवतरण में शुक्ल जी स्वयं कहते हैं कि "दो पक्ष मान कर चलना ही पड़ेगा !" यह विचार-साम्य है, जिसने सुन्दर काव्यात्मक अभिव्यक्ति पाकर शुक्ल जी को तुलसीदास के काव्य की सराहना करने के लिए विवश किया है।

जायसी का आकर्षण

मलिक मुहम्मद जायसी की ओर शुक्ल जी के आकर्षित होने का भी यही रहस्य है कि उनमें भी वे अपने विचारों की कुछ झलक पाते हैं। नीचे की पंक्तियां देखिए :—

"जब कि व्यक्त चित् (जीव) और व्यक्त अचित् (विकृति) दोनों एक ब्रह्म से उत्पन्न हैं तब ब्रह्म में भी ये दोनों पक्ष अव्यक्त या सूक्ष्म रूप में होंगे। इस प्रकार जायसी के कथन में रामानुज के विशिष्टाद्वैत की झलक साफ है, जिसके अनुसार ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है, अर्थात् चित् और अचित् दोनों उसके अंग हैं। जायसी ने आगे चलकर तो ब्रह्म को द्विकलात्मक साफ कहा है...."

‡पृ० १७२ *पृ० १८८

रेखांकित शब्दों को देखिए, उनका प्रयोग अकारण नहीं है; उनके भीतर लेखक की मनोनुकूलता की स्पष्ट ध्वनि है।

सूर और तुलसी का वियोग वर्णन

कर्म की उपेक्षा और कर्म की प्रेरणा को ही लक्ष्य कर के शुक्ल जी ने सूरदास द्वारा वर्णित वियोग को तुलसीदास द्वारा वर्णित वियोग की अपेक्षा हीन ठहराते हुए कहा† है :—

"वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलवानेवाला प्रेम नहीं है—चार कदम पर मथुरा गये हुए गोपाल के लिए गोपियों को बैठे-बैठे रुलानेवाला वियोग नहीं है, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिए छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखों से आँसुओं की नदी बहानेवाला वियोग नहीं है—यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमानेवाला, सेना एकत्र करानेवाला, पृथ्वी का भार उतरवाने वाला वियोग है। इस वियोग की गंभीरता के सामने सूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी बालक्रीड़ा सा लगता है।"

सूर के वियोग-वर्णन में शुक्ल जी को बालकीड़ा सी दिखायी पड़ी है तो संयोग-वर्णन में स्त्रैणता। उनकी जैसी गंभीर प्रकृति के व्यक्ति की शिकायत अवश्य ही सहृदय जनों के लिए विचारणीय है।:—

*"संयोग-सुख के जितने प्रकार के क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं वे सब सूर ने लाकर इकट्ठे कर दिये हैं। यहाँ तक कि कुछ ऐसी बातें भी आ गयी हैं—जैसे कृष्ण के कंधे पर चढ़ कर फिरने का राधा का आग्रह—जो कम रसिक लोगों को अरुचिकर स्त्रैणता प्रतीत होगा।"

निबन्धकाव्य में अनीति-विरोध

प्रबन्धकाव्य के भीतर शुक्ल जी आशा करते हैं कि कवि प्रतिनायक की अनीति के विरोध में अपनी वाणी प्रवाहित करेगा। तुलसीदास जी में यह तत्व उन्हें प्रचुर मात्रामें मिला है। जायसी में भी इसी की खोज करते हुए वे कहते हैं :—

"† राघव के प्रति तो जायसी ने अपनी अरुचि का अभास दिया है, पर अलाउद्दीन के प्रति उनके किसी भाव की झलक नहीं मिलती। अलाउद्दीन का आचरण अच्छा कभी नहीं कहा जा सकता। किसी की ब्याही स्त्री माँगना धर्म और शिष्टता के विरुद्ध है। उसके आचरण के प्रति कवि की यह उदासीनता कैसी है? पक्षपात तो हम कह नहीं सकते, क्योंकि जायसी ने कहीं इसका परिचय नहीं दिया है।"

---

‡'तुलसी की भावुकता' शीर्षक निबंध

* भूमिका जायसी † भूमिका, भ्रमरगीतसार; कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ जिन 'कम

यहाँ यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि शुक्ल जी शुद्धाद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के अन्योन्य विरोध की स्थापना नहीं करते थे, वे दोनों के समन्वित रूप के पक्ष ही में थे। शुद्धाद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का समन्वय तभी सम्भव था जब कि शुद्धाद्वैतवाद श्रीकृष्ण के लोकोद्धारक रूप को सामने रखता, केवल प्रेम-लक्षणा भक्ति की सीमा में अपने को बाँध कर उनके गोपीवल्लभ स्वरूप ही की उपासना को प्रधानता न देता। शुद्धाद्वैतवाद में यह एक अभाव हो गया; जिसके कारण वह आनन्द की सिद्धावस्था* (Statism) का ही प्रतिनिधित्व कर सका, आनन्द की साधनावस्था†(Dynamism) का उसमें समावेश न हो सका। रहा विशिष्टाद्वैतवाद सो उसमें यह त्रुटि अधिक मात्रा में संभव नहीं हुई; उसने साधनावस्था पर बल दिया तो साथ ही सिद्धावस्था का भी ध्यान बनाये रक्खा। इसी कारण सूरदास के काव्य में एक ही तत्व की प्रचुरता हुई तथा तुलसीदास के काव्य में उभय तत्वों का सन्निवेश किया जा सका।

विशिष्टाद्वैतवाद में समन्वय की प्रवृत्ति

अब यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या उक्त समन्वय के पक्ष में होने के कारण शुक्ल जी की काव्य-दृष्टि कुछ संकुचित हो गयी; क्या उससे उनकी सहृदयता में कुछ ह्रास हो गया? किन्तु इसका उत्तर प्राप्त करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि 'सहृदय' कौन है?

सहृदय-आत्मपरक और लोकपरक

साधारणतया वह व्यक्ति सहृदय कहा जाता है जो किसी मार्मिक परिस्थिति,

---

रसिक लोगों की ओर शुक्ल जी का संकेत है, उन्हीं में वे स्वयं भी थे; इस प्रकार की क्षीणता न वे जीवन में पसन्द करते थे और न काव्य में।

*शुक्ल जी के अनुसार आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्य निम्नलिखित हैं :—

आर्या-सप्तशती, गाथा-सप्तशती, अमरुशतक, गीतगोविन्द, सूरसागर, बिहारी सतसई, रासपञ्चाध्यायी तथा आधुनिक काल की छायावादी कविताएँ।

शुक्ल जी के अनुसार आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्य निम्नलिखित हैं :—

संस्कृत रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपालबध, किरातार्जुनीय; (हिन्दी) रामचरितमानस, पदमावत, (उत्तरार्द्ध), हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रासो, छत्र प्रकाश आदि प्रबन्ध काव्य, भूषण आदि के वीर रसात्मक मुक्तक। योरपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट आवइर लाम, पुराने बैलड।

द्रावक दृश्य अथवा काव्य के सम्पर्क में आते ही तल्लीनता की प्रतिक्रिया को व्यक्त कर सके। सहृदयता जितनी ही उच्च कोटि की होती है, उक्त सम्पर्क-जन्य अनुभूति उतनी ही प्रखर होती है। तन्मयता की अवस्था को प्राप्त होने पर सहृदय का चित्त द्रवीभूत हो जाता है और उसमें व्यक्तिगत परिस्थितिजन्य हर्ष, विषाद, क्रोध, शोक आदि भावनाएँ नहीं रह जातीं। उदाहरण के लिए बकरी के बच्चे पर खड्ग-प्रहार होते देखकर सहृदय व्यक्ति में करुणा का संचार हो जाता है किंतु साधारण व्यक्ति उसे एक सामान्य व्यापार समझकर अप्रभावित ही रहता है।

सहृदयता का एक रूप आत्मपरक होता है। इसमें आश्रय आलम्बन से प्रभावित होकर भावनिमग्नता की जिस स्थिति को पहुँचता है, उसमें उसकी सम्पूर्ण मानसिक प्रगति अल्पाधिक मात्रा में भावानुभूति ही तक सीमित रह जाती है। यह प्रगति आनन्द की सिद्धावस्था की संगति में पड़ती है।

सहृदयता का अन्य रूप लोकपरक होता है। इसमें आश्रय आलम्बन के सम्पर्क में आकर भावमग्न ही नहीं होता, वरन आलम्बन के कष्टादि के निवारण के लिए कुछ सक्रिय उपचार में भी प्रवृत्त होता है। यह प्रवृत्ति आनन्द की साधनावस्था की संगति में पड़ती है।

यदि कोई समीक्षक सहृदयता के आत्मपरक रूप पर ही आग्रह करे और लोकपरक रूप को न स्वीकार करे तो यह उसकी भ्रान्ति है; इससे विपरीत को भी इसी प्रकार समझना चाहिए। वास्तव में दोनों के समन्वय में ही सहृदयता का यथार्थ तत्व निहित है।

जैसे भूगर्भ में छिपा हुआ वृक्ष का मूल उसके बाहर निकले हुए तने, शाखा, पत्तों से भिन्न नहीं है वैसे ही सहृदयता के उक्त दोनों रूप एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, उनमें यदि किसी प्रकार का अन्तर है तो वह केवल देश-काल के भेद से प्रतीत मात्र होता है। किन्तु यदि कोई इनमें वास्तविक अन्तर मानता है तो वह भ्रम में है।

शुक्ल जी की सहृदयता

शुक्ल जी आत्मपरक सहृदय तो थे ही, लोकपरक सहृदय भी थे। साथ ही, ऐसा समझ पड़ता है कि उन्होंने लोकपरक सहृदयता को अधिक महत्व दिया। इस निबन्ध के आरम्भ में जो अवतरण उद्धृत किये गये हैं उनमें सूरदास की हीनता और तुलसीदास की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति के मूल में यही बात झलकती है। वास्तव में सूरदास और तुलसीदास एक ही

तत्व को लेकर चले हैं; काव्य-विषयक उनके आवेश के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है; उपास्य में विलय प्राप्त करने की उमंग दोनों ही में प्रचुर मात्रा में है ; देश-काल-भेद से दोनों में यदि कोई अंतर प्रतीत होता है तो वह यही कि एक समाधिस्थ है और दूसरा समाधिस्थ एवं सक्रिय दोनों है; एक में आत्मपरक सहृदयता है और दूसरे में आत्मपरक एवं लोकपरक दोनों ही प्रकार की सहृदयता है । दो पेड़ों की शक्ति की तुलना करते समय उनके मूल पर ही ध्यान देना होगा, भले ही किसी एक पेड़ में अधिक शाखाएँ और पत्ते हों तथा किसी एक में कम हों । शुक्ल जी की यह त्रुटि कही जा सकती है कि उन्होंने मूल के आधार पर ही नहीं, शाखा-पत्तों के आधार पर भी पेड़ों की शक्ति का अनुमान किया है ।

जिस मूल ने अधिक शाखा-पत्ते प्रस्फुटित किये हैं, उसकी प्रशंसा तथा जिस मूल ने कम शाखा-पत्तों को जन्म दिया है, उसकी निंदा तो होगी ही ।

तुलसीदास के लोकसंग्रह का महत्व

किन्तु यह प्रशंसा और निंदा स्थूल आधारों को लेकर ही खड़ी होनेवाली होगी, गम्भीर कारणों से उसका अधिक लगाव नहीं पाया जायगा । वास्तव में प्रत्यक्ष के अन्तर में प्रवेश करके देखनेवाली दृष्टि यह पता लगाने की चेष्टा करेगी कि तुलनात्मक विचार से दो मूलों में से अधिक टिकाऊ कौन है ? सूरदास और तुलसीदास के काव्य का अध्ययन करते समय हमें यह बात विस्मरण न करनी चाहिए कि तुलसीदास का लोक-संग्रह यहाँ मूल-पदीय महत्त्व का नहीं, शाखा-पल्लव-पदीय महत्व ही का अधिकारी है और सूरदास के काव्य से यदि उनके काव्य की तुलना अभीष्ट ही है तो वह मूल-गत शक्ति के आधार पर ही होनी चाहिए ।

मैंने अभी कहा है कि तुलसीदास में आत्मपरक और लोकपरक, दोनों ही प्रकार की सहृदयता है; सूरदास से उनकी तुलना करते समय दोनों की आत्मपरक शक्ति पर ही विचार करना चाहिए और लोकपरक पक्ष का उतना ही अंश लेना चाहिए, जितना दोनों ही में समान रूप से मिल सकता है । तुलसी में लोकपरक तत्व का जो अतिरिक्त अंश विद्यमान है, उसके जोड़ में सूर के सीमित लोकपरक पक्ष में भी कम महत्व के तत्व नहीं हैं । दोनों ही महाकवियों की मूलगत विशेषताएँ ब्रह्म-तत्व की ओर अधिक उन्मुख होने के कारण अभिन्नता की ओर अधिक और भिन्नता की ओर कम प्रवृत्ति रखती हैं ।

शुक्ल जी ने सूरदास के आत्मपरक तत्त्व की श्रेष्ठता का निषेध नहीं

किया है; किन्तु उन्होंने तुलसीदास और जायसी के लोकपरक तत्व को अधिक उभरे हुए रूप में रखने का प्रयत्न किया है। इसे दोष-दृष्टि ही से देखना उचित नहीं; उनके समीक्षा-प्रयास में जो लोकोपकार-भावना निहित है, उसका तो सम्मान करना ही होगा। एक ऐसे समाज में, जिसमें दार्शनिक और लौकिक सभी प्रकार के आधारों को ग्रहण करके अकर्मण्यता प्रसार पा रही है, यदि शुक्ल जी ने अपनी समीक्षा में कर्म-प्रधान दृष्टिकोण को प्रधानता दी, तो यह मनाना होगा कि, जैसा कि पहले भी संकेत दिया जा चुका है, वे अपने समय में एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में अवतरित हुए थे। निकट भविष्य में आलोचना का उक्त दृष्टिकोण अनावश्यक हो जायगा, यह नहीं कहा जा सकता। यदि तुलसीदास के लोक संग्रहात्मक भाव आज तक अपना उपयोग नहीं खो सके हैं तो शुक्ल जी द्वारा उनकी सूक्ष्म हृदयग्राही व्याख्या भी बहुत दिनों तक अपनी उपादेयता बनाये रहेगी।

शुक्लजी के समीक्षाप्रयास में लोकोपकार भावना

तुलसीदास के अध्ययन के सम्बन्ध में जो कतिपय अन्य दृष्टिकोण उपस्थित किये गये हैं उनका एक साधारण उल्लेख यहाँ इस अभिप्राय से कर देना आवश्यक है कि उससे शुक्ल जी की विचार धारा का मूल्याङ्कन करने में सहायता मिलेगी। इनमें से विशेष ध्यान देने योग्य मत है काशी के स्वर्गीय आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का, जिन्होंने अपने 'रामचरितमानस के सिद्धान्त, साधन और साध्य' शीर्षक निबन्ध में यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि गोस्वामी जी का रामचरितमानस भक्ति प्रधान ग्रंथ है, चरितप्रधान नहीं। उनका यह कहना है कि 'रामचरित मानस के कथन-श्रवण से उत्पन्न भक्ति का फल मन का विश्राम है।' तुलसीदास जी ने स्वयं ही घोषित कर दिया है कि रामचरितमानस की रचना स्वान्तः सुखाय है, अतएव आचार्य मिश्र के उक्त कथन की यथार्थता में तो कोई संदेह ही नहीं है; किन्तु जहाँ यह सही है, वहाँ यह भी सही है कि 'रामचरितमानस' में लोक-संग्रह का भाव उसी प्रकार ओत-प्रोत है, जिस प्रकार ईख के दण्ड में रस। ईख में रस दिखायी नहीं पड़ता, लेकिन उसे कहीं से तोड़ कर देखिए, रस प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। यह तुलसीदास की उच्च कवि-कला का निदर्शन है कि उन्होंने अपनी अत्यन्त आवेशमयी भक्ति-भावना के भीतर लोक के प्रति अपनी सहानुभूति

आचार्य केशव प्रसाद मिश्र के मत में त्रुटि

को निहित कर रखा है। राम का अवतार ही भूमि का भार उतारने के लिए होता है। संकट-ग्रस्त होने पर भी वे ऋषियों का कष्ट देखकर राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा करते हैं। इस प्रतिज्ञा की क्या आवश्यकता थी? क्या यह लोक-संग्रह की भावना नहीं थी, और क्या 'रामचरितमानस, के कथानक में इसका भी एक महत्वपूर्ण स्थान नहीं है? राम-चरित्र के भीतर व्यक्त होनेवाले लोकसंग्रह को जाने दीजिए, स्वयं तुलसीदास ने यत्रतत्र लोकसंग्रहात्मक भावों और विचारों के सन्निवेश के लिए जो अवसर खोज लिये हैं, उत्तरकाण्ड में जो विशेष रूप से उनके नीतिपरक कथनों की बहुलता देखने में आती है, वह सब क्या अकारण है? उत्तरकांड के अनेक स्थल क्या कथानक-प्रगति-निर्वाह की दृष्टि से सर्वथा अनावश्यक नहीं हैं, उनके समावेश के भीतर कारण रूप में तुलसीदास की लोकसंग्रह-दृष्टि के अतिरिक्त क्या अन्य कोई तत्व भी विद्यमान है? इसे भी जाने दीजिए, 'रामचरितमानस' की लोकसंग्रहपरायणता इस छोटी बात पर ही निर्भर नहीं है। हमें यह देखना चाहिए कि 'रामचरितमानस' के कथानक का उद्गम-स्थल कहाँ है? किस मूल भावना को लेकर उसका प्रसार हुआ है? इसकी एक संक्षिप्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जायगा कि 'रामचरितमानस' में केवल भक्ति की प्रधानता नहीं है, लोकसंग्रह को भी एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

'रामचरितमानस' में तीन वक्ता और तीन श्रोता हैं। वक्ता हैं—शंकर, याज्ञवल्क्य और कागभुशुंडि; श्रोता हैं—पार्वती भरद्वाज और गरुड़।

रामचरितमानस में दाशरथि राम

श्रोताओं में भरद्वाज ने कथा के रसास्वादन के निमित्त, किन्तु पार्वती और गरुड़ ने अपने भ्रम के निराकरण के लिए रामचरित्र को श्रवण किया है। कथा के मूल रचनाकार हैं शंकर; उन्होंने सर्वप्रथम यह रचना पार्वती को सुनायी; उनके बाद याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से तथा कागभुशुंडि ने गरुड़ से वही कथा कही। वक्ताओं ने बारम्बार दृढ़तापूर्वक यह घोषणा की है कि दशरथ के पुत्र रामचन्द्र को जो साधारण मनुष्य समझता है, उन्हें भूमि-भार-हरण के निमित्त अवतीर्ण स्वयं परब्रह्म रूप नहीं मानता, उससे बड़ा अज्ञानी कोई हो नहीं सकता।× रामचरितमानस

† "पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई। निर्णय सकल पुरान वेद कर।

× "(क) महा मोह उपजा उर तोरे। मिटिहिं न बेगि कहें खग मोरे। जेहिं बहुबार नचावा मोही।

में सती और गरुड़ दोनों की दुर्दशा करा कर उन्हें रामचन्द्र को परब्रह्म के अवतार-रूप में ग्रहण करने की प्रेरणा दी गयी है। विलक्षण बात यह है कि दशरथ-पुत्र राम को परब्रह्म के प्रतिनिधि रूप में ग्रहण करने से एक ओर कबीर ने इनकार किया, दूसरी ओर तुलसीदास ने उसी मान्यता को परम शान्ति की प्राप्ति का आधार बताया। इस मान्यता पर इतना अधिक बल देने में तुलसीदास का क्या अभिप्राय है?

यह कहा जा चुका है कि प्रकृति जीवन में तथा बाह्य जगत् में प्रत्येक क्षति की पूर्त्ति का प्रयत्न निरंतर किया करती है। उस जगदम्बिका का यही करुणा-तत्व है जिसके अवलम्ब के बिना इस जगत का पोषण और प्रसार सर्वथा असम्भव है। उसका यह रक्षण-व्यापार लघु स्तर पर तो सामान्य व्यक्तियों के द्वारा अनवरत रूप से होता रहता है, किन्तु विराट स्तर पर असामान्य, लोकोत्तर शक्ति से सम्पन्न महान् व्यक्तियों द्वारा अग्रसर होता है, जिनका असाधारण सामर्थ्य और समन्वित जीवन-सौन्दर्य जन-साधारण में श्रद्धा का संचार करता है। रावण ने अपने लोक-मर्यादा-विरोधी आचरण द्वारा विश्व के हृदय में जो घाव कर दिये थे, उन्हीं के उपचार के निमित्त प्रकृति ने रामचन्द्र के व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया था। उनका कहीं कोई ऐसा स्वार्थ नहीं दिखायी पड़ता, उनकी कोई ऐसी वासना नहीं दृष्टिगोचर होती जो लोकस्वार्थ के विरुद्ध पड़ती हो; यही नहीं जहाँ कहीं लोकहित की संभावना है वहाँ वे सम्पूर्ण स्वार्थ का बलिदान कर देते हैं। अद्भुत पराक्रम और संगठन-शक्ति द्वारा उन्होंने रावण का अंत किया और सामाजिक जीवन में एक नवीन संतुलन, एक अपेक्षित नया सुडौलपन उपस्थित किया। ब्रह्माण्ड की प्रगति में यह प्रवृत्ति सहज ही निहित है कि प्रकृति का विराट् क्षतिपूरण-विषयक आह्वान पाकर समाधिस्थ, निष्क्रिय निर्गुण सक्रिय लोक-व्यापारमें रत सगुण रूप धारण करता है। रामचन्द्र उक्त निर्गुण के ऐसे ही सगुण रूप थे। रामचन्द्र के जीवन की प्रत्येक घटना इस बात को प्रमाणित करती

कहेउँ तात जानहिं कोविद नर।
नर सरीर धरि जे पर पीरा।
करहिं ते सहहिं महा भव भीरा।"

सोइ व्यापेउ बिहंगपति तोहीं।"

(ख) "अग्य, अकोबिद, अंध, अभागी।
काई विषय मुकुर मन लागी।
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी।
सपनेहुँ सन्त सभा नहिं देखी।
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।
राम रूप देखहिं किमि दीना।"

है कि वे साधारण वासना-ग्रस्त मानव के स्तर से सदैव ऊँचे रह कर लोक की प्रगति, विकास और आनंद-विधान ही का प्रयत्न करते रहे। उनकी कोई इच्छा केवल उनकी इच्छा नहीं थी, उनका कोई स्वार्थ केवल उन्हीं तक सीमित नहीं था। जैसे वायु वसंत के शृंगार के लिए, उमता धारण करके वृक्षों के जीर्ण पत्तों को गिरा देती है, वैसे ही रामचन्द्र ने लोक-विरोधी तत्वों के संहार द्वारा विश्व को विकास की ओर ले चलने वाले विराट् परिवर्त्तनों के लिए तैयार किया। साधक उनके मूल निर्गुण रूप की उपासना करता है और उनके उक्त लोकसंग्रहात्मक रूप को भी और दोनों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं मानता। यहाँ भक्ति और लोकसंग्रह के प्रति अनुराग में अंतर मानने की कोई आवश्यकता नहीं; देश-काल के अन्तर से एक ही तत्व आन्तरिक एकता रख कर भी बाह्य विभिन्नता धारण कर लेता है और उससे साधक को भ्रम भी होता है, जैसा कि रामचरितमानस में सती और गरुड़ को हुआ। रामचरितमानस के पाठकों को यह भ्रम न हो, इसी उद्देश्य से तुलसीदास ने अपने दो पात्रों की दुर्गति करा कर अंत में यह स्वीकार कराया है कि ब्रह्म और दशरथ के पुत्र राम में कोई भिन्नता नहीं है, और तभी उन्हें विश्राम-प्राप्ति का अधिकारी होने दिया है।

यदि निर्गुण ब्रह्म और रामचन्द्र में कोई भिन्नता नहीं है तो भक्ति और लोकसंग्रह में भी कोई भिन्नता नहीं है। यदि इन दोनों युग्मों में से किसी में भिन्नता की कल्पना की जाती है तो निश्चित रूप से हमारी दृष्टि में कोई विकार है और हम इन तत्वों के विकृत रूप को ही प्रकृत मानने की असावधानी कर रहे हैं। अतः) रा समझ में 'रामचरितमानस' को भक्ति-प्रधान ग्रंथ मान कर उतनी ही मात्रा में लोकसंग्रह-विशिष्ट ग्रंथ मान सकते हैं। उसमें दोनों ही तत्व विद्यमान हैं। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि शुक्ल जी ने रामचरितमानस को केवल लोकसंग्रहात्मक काव्य नहीं माना है; उन्होंने उसकी लोकसंग्रह-विशिष्टता पर केवल बल दिया है, जिसके कारण का उल्लेख किया जा चुका है।

फ्रायडवादी और प्रगतिवादी दृष्टिकोण

लोकहितैषणा की भावना से रत शुक्ल जी के सूर- काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण में जो एक अपूर्णता सी झलकती है, उसके निराकरण के लिए, लोकसंग्रह के निषेध द्वारा एक मात्र भक्ति के धरातल पर सूर और तुलसी दोनों को लाने का आचार्य मिश्र का प्रयास आकर्षक होने पर भी हमारी समस्या को पूर्ण रूप से हल नहीं कर सकेगा, यह हमने देख

लिया। अब हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि फ्रायडवादी आलोचक-गण सूर तुलसी के काव्य का अध्ययन जिस शैली पर करना चाहते हैं, वह हमें कहाँ पहुँचायेगी। इस अध्ययन-पद्धति से श्रीनंददुलारे वाजपेयी कितने आतंकित और चिन्तित हैं, यह उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए[1] :—

"सूर और तुलसी जैसे महान् और प्रतिनिधि कवियों का विश्लेषण इस एकांगी आधार (मनोविश्लेषणवाद[2]) पर करना अनुचित और अशोभनीय होगा। इसी प्रकार वर्गवादी + समाज-दर्शन के घेरे में भी सूर जैसे महान् प्रतिभाशाली कवि नहीं समा सकते।"

× × × ×

"ये भक्तगण सदैव एक आश्चर्यजनक ऊँचे स्तर पर एक अलौकिक मनः स्थिति बना कर भावनाओं के क्षेत्र में विचरण करते थे, अतः इन्हें सामान्य समीक्षाकार ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। एक परम रमणीय, अपरिचित सी—समाधि की सी—परिस्थित की सृष्टि करके उसमें अद्वैत भाव से आत्मा को रमा देने जिनके कवि-कर्म का बाना था, वे लोक-चित्रण की क्या चिन्ता करते।"

कुछ अन्य पंक्तियाँ भी देखिए :—

"आज की हमारी विचारणा वर्गों के आधार पर आ ठहरी है। इसके पहले वह राष्ट्रीयता पर स्थित थी और अब भी बहुत अंशों में स्थित है। शुक्ल जी के विचारों में हिन्दू समाज पद्धति और आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। उसे एक सार्वदेशिक व्यवस्था का रूप शुक्ल जी ने दिया है। वह कहाँ तक व्यवहार्य है, यह एक दूसरा प्रश्न है।"

किस सीमा तक फ्रायडवादी और प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति के निर्देश मान्य हो सकते हैं और किस सीमा को लाँघने के अनंतर उनका अनुपयुक्त होना निश्चित है, इस सम्बन्ध में उचित विचार यहाँ संभव नहीं है; प्रस्तुत प्रसंग में इतना ही कथन यथेष्ट है कि यदि लड़ाई के अवसर पर किसी विशेष तलवार को चलाने की मनाही कर दी जायगी तो इससे उस तलवार की प्रतिष्ठा घटेगी ही बढ़ेगी नहीं। वाजपेयी जी एक ओर तो तलवार को स्निग्ध दृष्टि से देखते हैं, दूसरी ओर उसका प्रयोग भी वर्जित करते

---

१ 'महाकवि सूरदास' से। २ स्वप्न-प्रतीक' के सिद्धान्तों के सहारे हम किसी भी कवि के अवचेतन मन के स्तरों को खोल सकते हैं और उसकी मानसिक ग्रंथियों की निधि को उसकी रचनाओं में यत्र तत्र खोज सकते हैं। जो कवि या कलाकार यौन कुण्ठाओं से आक्रान्त होता है उसके बिंबसंकेतों एवं प्रतीक-विधान में वैसी आहट मिल जाया करती है।" —श्रीराजनारायण बिसारिया

हैं। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रगतिवादी आलोचना के प्रति उनके स्नेह ही की सूचना देती हैं :—

"किसी विशेषवाद अथवा विचार-धारा का काव्य में प्रवेश होना ही उसके उत्कर्ष का साधक है, कुछ ऐसी धारणा द्विवेदी जी की थी। आज के कुछ प्रगतिशील आलोचकों का भी ऐसा मत है।"

ये शब्द शुक्ल जी के वाद-विरोध का विरोध करने के सिलसिले में लिखे गये हैं। लेखक की यह दुविधापूर्ण स्थिति पाठक को भ्रम में डालनेवाली है। ऐसी अवस्था में यदि आधुनिक आलोचना के नवीन सिद्धान्त किसी को शाश्वत महत्व के न जान पड़ें अथवा निरर्थक प्रतीत हों तो क्या आश्चर्य ?*

लोकसाधना अलंकरण के रूप में स्वीकार्य

आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण से भिन्न उक्त दृष्टिकोणों पर विचार करने के अनंतर हम सहज ही इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यदि करुणा और क्रोध सिद्धान्त पर अधिक बल देने के कारण शुक्ल जी की काव्य-दृष्टि संकुचित है तो उसका बहिष्कार करने पर अन्य काव्य-दृष्टिकोण भी सम्पन्न नहीं कहे जा सकते। मेरी समझ में समस्या का एक मात्र हल यह होगा कि (१) न तो लोकसंग्रह का सर्वथा निषेध करके सहृदयता के केवल आत्मपरक रूप को प्रश्रय दिया जाय, जैसा कि आचार्य मिश्र का पक्ष है, (२) न यह कि लोकसंग्रह को बहुत अधिक प्रधानता देकर सहृदयता के लोकपरक रूप को बहुत अधिक महत्व दिया जाय, जैसा कि आचार्य शुक्ल का पक्ष है और (३) न यह कि सहृदयता को केवल दल-गत, वर्गगत प्रचारात्मकता के घेरे में बंदी कर दिया जाय, जैसा कि प्रगतिवादी आलोचकों का मत है, वरन वैयक्तिक साधना और आत्मपरक सहृदयता को प्रमुख स्थान देकर लोकसाधना और लोकपरक सहृदयता को केवल अलंकरण के रूप में स्वीकार किया जाय और जहाँ उसका ह्रास दिखायी पड़े वहाँ कम से कम यह आग्रह अवश्य किया जाय कि वैयक्तिक साधना लोकधर्म के प्रचलित आदर्श की कसौटी पर खरी उतरेगी, दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं संघटित होगा। यदि काव्य के अन्तर्गत वैयक्तिक साधना और लोकधर्म के स्वीकृत

*"सूर, तुलसीदास आदि हमारे सभी प्राचीन कवियों को नवीन मतवादों के समन्वित तत्त्वों और व्यापक सिद्धान्तों की कसौटी पर तो खरे उतरना ही होगा, अन्यथा उनकी शाश्वत महत्ता कैसी ? और यदि हम नवीन मतवादों की कसौटी को सूर और तुलसी को परखने के लिए संकुचित अथवा अनुपयुक्त माने बैठे रहेंगे तो हमारी आधुनिक आलोचना क्या रह जायेगी !"

—स्व० श्री वृन्दावन बिहारी मिश्र
'कल्पना, १९५३ पृ० ६-४७

आदश समानान्तर रेखाओं के रूप में दिखायी पड़ेंगे तो आत्मपरक सहृदयता को लोकपरक सहृदयता में परिणत होकर व्याख्यात्मक के स्थान में व्याख्या-समन्वित निर्णयात्मक समालोचना प्रस्तुत करनी ही होगी, आचार्य मिश्र का बाना त्याग कर आचार्य शुक्ल का बाना धारण करना ही होगा। यहीं शुक्ल जी की आलोचना-कला की सफलता स्वयं-सिद्ध है।

लोकपरक सहृदयता का प्रकृत महत्व

एक यह बात भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि लोकपरक सहृदयता को आत्मपरक सहृदयता की एक शाखा से अधिक का महत्व देना न उचित है और न आवश्यक। जैसे जीवन में कभी शंकर *समाधिस्थ दिखायी पड़ते हैं और कभी 'लोकानुग्रह-कांक्षया' विषपान जैसा कठोर और पार्वती-परिणय जैसा कोमल कार्य करना भी स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में हम शाश्वत महत्व के काव्य को भी हिला-डुलाकर सामयिक लोकसंग्रह का कार्य सम्पन्न करना चाहते हैं। कामदेव यदि शंकर की समाधि तोड़ने के लिए उनके हृदय को बाण-विद्ध करता है तो इसके लिए उसे कोई दोषी नहीं कहेगा, क्योंकि उसके पास लोककल्याण का आग्रह है, जो शंकर को उतना ही प्रिय है जितनी प्रिय समाधि तथा जिसे लोकमत का आशीर्वाद भी प्राप्त है। इसी तरह समीक्षक यदि सूरदास के काव्य का देशकाल की मर्यादा के भीतर कोई विशेष उपयोग, कोई विशेष भाष्य चाहता है तो उसे वैसा करने का अधिकार है। यहाँ समीक्षक का प्रमाद कहीं नहीं है, भ्रान्ति उस व्यक्ति को है जो लोकपरक सहृदयता से प्रेरित समीक्षक के अधिकार-वेग को सहन करने में असमर्थ हो जाता है और यह समझ कर मनस्ताप से पीड़ित होता है कि सूरदास का काव्य सदा-सर्वदा के लिए ध्वस्त हो गया। इस भ्रान्ति में पड़कर निम्नलिखित आग्रह करना मुझे एकांगी और संकीर्ण प्रतीत होता है :—

"जिस कविता या कविता को आपने अपने अध्ययन के लिए चुना है, उसकी प्रत्येक भंगिमा पर आप की दृष्टि 'कामिहिं नारि पियारि जिमि' पड़नी ही चाहिए। यदि वह नहीं पड़ती तो समझना चाहिए कि समीक्षक की हैसियत से आप में प्रत्यक्ष कमी है।*** यह आक्षेय ** हिन्दी के उन वास्तविक विद्वानों के प्रति है जिन्होंने अपने जीवन के मूल्यवान वर्ष इस कार्य में व्यय किये और अब समालोचक-शिरोमणि और सम्राट कहे जाने लगे हैं।"*

*श्रीनंददुलारे वाजपेयी, माधुरी वर्ष १३, खं० १, सं० १

उक्त पंक्तियों में जो तर्क प्रस्तुत किया गया है, वह एक सीमा तक ही सही है। आवश्यकता पड़ने पर हम देखना चाहते हैं कि हमारी चारपाई के पाये लाठी का काम दे सकेंगे या नहीं। हमें सनकी कहकर कोई हँस सकता है, किन्तु शत्रु से घिरे होने पर, देश-काल की मर्यादा के भीतर, हमारे इस कार्य में जो अड़ंगा लगायेगा वह उपेक्षा का पात्र ही होगा। चारपाई का पाया यदि काम का न निकला तो वह उस चारपाई से हीन कही जायगी जिसका पाया लाठी का काम दे सकता है। किन्तु यह परीक्षण देश-काल की परिधि के भीतर सीमित है, शाश्वत नहीं है। चारपाई की दृष्टि से कौन चारपाई अच्छी है, यह निर्णय तो शेष ही रहेगा। लोकसंग्रह की दृष्टि से सूरदास के काव्य की परीक्षा करने का शुक्ल जी को पूर्ण अधिकार था और प्रत्येक सहृदय को रहेगा; किन्तु वह परीक्षा ही अन्तिम रूप से निर्णय कर देने वाली है, यह नहीं कहा जा सकता।

यूनानी दार्शनिक हीरेक्लिटस ने अग्नि को जीवन और जल को मरण कहा है। किन्तु उसका यह भी मत है कि प्रत्येक तत्व सतत परिवर्त्तनशील और प्रवाहित है। इससे हम कभी जल को जीवन और अग्नि को मरण की परिस्थिति में भी प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय ऋषियों ने तो साम्बसदाशिव और रुद्र के अन्योन्य प्रतिक्रियात्मक रूप की कल्पना करके जीवन की पूर्ण, असंदिग्ध व्याख्या कर दी है। इसके अनुसार देशकाल की मर्यादा के भीतर जल भी जीवन है और अग्नि भी जीवन है। जल की प्रकृति है आत्मस्थित होना और अग्नि की प्रकृति है ऊर्ध्वगामी होकर लोकव्याप्त होना। हमारा जीवन कभी आत्मस्थिति के माध्यम को स्वीकार करता है और कभी लोकव्याप्ति के माध्यम को। जीवन का यह सत्य हमारे साहित्य में भी निरन्तर प्रतिबिम्बित होता चलता है। इससे प्रगट है कि हमें साहित्य का शाश्वत रूप तो चाहिए ही, देशकाल की सीमा में व्यक्त होने वाला लोकसंग्रहात्मक रूप भी चाहिए और जब हमें लोकसंग्रहात्मक साहित्य की आवश्यकता होगी तब हम उसका निर्माण तो करेंगे ही, साथ ही समीक्षा द्वारा शाश्वत साहित्य में भी उसकी खोज करेंगे। ऐसी स्थिति में लोकसंग्रह को *'Street philosophy' कहकर कुत्ते

*'घरेलू जीवन की सुषमा', 'सामाजिक परिस्थिति की आवश्यकताएँ' आदि जो कुछ नयी चाल की माँगें हैं, वह उन रचनाओं में जैसी चाहते हैं, वैसी न पाकर बलात् पाने की चेष्टा करना निरर्थक ही है। अपने यहाँ की उदात्त दार्शनिक महासीमा के विचार से इस नवीन वस्तु को बाजारू Street philosophy कहने की ही इच्छा होती है।"

—[श्री नंददुलारे वाजपेयी. माधुरी वर्ष १३, खं० १, सं० १

की तरह दुरदुराया नहीं जा सकता; सीमित समय की सीमा में वह हमारा अतिथि है और घर के स्थायी सदस्यों की अपेक्षा अधिक सम्मान का अधिकारी है।

*'घरेलू सुषमा' आदि सिद्धान्तों में शुक्ल जी के लोकसंग्रह का उद्गम खोजना भी अनावश्यक है।

---

†"श्रीयुत श्रीधर पाठक ने, पहले-पहल 'ऊजड़ ग्राम' की रचना करते हुए 'घरेलू जीवन की सुषमा' की ओर ध्यान आकर्षित किया। पीछे से पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने उसके लिए एक छोटे-मोटे दर्शन की रचना कर दी। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में आपने आदि से अन्त तक जिस मत का निरूपण किया है, वह यही 'घरेलू जीवन की सुषमा' वाला मत है।

—वही

अध्याय ३६

शुक्ल जी की व्यावहारिक समीक्षा—३

कलात्मक आलोचना के उपकरण

शुक्ल जी 'कला' शब्द के प्रयोग के पक्ष में नहीं थे, फिर भी इस शब्द का इतना अधिक प्रचार हो गया है कि पाठक के सामने यह प्रश्न अवश्य ही उपस्थित होगा—शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचना कलात्मक है या नहीं ? किन्तु, वास्तव में इस शब्द का प्रयोग करने में सावधानी की आवश्यकता है, प्रश्न करने में भी, उत्तर देने में भी।

'कला' के जिस स्वरूप की ओर यहाँ मेरा संकेत है, वह पाश्चात्य साहित्य ही में, अधिकांश में, देखा जाता है; भारतीय साहित्य में तो प्रकृत काव्य की गणना कभी कलाओं के भीतर हुई ही नहीं। अतएव यह उचित होगा कि पाश्चात्य साहित्य में कला-सम्बन्धी जो भिन्न-भिन्न मत हैं उनकी मान्यताओं पर एक सामान्य दृष्टि डाल ली जाय।

कला-सम्बन्धी तीन दृष्टिकोण

अफलातून ने कला के उस स्वरूप को व्यर्थ माना, जिसमें नैतिकता का समावेश न हो। अरस्तू ने भी निर्देश किया कि नाटक में अश्लीलता न हो तथा उसका नायक असाधारण पुरुष हो। उसने कहा कि कवि को घटित घटना का उल्लेख मात्र करके छुट्टी नहीं ले लेनी चाहिए, वरन अपनी कल्पना द्वारा घटना के सम्भाव्य रूप का अङ्कन प्रस्तुत करना उसका कर्त्तव्य है। रस्किन ने भी कला में नैतिक तत्त्व की उपस्थिति आवश्यक बतायी। यह कला-सम्बन्धी एक दृष्टिकोण हुआ, जिसमें नैतिक उद्देश्य के अभाव में कला निकम्मी मानी गयी।

कला-सम्बन्धी दूसरा दृष्टिकोण यह है कि रचना-विशेष में कलाकार अपने जिस अनुभव को व्यक्त करना चाहता है, केवल उसी की अभिव्यक्ति के लिए वह पूर्णरूप से तन्मय हो; ऐसा न हो कि किसी भी प्रचारात्मक तत्व के समावेश द्वारा पाठक की तल्लीनता में बाधा डाली जाय। इस मत के अनुसार यह मान्य हुआ कि उत्तम कोटि की कला अपने विशुद्ध रूप में उप-

स्थित होने पर नीति की घोषणा न करने पर भी नीति का समर्थन सहज भाव से अपने अन्तर में निहित किये रहती है। कला-सम्बन्धी यह धारणा वास्तव में रस-सिद्धान्त की मान्यताओं के समीप पहुँच जाती है।

कला-सम्बन्धी तीसरा दृष्टिकोण यह है कि नीति, सदाचार, जन-कल्याण आदि भावों के प्रगट अथवा अन्तर्निहित किसी प्रकार के समावेश की आवश्यकता कलात्मक रचना को नहीं है। 'कला के लिए कला', अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद आदि में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसकी कुछ चर्चा पहले ही की जा चुकी है, यहाँ अधिक उल्लेख अनावश्यक है।

इन तीनों मतों में से प्रथम और तृतीय के सम्बन्ध में साहित्य-मनीषियों में सदैव मत-भेद रहा है; केवल द्वितीय मत ऐसा है, जिससे संसार के अधिकांश साहित्य-विशारद सहमत हो सकते हैं। ये मत कलात्मक रचना और कलात्मक आलोचना दोनों ही के लिए समान रूप से प्रयोक्तव्य हैं। रचना और आलोचना की भिन्नता स्पष्ट है, फिर यह अभिन्नता कैसी?

रचनाकार और आलोचक में अन्तर

संसार की किसी भी वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थिति को अपने रस-सिक्त मनोभावों द्वारा अनुरंजित बना कर सहृदय मात्र के लिए संवेद्य बनाना रचनाकार का काम है और वह संवेदनीयता अपने सर्वाङ्गसुन्दर, प्रकृत रूप में उपस्थित हो सकी है या नहीं, इसकी परख करना सहृदय का काम है। सहृदय मण्डली में जो विशेष उद्बुद्ध और प्रतिभा-सम्पन्न होता है और अपनी मुग्धता अथवा असंतोष के कारणों की उचित मीमांसा कर सकता है उसी को श्रेष्ठ अथवा कलात्मक समालोचक कहते हैं। इस प्रकार रचनाकार और आलोचक में थोड़ा ही अन्तर रह जाता है और वह यह कि (१) जहाँ रचनाकार सम्पूर्ण जगत् में से अपने कार्य के लिए सामग्री ढूँढ़ सकता है, वहाँ आलोचक का कार्य रचनाकार-विशेष की रचना ही तक सीमित रह जाता है; (२) जहाँ रचनाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह बहुत बड़ा पण्डित भी हो, पुस्तकाध्ययन में पारंगत हो, वहाँ आलोचक के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि वह संसार के अधिक से अधिक कवियों के काव्य से परिचित हो तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान भी उसने प्रचुर मात्रा में अर्जित किया हो। सामान्यतः कलात्मक रचना के लिए (१) कल्पना; (२) अनुभूति और (३) निस्संगतामयी तन्मयता की

आवश्यकता होती है और इनके बिना कलात्मक आलोचना भी खड़ी नहीं हो सकती।

रचनाकार की कल्पना और कलात्मक आलोचक की कल्पना में भी थोड़ी सी भिन्नता होती है। वाल्मीकि के लक्ष्मण तुलसीदास के लक्ष्मण नहीं हैं और तुलसीदास के लक्ष्मण बाबू मैथिलीशरण गुप्त के लक्ष्मण नहीं हैं; सौन्दर्य-सृष्टि की लक्ष्य-सिद्धि के लिए कवि को लक्ष्मण के रूप में थोड़ी-बहुत ऐसी भिन्नता उपस्थित करने का अधिकार है जो देश-काल की दृष्टि से अस्वाभाविक न प्रतीत हो। आलोच्य कवि के काव्य का अध्ययन करते समय आलोचक को कवि और काव्य के सम्बन्ध-निदर्शनार्थ कल्पना-शक्ति का आवश्यक सहयोग लेने का अधिकार है; किन्तु एक प्रदेश ऐसा भी है जहाँ आलोचक को कल्पना-शक्ति से काम लेने की स्वतन्त्रता नहीं है। आलोच्य कवि का जिस देश में, जिस काल में, जिन परिस्थितियों में जन्म, पोषण और जीवन-यापन आदि हुआ उनके सम्बन्ध में कलात्मक आलोचक को भी विज्ञान के नियमों के अनुसार ही कार्य करना पड़ेगा।

रचनाकार और कलात्मक आलोचन की कल्पना में भिन्नता

अद्वैत, तादात्म्यपूर्ण भाव की उत्पत्ति और विकास द्वारा आनन्द में निमग्न करना ही काव्य का लक्ष्य है। कवि के हृदय में आनन्द की जितनी ही स्पष्ट अनुभूति हुई रहती है, संवेदनीयता के सूत्र से उतनी ही मुग्धकरी अनुभूति सहृदय के हृदय में भी होनी चाहिए। कवि की अनुभूति देश-काल की दृष्टि से सम्यक् कल्याणमयी होगी, उसमें आनन्द की सिद्धावस्था और साधनावस्था, दोनों ही का समन्वय व्यक्त हुआ होगा तो आत्मपरक और लोकपरक दोनों ही प्रकार के सहृदयों के लिए वह द्रवितकारिणी होगी, किन्तु यदि उसमें कोई कसर होगी तो सहृदय की अपेक्षित तल्लीनता में बाधा पड़ेगी। इस बात को ध्यान में रख कर यह कहा जा सकता है कि व्याख्यात्मक समालोचना समस्त परिस्थितियों में कलात्मक समालोचना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकेगी; सहृदय की स्वाभाविक विरक्ति को व्यक्त करने से इनकार करते ही वह अपने अभीष्ट पद से च्युत हो जायगी और मूर्च्छित कलात्मक समालोचना में तब तक संज्ञा का संचार नहीं हो सकेगा जब तक व्याख्या-समन्वित निर्णयात्मक समालोचना अपने शीतल, रचनात्मक संस्पर्श द्वारा उसे असत्य के स्थान में सत्य को पुनः प्रतिष्ठापित करने का आश्वासन नहीं दे देगी।

कलात्मक समालोचना में निस्संगता भी यथेष्ट मात्रा में होनी चाहिए। यह निस्संगता (१) आलोच्य कवि के निर्वाचन में अपनी किसी दुर्बलता—राग-द्वेष आदि—द्वारा अप्रभावित होने के रूप में तथा (२) आलोचन-प्रक्रिया के सद्भावपूर्ण सुनिर्वाह के रूप में व्यक्त होती है। यह सब से प्रधान कसौटी है, जिस पर कलात्मक समालोचक को खरा उतरना ही पड़ेगा।

अब हमें यह विचार करना चाहिए कि शुक्ल जी की आलोचना, में कल्पना, अनुभूति तथा निस्संगता—ये तीनों ही तत्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं या नहीं।

कल्पना में जितने अंशों तक विज्ञान के सहयोग की आवश्यकता है, उतने अंशों तक शुक्ल जी ने अपनी आलोचना में उसे प्रस्तुत किया है, इसे हम सहज ही देख सकते हैं। उन्होंने सूर, जायसी तथा तुलसीदास के काव्य का अध्ययन करते समय जितनी भी ऐतिहासिक परिस्थितियों की जानकारी आवश्यक हो सकती है उसे उपस्थित किया और जहाँ संदेह था वहाँ विज्ञान-सम्मत ढङ्ग से ऊहापोह किया। तुलसीदास के अन्तर्साक्ष्य के आधार पर जिन तर्कों द्वारा राजापुर को ही उनकी जन्मभूमि होना शुक्ल जी ने प्रमाणित किया है, वे उसके पक्ष अथवा विपक्ष में उपस्थित अन्य विद्वानों के तर्कों से अधिक सबल हैं। कलात्मक आलोचक की रचनात्मक कल्पना उनमें वहाँ देखी जाती है जहाँ सूर, जायसी और तुलसी की कृतियों से उनके जीवन को सम्बन्धित करके देखने की उन्होंने चेष्टा की है।

शुक्ल जी की सहृदयता ने जहाँ सूर में मार्मिकता पायी वहाँ मुक्त कंठ से उनकी सराहना की, किन्तु जहाँ उनके काव्य की विशेषताएँ मर्यादित न रहकर अतिशयता की ओर उन्मुख दीख पड़ीं वहाँ उन्होंने आनन्द-निमग्नता में बाधा का अनुभव किया और उसे व्यक्त करना भी अपना कर्त्तव्य समझा। शुक्ल जी ने जहाँ कहीं व्यंग और कटाक्ष किये हैं, उनका अभिप्राय राग-द्वेषात्मक मनोभावों को तृप्त करना नहीं रहा है; वहाँ यही समझना चाहिए कि उनके अत्यन्त सुरुचि-सम्पन्न, सुलझे हुए व्यक्तित्व को सच्चा रस, सच्चा आनन्द मिलने में कोई विघ्न पड़ा है। हममें से अनेक साहित्यानुरागी शाश्वत, समाधिस्थ सत्य एवं उसे व्यक्त करने वाली निष्क्रिय, आत्मपरक कला के उपासक हैं; अनेक ऐसे हैं जो युगानुरूप, पवित्र क्रोध और पावन करुणा से अस्थिर कर्म-सौन्दर्य-विशिष्ट लोकपरक कला के प्रेमी हैं; अनेक ऐसे भी हैं जो दोनों के समन्वय में पूर्ण सत्य और पूर्ण कला का दर्शन

शुक्ल जी गुणग्राही

करना चाहते हैं—इनमें से चाहे जिस विचार-धारा के हम अनुयायी हों, इतना तो हमें स्वीकार करना चाहिए कि विशुद्ध रस, प्रकृत आनन्द और मार्मिक अनुभूति से प्रभावित होकर मुक्त कंठ से काव्य-सौन्दर्य की सराहना करनेवाले, साथ ही निस्संकोच सरलता के साथ अपनी अतृप्ति को भी इंगित कर देनेवाले शुक्ल जी एक ऐसे साहित्य-सेवी थे जो अपने कार्यकाल में सर्वथा अतुलनीय थे।

शुक्ल जी के व्यंगों और कटाक्षों को सामने उपस्थित करके यह कहना ठीक नहीं है कि उनमें आवश्यक निस्संगता का अभाव था; ये साहित्यिक और साधारणीकृत प्रहार एक प्रकार की साहित्यिक चटनी या चाशनी के रूप में उपस्थित हुए हैं, आलोचक के प्रस्तुत विषय को मनोरंजक बनाते हुए उसमें एक विशेष स्थान ग्रहण करते हैं। जिनके विरुद्ध वे प्रहार हैं, उनके प्रति हमारी सहानुभूति हो सकती है; किन्तु शुक्ल जी के साथ हम जिस अध्ययन-यात्रा पर चलते हैं, उसमें वे पाथेय ही का काम देते हैं, विशेष कर इस कारण कि वे किसी व्यक्ति का स्वरूप हमारे सामने खड़ा नहीं करते।

शुक्ल जी की निस्संगता

शुक्ल जी की निस्संगता की खोज हो तो उसे वहाँ देखिए जहाँ अला-उद्दीन की स्पष्ट निंदा न कर सकने के लिए जायसी की कड़ी आलोचना न करके उन्होंने अत्यन्त सौम्यता के साथ प्रसंग-निर्वाह किया है। वे सगुणोपासना के प्रचारक कहे जाते हैं और उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की दार्शनिक पृष्ठभूमि में सगुणोपासना के उचित महत्व को उद्घाटित करने की प्रवृत्ति एक स्थान अवश्य रखती है; किन्तु ऐसा होने पर भी सगुणोपासक सूरदास के विरोध में उन्हें जो कुछ कहना था उसे कहा ही। ब्रजभाषा के प्रति, दुर्बलता की सीमा को पहुँची हुई, प्रीति का अनुभव करते रहकर भी उन्होंने सूरदास की प्राञ्जल भाषा और सरस भाव-लहरी की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान देकर जायसी की ग्रामीण अवधी और सरल भाव-प्रवाह की ओर अधिक दिया। रवीन्द्र बाबू की काव्य-शैली के प्रशंसक न होने पर भी उन्होंने उनके काव्य की महत्ता का अनुभव किया और उनके प्रति श्रद्धांजलि‡ अर्पित की।

‡"धन्य, धन्य, हे ध्वनि के धनी कवीन्द्र!
भाव-लोक के ठाकुर, उदित रवीन्द्र!
सारे भेदों के अभेद को खोल
लिया जगत का तुमने मर्म टटोल।"

कलात्मक आलोचना के ये सब आवश्यक गुण तो शुक्ल जी में थे ही, उन्हें विशिष्टता प्रदान करने वाली एक अन्य योग्यता भी उनमें थी—वे आलोचक होने के साथ-साथ रचनाकार भी थे। कला-

शुक्ल जी का रचनाकार होना दोष नहीं गुण

त्मक आलोचक होने के लिए रचनाकार होना कितना आवश्यक है, इसे श्री स्काट जेम्स के शब्दों में सुनिए। वे 'मेकिंग लिटरेचर' नामक अपनी पुस्तक के पृ० २५६, २६० पर लिखते हैं :—

"तब क्या हम यह समझें कि आलोचक भी एक कलाकार है। निश्चित रूप से इसका उत्तर है—हाँ। × × × ऐसे व्यक्ति को यथेष्ट मात्रा में साहित्यक कलाकार के गुणों से युक्त होना चाहिए। अन्यथा वह जिन कलात्मक रचनाओं का अध्ययन करेगा उन्हें न तो समझ सकेगा और न उनके सम्बन्ध में अपनी धारणाओं तथा अपने निर्णयों को औरों तक पहुँचा सकेगा।

× × × ×

"कलाकार की अनुभूति अथवा संवेदना से आलोचक को भी परिचित होना चाहिए। रचनाकार जो निर्माण कर सका है, आलोचक में उसके पुनर्निर्माण का सामर्थ्य होना चाहिए और जब तक कल्पना और सृजन भी इस पुनर्निर्माण में सम्मिलित नहीं होते तब तक यह पुनर्निर्माण नहीं कहा जायगा, यह मूल से कुछ हीन अथवा उससे भिन्न कोई वस्तु होगी और जिस हद तक ऐसा होगा उस हद तक समालोचना की उत्कृष्टता का ह्रास होगा।"

---

†"Are then we to say that the critic is himself an artist ? Surely the answer is yes × × × Such a man must have the qualities of a literary artist in a high degree, otherwise he will neither understand the works of art which he studies, nor be able to communicate to others his own impressions and conclusiouns about them."

× × × ×

"What the artist feels or is aware of the critic must also be aware of; what the one has been able to construct, the other must be able to reconstruct and unless imagination and creation enter into the reconstruction, it will not be a reconstruction—it will be something less than the original or different, and to that extent the criticism will be inefficient"—Scott James."

शुक्ल जी की कलात्मक आलोचना के ये ही उपकरण हैं, जिन्होंने उन्हें आधुनिक हिंदी साहित्य के विवेचकों की मण्डली में अग्रगण्य स्थान दे दिया है और जो उन्हें सहृदय-समाज में चिरस्मरणीय बनाये रहेंगे।

कलात्मक आलोचना के साथ-साथ कभी-कभी वैज्ञानिक आलोचना की चर्चा भी सहृदय-समाज में होती है। यह वैज्ञानिक आलोचना क्या है?

वैज्ञानिक आलोचना

यह कहा जा चुका है कि साहित्यिक आलोचना का भी एक वैज्ञानिक पार्श्व अवश्य ही रहता है। जो समीक्षाकार रचनाकार न होने के कारण कलात्मक समीक्षाकार होने के लिए आवश्यक सृजनात्मक कल्पना से रहित हैं, उनके सामने आलोचना के उक्त वैज्ञानिक पार्श्व ही को विकसित करने का एक मात्र मार्ग रह जाता है। अपनी रचनात्मक न्यूनता की पूर्त्ति वे वैज्ञानिकता के गुणों द्वारा कर सकते हैं; उदाहरण के लिए व्यावहारिक समीक्षाओं में अधिकाधिक मात्रा में सिद्धान्तों का अनुगमन करें, निस्संगता की अधिक सतर्कता के साथ खोज करें तथा अपने निष्कर्षों में अधिक सावधान हों। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कोटि का कलात्मक समालोचक होना जिनके लिए सम्भव नहीं है, उन्हें वैज्ञानिक समालोचक के आदरणीय पद को ही प्राप्त करने की उच्चाकांक्षा से प्रेरित होना चाहिए। स्पष्टतः कलात्मक समालोचना वैज्ञानिक समा-लोचना की अपेक्षा अधिक मूल्यवान्, अधिक गौरवमयी और अधिक मात्रा में साहित्यिक शक्ति-सम्पन्न होती है।

अध्याय ३७

शुक्ल जी की शैली

शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के रचनात्मक और विवेचनात्मक दोनों ही पार्श्वों की एक सामान्य झाँकी यहाँ प्रस्तुत की जा चुकी। वह व्यक्तित्व किन साधनों को लेकर भाषा के रूप में व्यक्त हुआ है, अब हमें यही देखना है।

वृक्ष की पहचान उसकी जड़ से तो होती ही है, उसके फूल, फल, पत्तों से भी होती है। इसी प्रकार लेखक के भावों से तो हम उसकी विशेषता का ज्ञान करते ही हैं, साथ ही उसके प्रयोग में बारम्बार आने वाले शब्दों, शब्द-समूहों, वाक्यों आदि की सहायता से भी उसे समझते हैं। इन्हीं शब्दों, शब्द-समूहों, वाक्यों आदि की समष्टि के व्यवहार से शैली का निर्माण होता है।

शैली का स्वरूप

जैसे लेखक का व्यक्तित्व निरन्तर गतिशील है, वैसे ही उसकी शैली भी परिवर्त्तनशील है। कभी कभी तो एक ही दिन में लेखक भिन्न-भिन्न शैलियों में लिखता है। ऐसा भी हो सकता है कि एक लम्बी अवधि तक कुछ विशेष शैलियों का प्रभाव हो तथा उसके बाद अन्य शैलियों का विकास हो जाय।

प्रारम्भिक काव्य कालीन तीन शैलियाँ

शुक्ल जी के साहित्यिक जीवन में हमें यही बात दिखायी पड़ती है। प्रारम्भ में, जब उनमें रचना-प्रवृत्ति विशेष मात्रा में प्रभाव-शालिनी थी, उनमें (१) रागात्मक, (२) रूपात्मक और (३) संश्लिष्ट शैली ही की प्रधानता थी। इसे हम उनकी शैली का प्रथम अध्याय मान सकते हैं। उनके काव्य-प्रयत्नों में, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है, पाठक उक्त तीनों शैलियों के उदाहरण प्राप्त करेंगे।

कालान्तर में शुक्ल जी की काव्य-प्रवृत्ति शिथिल हुई और रचनात्मक निबन्धों ने जोर पकड़ा। इन निबन्धों में ये शैलियाँ और भी निखरीं। निम्नलिखित अवतरणों में क्रमशः इनके उदाहरण मिलेंगे।

१. "कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं; बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँव म्याँव कर के माँगती है या

चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेव जी (पीपल का पेड़) कभी कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं × × ।—[चिंतामणि भाग १

२. "विशुद्ध सुख की अनुभूति होने पर हम बहुत करेंगे—दाँत निकाल कर हंसेंगे, कूदेंगे या सुख पहुँचाने वाली वस्तु से लगे रहेंगे; इसी प्रकार शुद्ध दुःख में हम बहुत करेंगे—हाथ पैर पटकेंगे, चिल्लाएँगे या दुःख पहुँचाने वाली वस्तु से हटेंगे।"

३. "अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पंखड़ियों और झुके हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्ति मन में थोड़ी देर के लिए आ जाय या कुछ देर बनी रहे।"

उक्त शैलियों के अतिरिक्त रचनात्मक निबन्धों में कुछ अन्य शैलियों का भी विकास हुआ। ये हैं—(१) भावात्मक; (२) चिंतनात्मक; (३) उद्बोधनात्मक; (४) व्याख्यात्मक; (५) आलंकारिक; (६) विनोदात्मक; (७) व्यंगात्मक; (८) निर्णयात्मक।

रचनात्मक निबंधकालीन शैलियाँ

पाठक देख चुके हैं कि शुक्ल जी अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ काल से ही लोकसंग्रहात्मक भावों से प्रभावित रहे हैं। अतः इन समस्त शैलियों में उनके लोकसेवा-विशिष्ट कलाकार के व्यक्तित्व का दर्शन ही मिलता है। इनमें से सात शैलियों का प्रयोग तो रचनात्मक निबंधों में प्रचुर मात्रा में मिलता है, किन्तु निर्णयात्मक शैली का विकास शैशवावस्था ही में दिखायी पड़ता है; यह शैली आलोचनात्मक निबन्धों ही में अन्य शैलियों के समकक्ष पहुँचती है। अतः रचनात्मक निबन्धों तक शुक्ल जी की शैली के विकास में द्वितीय अध्याय मानना चाहिए।

शुक्ल जी के शैली-विकास में तृतीय अध्याय तब आरम्भ होता है जब उनकी कला में रचनात्मक प्रवृत्ति का अधिक ह्रास हो जाता है और उनके रचनात्मक निबंधों की गौण विचारात्मकता प्रधान स्थान ग्रहण करके उन्हें विचारात्मक निबंधों और व्यावहारिक समीक्षाओं के बढ़ते हुए बल के सामने नत हो जाने के लिए बाध्य कर देती है। लघु और विशाल दोनों ही प्रकार के आकार वाले इन आलोचनात्मक निबन्धों में निर्णयात्मक शैली का पूर्ण विकास दिखायी पड़ता है, साथ ही अन्य समस्त शैलियाँ भी निरन्तर लगी चलती हैं।

शुक्ल जी अत्यन्त भावुक और चिन्तनशील व्यक्ति थे। जीवन और

साहित्य में लोक-संग्रहात्मक भावों के प्रचारक होकर भी वे आत्म-मग्न रहने वाले प्राणी थे। उनकी (१) भावात्मक और (२) चिन्तनात्मक शैलियों में उनकी भावुकता और चिन्तनशीलता स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

भावात्मक और चिंतनात्मक शैली

(१) "पर्वतों की कंदरी—कन्दराओं में, प्रभात के प्रफुल्ल पद्मजाल में, छिटकी चाँदनी में, खिली कुमुदिनी में, हमारी आँखें कालिदास, भवभूति की आँखों से जा मिलती हैं। पलाश, इंगुदी, अङ्कोट वनों में अब भी खड़े हैं, सरोवरों में कमल अब भी खिलते हैं, तालाबों में कुमुदिनी अब भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर-शाखाएँ अब भी झुक झुककर तीर का नीर चूमती हैं; पर हमारी आँखें उनकी ओर भूलकर नहीं जातीं।"

(२) "सारा वाह्य जगत भगवान का व्यक्त स्वरूप है; समष्टि रूप में वह नित्य है, अतः 'सत्' है; अत्यन्त रंजनकारी है, अतः आनन्द है। अतः इस 'सदानन्द-स्वरूप' का वह प्रत्यक्ष अंश जो मनुष्य को रक्षा में (बना रहने देना अर्थात् सत् को चरितार्थ करने में) और रंजन में (सुख और मंगल का विधान करने में) अपार शक्ति के साथ प्रवृत्त दिखायी पड़ा, वही उपासना के लिए, हृदय लगाने के लिए लिया गया।"

उक्त दोनों अवतरणों में क्रमशः भावुकता और चिंतनशीलता के साथ-साथ लोकसंग्रह का भाव भी है। 'हमारी आँखें उनकी ओर भूलकर भी नहीं जातीं'—यह वाक्य पाठक के किसी भाव को उत्तेजित अथवा उद्बोधित भी करता है। यह उद्बोधनात्मक शैली क्रमशः बहुत विकसित हुई। शुक्ल जी बड़े स्वतंत्र-चेता तथा राष्ट्रीय गौरव-भावना से प्रेरित व्यक्ति थे। वे आधुनिक जीवन और साहित्य में अपने देशवासियों तथा हिन्दी के साहित्यकारों को अपने व्यक्तित्व की सम्पन्नता का विस्तार करते देखना चाहते थे; इसीलिए वे बारम्बार, अवसर मिलने पर, उन्हें सावधान करने से बाज नहीं आते थे। इस शैली की प्रभावशीलता का रहस्य यह है कि कहीं यह विनोदात्मक हो गयी है, कहीं व्यंगात्मक और निर्णयात्मक। यह शैली हाथ पाँव फैलाने की इतनी अधिक प्रवृत्ति रखती है कि भावात्मक और चिंतनात्मक शैलियों को भी नितान्त अछूता नहीं छोड़ती। इसके कतिपय उदाहरण अवलोकनीय हैं :—

उद्बोधनात्मक शैली

(१) "कला-कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या, कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।"

(२) "ऐसे लोगों को शब्दों का प्रयोग करते समय शास्त्र-पक्ष का कुछ पता रखना या लगा लेना चाहिए।"

(३) "हिन्दी वालों के बीच यह भ्रान्ति फैलाना कि सारे योरप में इसी प्रकार की कविता हो रही है, यही वर्त्तमान युग की कविता का स्वरूप है, घोर साहित्यिक अपराध है।"

(४) "योरप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे, यह आवश्यक नहीं कि हम हर एक कदम उसी के पीछे-पीछे रखें।"

(५) "स्टेशन के प्लैटफ़ार्म पर चुम्बन—आलिंगन चाहे योरप की सभ्यता के भीतर हो, पर हमारी दृष्टि में जंगलीपन या पशुत्व है।"

उक्त अवतरणों में जो कुछ भी कहा गया है उसमें हमारे सुप्त राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक भावों को उत्तेजित करने की शक्ति है।

विनोदात्मक और व्यंगात्मक शैलियाँ

शुक्ल जी की विनोदात्मक शैली वहाँ अग्रसर हुई है, जहाँ केवल असंगति का भाव व्यक्त करना उन्हें अभीष्ट रहा है; किन्तु जहाँ अरुचि, अतृप्ति अथवा क्षोभ का भाव प्रगट करना उनका उद्देश्य रहा है वहाँ उन्होंने व्यंगात्मक शैली का उपयोग किया है। निम्नलिखित अवतरणों में से प्रथम और द्वितीय विनोदात्मक शैली के तथा तृतीय और चतुर्थ व्यंगात्मक शैली के उदाहरण हैं :—

(१) "आजकल तो स्त्री कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूछ के रूप में देखना चाहिए।"

(२) "किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्तकाल में गुलाबी और फीरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड़-फानूस लाये जायँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिये जायँगे और उन पर करतल-ध्वनि होगी, बात-बात में 'धन्यवाद', 'सहानुभूति' ऐसे शब्द तथा 'सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना' ऐसे फिकरे पाये जायँगे तो काफी हँसने वाले और नाक भौं सिकोड़ने वाले मिलेंगे।"

(३) "आध्यात्मिकता जगी, मशीनों का विरोध शुरू हुआ, मनुष्य मात्र के साथ भ्रातृभाव उमड़ा और अक्ल पर चढ़ाई बोल दी गई।"

(४) "बेचारे नवीनतावादी अभी कलाबाजी कर रहे हैं, उन्हें विलायती

समीक्षा-क्षेत्र के उड़ते हुए लटकों की उद्धरणी और योरप के ग्रंथकारों की नाममाला जपने से फुरसत नहीं।"

अब हमें शुक्ल जी की आलंकारिक, व्याख्यात्मक तथा निर्णयात्मक शैलियों पर विचार करना है। पाठक देख चुके हैं कि शुक्ल जी काव्य में अलंकारों का बहुत अधिक जगह घेर लेना पसन्द नहीं करते थे; सूरदास और केशवदास की उन्होंने यथावसर इस आधार पर आलोचना की है। किन्तु भाव को तीव्र करने के लिए अलंकारों की उपयोगिता को वे मानते थे और स्वाभाविक रूप से उनका उपयोग करते थे।

व्यावहारिक समीक्षाओं की शैलियाँ

व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक शैलियों का व्यवहार शुक्ल जी के रचनात्मक निबन्धों और आलोचनात्मक प्रबन्धों में दिखायी पड़ता है। व्याख्यात्मक समालोचना की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है—"व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रंथ में आयी हुई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रख कर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है।" निर्णयात्मक समालोचना को उन्होंने "किसी रचना के गुण-दोष निरूपित करने, उसका मूल्य निर्धारित करने वाली" बताया है। अपनी आलोचनात्मक कृतियों में उन्होंने इन दोनों शैलियों का समन्वय किया है और इसी से उसमें अतुलनीय शक्ति का संचार हुआ है। केवल निर्णयात्मक समालोचना, जो बिना नकेल के ऊँटनी की तरह मनमानी चलती है, उन्हें पसन्द नहीं थी।

इन तीनों शैलियों के दो दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) "क्या हिन्दी के वर्त्तमान साहित्य क्षेत्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बिलकुल टूट गया है? क्या शब्दों की गर्द-भरी आँधी विलायत के कलाक्षेत्र से धीरे धीरे हटती हुई अब हिन्दी वालों का आँख खोलना मुश्किल करेगी?"

(२) "हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं। कभी कभी केवल वचन ही से काम निकल जाता है।"

(३) "युद्धवीर में विजेतव्य जो आलम्बन कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है और वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है।"

(४) "अपनी त्रुटि, बेढंगेपन, धृष्टता इत्यादि का परिचय दूसरों को—विशेषतः पुरुषों को—न मिले, इसका ध्यान स्त्रियों में बहुत अधिक और स्वाभाविक होता है, इसी से उनमें लज्जा अधिक देखी जाती है। × × × लोग लज्जा को स्त्रियों

का भूषण कह कह कर उनमें धृष्टता के दूषण से बचने का ध्यान और भी पक्का करते है।"

(५) "श्याम के 'छबीले मुख' का प्रसंग आया। बस, अन्धे सूरदास चारों ओर उपमा टटोल रहे हैं। × × उपमाएँ यदि मिलती गयीं तो सब ठीक ही ठीक, एक वस्तु के ऊपर उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा लादते चले जा रहे हैं।"

(६) "केशवदास जी को अपने श्लेष, यमक और उत्प्रेक्षा इत्यादि से फ़ुरसत कहाँ कि विस्तृत सम्बन्ध-योजना के साथ प्रकृति का निरीक्षण करने जायँ। सीधी तरह से कुछ वस्तुओं के नाम ले जायँ, यही गनीमत है।"

भाषा में शब्द और अर्थ का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध बनाये रखने का शुक्ल जी का बड़ा आग्रह रहा है। इसी से उन्होंने 'आध्यात्मिक', 'कला' आदि शब्दों के प्रयोग में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता बतायी। अँगरेजी के बहुत से शब्दों के ठेठ अनुवाद को भी उन्होंने नापसन्द किया। 'Soft corner' के लिए 'ललित कोना', 'Interest' के लिए 'स्वार्थ', 'Allowing grass to grow under feet' के लिए 'पैरों तले घास उगने देना', 'Innocent breath' के लिए 'विचारों में बच्चों की साँस', 'Golden morning' के लिए 'कनक प्रभात,' Last milestone' के लिए 'अन्तिम पाहन' 'Thought' के लिए 'भाव' और 'Feeling' के लिए विचार आदि पदों का प्रयोग उन्हें नहीं रुचा। जो लोग अँगरेजी न जान कर भी 'क्लासिकल' 'रोमांटिक' आदि शब्दों का तत्सम रूप में प्रयोग करते पाये गये वे सब तो शुक्ल जी की खीझ के नहीं, मनोविनोद ही के पात्र हुए। इससे यह तो समझ ही लेना चाहिए कि शुक्ल जी अपनी भाषा में जिन शब्दों का प्रयोग करते थे, उनके प्रकृत स्वरूप और निर्धारित अर्थ के सम्बन्ध में बहुत सतर्क रहते थे।

शुक्ल जी की सावधान पारखी

शुक्ल जी ने अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार नहीं किया। "जहाँ कुछ विनोदपूर्ण व्यंग्य अभिप्रेत होता है" वहीं नहीं, गंभीर स्थलों में भी तथा केवल इतिहास ही में नहीं, अन्य स्थलों में भी शुक्ल जी ने उर्दू पदों का प्रयोग किया है। 'नकल', 'धोखेबाजी', 'जमाना', 'जिक्र', मुश्किल', 'बेजा हरकत' आदि ऐसे ही शब्द हैं।

प्रचलित उर्दू शब्दों के पक्ष में

हमें स्मरण रखना चाहिए कि शुक्ल जी की शैली की शक्तिशालिता का

एक बड़ा कारण यह भी है कि सन्देह में मग्न रह कर भी लिखने की रस्म-अदाई के लिए वे लेखनी नहीं उठाते थे; उनके सुलझे हुए मस्तिष्क के सुलझे हुए विचार तथा रस-सिक्त हृदय के निर्मल रागात्मक भाव स्वच्छ व्याकरण-शुद्ध एवं सहज आलंकारिकता-सम्पन्न भाषा में व्यक्त हुए, हैं, जिनकी हृदय-ग्राहिता इस कोटि की है कि दूर से सुन कर ही हमें शुक्ल जी की रचना अथवा आलोचना होने का निश्चय हो जाता है। उत्कृष्ट और सफल शैली का सबसे विशिष्ट लक्षण यही है।

अध्याय ३८

शुक्ल जी के समीक्षा-साहित्य का संदेश

शुक्ल जी के सम्बन्ध में यहाँ जो कुछ लिखा गया है, उससे यह तो स्पष्ट है कि उनका सम्पूर्ण जीवन साहित्य-सेवियों को उचित मार्ग दिखाने की चिन्ता में बीता। अनुवादक के रूप में, कोशकार के रूप में, समीक्षक के रूप में तथा रचनाकार के रूप में भी कार्य कर के उन्होंने हिन्दी साहित्य की समृद्धि की। मैंने उनके रचनाकार और समीक्षाकार रूप पर विशेष ध्यान दिया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके अनुवाद* नगण्य हैं अथवा उनका कोश*--सम्बन्धी कार्य कम महत्व का है। विद्वानों ने उनकी यथेष्ट प्रशंशा

शुक्ल जी का सन्देश

---

* शुक्ल जी की निम्नलिखित अनुवादित कृतियाँ उल्लेख-योग्य हैं :—

मूल	अनुवाद
Philorophy of human mind (Dr. Brown)	प्रगति वा उन्नति, उसका नियम और निदान
Riddle of the universe	विश्व प्रपंच
Plain living and high Thinking	आदर्श जीवन
Essay on imagination	कल्पना का आनन्द
Megasthenes Iin ndia	मैगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन
Minor hints (Raja Sir T, Madhav Rao	राज्य प्रबन्ध शिक्षा

(१) फारस का प्राचीन इतिहास, (२) प्राचीन भारतवासियों की समुद्र यात्रा, (३) भारत के इतिहास में हूण, (४) बुद्धकोष, (५) प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा तथा अन्य विविध लेख।

*स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अन्यान्य विषयों और विद्याओं की भाँति कोश-कला के भी परम प्रवीण पंडित थे। यदि वे चाहते तो उसे (शब्द-सागर को) बहुत कुछ निर्दोष कर सकते थे। पर वे थे बहुत सुखजीवी और परिश्रम के कार्यों तथा झगड़े-बखेड़ों से दूर रहने वाले। • • • जब शुक्ल जी का स्वर्गवास हो गया, तब मेरी आँखें खुलीं। जिस समय मैं शोकमग्न होकर उनके शव के साथ श्मशान की ओर जा रहा था, उस समय मुझे ध्यान आया कि शुक्ल जी कोशकला के ज्ञान का कितना बड़ा भंडार अपने साथ लिये जा रहे हैं और उस ज्ञान का कितना थोड़ा अंश अभी तक कागज पर आ पाया है। मैंने सोचा कि शुक्ल जी के सत्संग से इस विषय का जो थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका तो मैं कुछ उपयोग कर जाऊँ।

—{ प्रामाणिक हिन्दी कोश की प्रस्तावना में श्रीरामचन्द्र वर्मा

की है। अल्पायु होकर भी, आलस्य के प्रति अनुरागशील होकर भी शुक्ल जी ने अपने समय का जितना सुन्दर उपयोग किया तथा अपने स्वीकृत कार्य को जितनी संलग्नता के साथ किया वह उन्हीं के जैसे दार्शनिक वृत्ति-सम्पन्न व्यक्ति के लिए सम्भव था। आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, किन्तु उनके पास जो कुछ भी मूल्यवान था, उसे वे हमें दे गये हैं। वे हमें मर्यादित विश्वप्रेम, मर्यादित देशप्रेम, मर्यादित साहित्य-प्रेम, मर्यादित कर्म-प्रेम का संदेश दे गये हैं। उन्होंने हमें समाधि-सुख की कामना करने से मना नहीं किया है, किन्तु पवित्र क्रोध और पावन करुणा का महत्व समझने के लिए इसलिए आग्रह किया है कि सहस्रों वर्षों की पराधीनता-जन्य मंदता ने हमें स्वार्थ-मग्न, संकीर्ण बना दिया है और हमें अपने लिए नहीं, औरों की रक्षा के लिए क्रोध-सौन्दर्य को अनुभव करने और आँसुओं में आँखों को भिगोकर उन्हें धन्य बनाने का व्यायाम करना चाहिए। शुक्ल जी ने बारम्बार कहा है कि हम मौलिकता की ओर ध्यान दें, विलायत का जूठन चाटते रहने की आदत छोड़ें, अपने देश की परम्परा और संस्कृति के अनुरूप ऐसे साहित्य का निर्माण करें, जो थोड़े से लोगों की विलासिता-तृप्ति ही तक सीमित न रह जाय, वरन जिसमें सम्पूर्ण देश के नर-नारियों का जीवन भी झंकृत हो उठे। देश की सीमा जिन्हें छोटी जान पड़ती हो वे विश्वमात्र के कल्याण-साधक बनें, किन्तु किसी 'वाद' के अधीनस्थ होकर नहीं, विशुद्ध काव्योपासना के उद्देश्य से। लोकसंग्रह के आदर्श ने योरप के काव्य में उस रूप में सम्मानित स्थान नहीं पाया जिस रूप में सहस्रों वर्षों से वह भारतवर्ष में पाता आ रहा है। वहाँ कुछ कवियों ने स्वाभाविक प्रेरणावश लोकसंग्रह के भावों को भले ही समाविष्ट कर लिया हो, किन्तु वहाँ के प्रचलित काव्य-सिद्धान्तों में से किसी में भी उन्हें वैसा स्थान नहीं दिया गया, जैसा हमारे यहाँ रस-सिद्धान्त में उन्हें सहज ही उपलब्ध हुआ। शुक्ल जी ने रस-मीमांसा में रस-सिद्धान्त का विवेचन किया है और अवश्य ही वे हम पर यह उत्तरदायित्व छोड़ गये हैं कि युग की आवश्यकताओं के अनुरूप हम उसे पल्लवित और पुष्पित करें। साहित्यिक दृष्टि से देश की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए चिंतित रहने वाले शुक्ल जी ने यदि यह स्वप्न देखा था कि रस-सिद्धान्त का विश्वव्यापी प्रचार हो तो हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि अपनी शक्ति भर स्वार्थ-भार से आक्रान्त, अपनी अल्पप्राण वासनाओं की पीड़ा से व्याकुल विश्व को, दूसरों के दुखों के लिए बहने वाले आँसू और प्रज्वलित क्रोध की अपूर्व सुषमा पर आधारित, भारत की इस

देन को विश्व भर की सम्पत्ति बना दें। जितने विशाल क्षेत्र में हिन्दी साहित्य का अध्ययन-अध्यापन वर्त्तमान समय में हो रहा है, उसे देखते हुए यह कार्य कठिन नहीं है। शुक्ल जी का स्मारक खड़ा करने के अभिप्राय से नहीं—क्योंकि वे तो अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा ही अमर हो गये हैं—हम पर उनका जो अपार ऋण है, उसके परिशोध के लिए यह नितान्त आवश्यक है।

शुक्ल जी की महत्ता का एक बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने जिस रूप में हिन्दी साहित्य को पाया उससे कई गुना पुष्ट और सुसंगठित बना कर हमें दिया। कर्त्तव्य-क्षेत्र की दृष्टि से वे आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के उत्तराधिकारी थे और यदि द्विवेदी जी ने साहित्यिक हिन्दी भाषा का ठीक संस्कार करके उच्चकोटि के तथा सजीव साहित्य-निर्माण का पथ परिष्कृत किया तो शुक्ल जी ने भाषा-संस्कार के साथ औरों के बल पर खड़े होनेवाले हिन्दी साहित्य को स्वावलम्बी बनाया और उसमें उस सामर्थ्य का संचार किया जिससे विश्वसाहित्य को भी कुछ दे सकने का आत्मविश्वास उसमें जाग्रत हो सके। द्विवेदी जी ने खरी आलोचना का ऊबड़-खाबड़ रास्ता पकड़ा तो शुक्ल जी ने भी भाषा और साहित्य की मर्यादा को लाँघनेवाले लोगों का कठोर अनुशासन किया। द्विवेदी जी की तुलना परशुराम और द्रोणाचार्य से करना बहुत सार्थक है; ब्राह्मण होकर भी उन्होंने निस्संदेह क्षात्र धर्म का पालन किया। किन्तु अधिक अच्छा हो यदि शुक्ल जी के सम्बन्ध में भी हम यही बात कहें; क्योंकि शुक्ल जी ने भी आदर्श, त्यागी ब्राह्मण का जीवन व्यतीत करते हुए लोकसेवा के उद्देश्य ही से हिन्दी भाषा और साहित्य का समृद्धि-प्रयत्न किया। हमारे समीक्षकों को उदार होकर दोनों ही को उचित सम्मान देना चाहिए।

आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी

मेरे साहित्य-बन्धु श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना है कि शुक्ल जी की समीक्षा में उच्चतम ब्राह्मण दर्शन का अभाव है। ब्राह्मण दर्शन के अभाव से यदि तात्पर्य क्षत्रियोचित लोकसंग्रह की उनकी मान्यता से है, तो इस प्रकार का अभाव होने पर भी शुक्ल जी हमारी दृष्टि में श्रेष्ठ बने रह जाते हैं, क्योंकि परशुराम और द्रोणाचार्य को भी हम श्रेष्ठ ही समझते हैं। मैंने आरम्भ से यहाँ तक जो कुछ कहा है, उसका सारांश यह है कि व्यक्तिगत जीवन में दार्शनिक ब्राह्मण होकर भी साहित्य के क्षेत्र में समीक्षक की हैसियत

शुक्ल जी का क्षत्रिय दर्शन

से कार्य करते समय शुक्ल जी एक आदर्श क्षत्रिय थे, ठीक वैसे ही जैसे आत्मस्थित होकर भी महर्षि वाल्मीकि निषाद-निन्दा के वचन कहते समय, स्वल्प मात्रा ही में सही, क्षत्रिय-भावापन्न थे।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैंने शुक्ल जी के साहित्यिक मतों की एक साधारण व्याख्या कर दी है और उनके प्रति अपनी मान्यता को भी स्पष्ट कर दिया है। मैं लोकसंग्रह में निहित युगसत्य तथा आत्मस्थिति में निहित पूर्ण सत्य को घनिष्ट रूप से अन्योन्य-सम्बन्धित मानता हूँ और मानव के जीवन-सत्य को किसी एक का दास नहीं, वरन गतिशीलता के नियम से बारी-बारी उपस्थित होने वाले दोनों ही के समन्वित रूप का अनुगामी बनाने के पक्ष में हूँ। मैंने यह भी स्वीकार किया है कि राष्ट्रीय समीक्षक के पद पर आसीन होकर शुक्ल जी ने लोकधर्म को, कर्म-प्रेरणा को, उद्बोधन को कुछ अधिक प्रश्रय दिया है, जिसके प्रति हमारी सहानुभूति हो सकती है। इन सब बातों के विचार से मैं यह कभी नहीं कहता कि शुक्ल जी ने जो कुछ कहा है वही हिन्दी-समीक्षा-साहित्य का अन्तिम शब्द मान लिया जाय। नहीं, ऐसा सोचना और ऐसा कहना हिन्दी साहित्य को अन्धकारमय गर्त्त में गिराने का प्रयत्न करना है। अन्य दृष्टियों से, आत्मपरक सहृदयता को प्रमुख बनाकर सूरदास तथा अन्य कवियों का अध्ययन होना चाहिए। खेद यही है कि शुक्ल जी के दिवंगत होने के तेरह वर्षों बाद भी हमारा काव्य-साहित्य, निबन्ध साहित्य और समीक्षा-साहित्य एक कदम भी आगे बढ़ नहीं पाया। संकलन, सम्पादन और सङ्गठन—इन्हीं का बोलबाला है; आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य शुक्ल ने जिस निष्ठा के साथ साहित्य की सेवा की, उसका अभाव होता जा रहा है, यह बड़े परिताप की बात है।

साहित्य-निर्माण में सत्यबोध

त म सो मा ज्यो ति र्ग म य

॥ इति ॥